

हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में
लालित्य-योजना

हजारी प्रसाद द्विवेदी के
साहित्य में
लालित्य-योजना

डॉ० कविता रानी

भावना प्रकाशन, दिल्ली-110092

© डॉ० कविता रानी

प्रकाशक :

भावना प्रकाशन,

पो० बॉ० 9233

पटपटगज, दिल्ली-110092

आवरण : विशन शर्मा

मूल्य : एक तो बालीस रुपये

संस्करण : 1989

मुद्रक :

एस० एन० प्रिंटर्स,

नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

प्राक्कथन

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सभी कलाओं की समीक्षा के लिए एक शास्त्र की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं। उन्होंने प्राकृतिक सौन्दर्य और कलागत सौन्दर्य के लिए लालित्य शब्द को स्वीकार किया। उन्हीं के सिद्धान्त के द्वारा उन्हीं के साहित्य की समीक्षा करके मैंने उस सिद्धान्त को गति देने का प्रयास किया।

शोध-प्रबन्ध का विषय देने के लिए मैं बी०एम०एल०जी० कॉलेज, गाजियाबाद की हिन्दी विभाग की अध्यक्ष डॉ० सुशीला शर्मा की आभारी हूँ। शम्भुदयाल कॉलेज के पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ० अवधेशचन्द्र गुप्त ने पुस्तकों को उपलब्ध करने में जो सहयोग दिया, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। इस कार्य को सम्पन्न कराने के लिए आवश्यक समय प्रदान करके मेरी मा-तुल्य सास श्रीमती सावित्री देवी ने जो सहयोग दिया, उसके बिना तो यह शोध-कार्य सम्पन्न हो ही नहीं सकता था। मेरे श्वशुर महोदय श्री लक्ष्मीकांत शर्मा ने आचार्य द्विवेदी की संस्कृत कविताओं का अनुवाद करके मुझे आशीर्वाद दिया। मेरे पति श्री सुनील कुमार पंचोली के बारे में मैं क्या कहूँ? उन्होंने हर प्रकार का सहयोग प्रदान किया। प्रूफ संशोधन में मेरी अनुजा ममता रानी और अनुजा-तुल्य कु० अन्विता धमदग्नि ने जो सहयोग किया है, वे उसके लिए धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक प्रकाशन में श्री सतीश चन्द्र मिश्र ने जो रुचि दिखाई है, उसके लिए वे निश्चित ही धन्यवाद के पात्र हैं।

3298, रामनगर विस्तार
मडोली मार्ग, शाहदरा, दिल्ली-32

—डॉ० कविता रानी

अनुक्रम

विषय-प्रवेश

9-28

साहित्य से तात्पर्य, साहित्य और सौन्दर्य—वस्तुवादी, आत्मवादी, भाववादी, बुद्धिवादी, अभिव्यंजनावादी, प्रकृतिवादी, साहित्य सिद्धान्त और भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, साहित्य और रस, साहित्य और ध्वनि, साहित्य और वक्रोक्ति, रीति-सिद्धान्त और साहित्य, साहित्य और अलंकार, साहित्य और सिद्धान्त, पाश्चात्य आलोचना में साहित्य सिद्धान्त, आज के युग में साहित्य-सिद्धान्त का महत्व ।

प्रथम अध्याय

हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य-सिद्धान्त

29-51

साहित्य-सिद्धान्त की परिभाषा, साहित्य का महत्व ।

द्वितीय अध्याय

द्विवेदी जी के निबन्धों में साहित्य-योजना

52-86

विषय वस्तु का साहित्य, वृक्षो सम्बन्धी निबन्ध, ऋतु सम्बन्धी, पर्व सम्बन्धी, नीति संबंधी, सस्त्रुति संबंधी निबन्ध, साहित्य सम्बन्धी, हिन्दी भाषा सम्बन्धी, महापुराणो सम्बन्धी, राष्ट्रीय भावना के निबन्ध, ज्योतिष सम्बन्धी निबन्ध, भौगोलिक निबन्ध, भावप्रवणता और साहित्य, बौद्धिकता में सौन्दर्य तत्व का योग, कल्पना-तत्त्व में साहित्य, द्विवेदी जी का व्यय्य, व्यक्तित्व, भाषा, सरल भाषा का रूप, सत्सम प्रधान भाषा, काव्यात्मक भाषा, प्रसाद गुण, माधुर्य गुण, ओज गुण, शब्द-चयन और साहित्य, शैली, भावात्मक शैली, विचारात्मक शैली, विवरणात्मक शैली, वर्णनात्मक शैली, हास्य-व्यंग्यात्मक शैली, निष्कर्ष ।

तृतीय अध्याय

द्विवेदी जी के उपन्यासों में साहित्य-योजना

87-166

उपन्यासों में प्रयुक्त नारी सौन्दर्य और साहित्य-विधान, प्रेम के त्रिकोण, विरह, पुरुष-सौन्दर्य और साहित्य, शीपंक चारु चन्द्रलेख, पुनर्नवा की कथावस्तु, हलदीय की कथा, मधुरा की कथा, उज्जयिनी की कथा, अनामदास का पोषा की कथावस्तु, चरित्रो सम्बन्धी साहित्य, बाणभट्ट की आत्मकथा के पात्र, चारु चन्द्रलेख के चरित्र, पुनर्नवा के पात्र, अनामदास का पोषा के चरित्र, भाषागत साहित्य, कथोपकथन देशकाल और वातावरण ।

चतुर्थ अध्याय

द्विवेदी जी की समीक्षा में साहित्य-योजना

167-192

द्विवेदी जी की समीक्षा के बौद्धिक आधार, ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण, मानवतावादी दृष्टिकोण लोचकत्व, साहित्य, रस सम्बन्धी दृष्टिकोण और साहित्य-विधान, समीक्षा की भाषा में साहित्य-योजना ।

पंचम अध्याय

साहित्य का इतिहास और साहित्य-विधान

193-226

आचार्य द्विवेदी की इतिहास दृष्टि, इतिहास सम्बन्धी मान्यताएं और उनका साहित्य-सिद्धान्त, आचार्य द्विवेदी के साहित्येतिहास ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास, अन्य ग्रन्थ, विभिन्न युगों के कवियों के विवेचन में साहित्य-विधान ।

षष्ठ अध्याय

अन्य विधाओं में साहित्य-विधान

227-251

आचार्य द्विवेदी का काव्य, काव्य में भावगत साहित्य, शब्दगत साहित्य, लक्षण और व्यञ्जना के द्वारा उत्पन्न साहित्य-विधान सस्मरण में साहित्य-कार्य विषय, पात्र एवं चरित्र-चित्रण, परिवेश चित्रण, शैली, स्मृत्याकन, उद्देश्य, कहानी में साहित्य-कथावस्तु, पात्र एवं चरित्र चित्रण, भाषा शैली, कथोपकथन, वातावरण, उद्देश्य ।

परिशिष्ट

252-263

1. द्विवेदी जी की संस्कृत कविताओं का काव्यानुवाद
2. उपजीव्य ग्रन्थ
3. हिन्दी सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची
4. संस्कृत सदभं-ग्रन्थ सूची
5. पत्र-पत्रिकाओं की सूची
6. अंग्रेजी सदभं-ग्रन्थों की सूची

विषय-प्रवेश

लालित्य से तात्पर्य :

'लालित्य' शब्द संस्कृत के 'लालित्य' शब्द का ही एक रूप है। 'लालित्य' की ध्युत्पत्ति 'ललितस्य भावः' की गयी है।¹ वस्तुतः 'लालित्य' 'ललित' में 'प्यञ्' प्रत्यय लगाने से बना है, जिसका अर्थ 'प्रियता', 'लावण्य', 'सौन्दर्य', 'आकर्षण', 'माधुर्य', आदि होता है।² कालिदास ने मालविका के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए ललित कला की योजना द्वारा उसके नैसर्गिक सौन्दर्य में श्रद्धि की बात इसी अर्थ में प्रस्तुत की थी—

“अध्याज सुन्दरी ता विधानेन ललितेन योजयता ।
परिकल्पितो विद्याया वाणः कामस्य विषदग्धः ॥”³

वस्तुतः 'लालित्य' शब्द 'चास्त्व', 'सौन्दर्य' तथा 'रमणीयता' का ही वाचक है। आचार्य दडी ने 'पदलालित्य' की चर्चा इसी अर्थ में की तथा लीलावती ने भी 'संक्षिप्ताक्षर कोमलामल पदलालित्य' कहकर इसी अर्थ को ध्वनित किया। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने अन्य समानार्थी शब्दों पर अधिक ध्यान दिया था।

लालित्य और सौन्दर्य :

मन को 'आर्द्र' करने की क्षमता जिसमें होती है, वही सौन्दर्य है।⁴ 'लालित्य' और 'सौन्दर्य' शब्द पर्यायवाची ही प्रतीत होते हैं किन्तु कलाओं के विभाजन के संदर्भ में 'ललित' शब्द का प्रयोग किया गया। सौन्दर्य को नैसर्गिक माना गया। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो स्पष्टतः ही मनुष्य-निर्मित सौन्दर्य को 'लालित्य' की संज्ञा प्रदान की।

1. शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थे काण्ड, पृ० 216 (राधाकान्त देव, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1961 ई०)।

2. वामन शिवराम आपटे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० 876

3. मालविकाग्नि मित्र, 2/13

4. “सृष्टु उन्नति आर्द्रं करोति चित्तिमित सुन्दरम्”

उन्होंने दोनों का अन्तर प्रस्तुत करते हुए कहा कि, "एक प्राकृतिक सौन्दर्य, दूसरा मानवीय इच्छाशक्ति का विलास है। दूसरा सौन्दर्य प्रथम द्वारा चलित होता है, पर है मनुष्य के अन्तरतम की अपार इच्छा को रूप देने का प्रयास। एक केवल अनुभूति देकर विरत हो जाता है, दूसरा अनुभूति द्वारा अभिव्यक्त होकर अनुभूति-परम्परा का निर्माण करता है। भाषा में, धर्माचरण में, काव्य में, मूर्ति में, चित्र में अभिव्यक्त मानवीय शक्ति का अनुपम विलास ही यह सौन्दर्य है जिसकी हम मीमांसा करने का सक्ल्प लेकर चले हैं। अन्य किसी उचित शब्द के अभाव में हम उसे 'सालित्य' कहेंगे। सालित्य अर्थात् प्राकृतिक सौन्दर्य से भिन्न, किन्तु उसके समानान्तर चलने वाला मानवरचित सौन्दर्य।"¹

वस्तुतः कलागत सौन्दर्य को 'सालित्य' नाम देकर उसे नैसर्गिक सौन्दर्य से भिन्न स्थापित करने का प्रयास किया गया जो उचित ही कहा जा सकता है। यह मान्यता स्वीकृत की जा सकती है कि मनुष्य के चित्त में जो सलित भाव होते हैं, उनकी अभिव्यक्ति-सौन्दर्य का नाम ही सालित्य है।² बोसाके ने कलाकार की अनुभूति के आनन्द की खर्चा की है। वे उस आनन्द को सामान्य जन के आनन्द से भिन्न मानते हैं।³

कला विवेचन के सदर्भ में 'सौन्दर्य' और 'सालित्य' शब्द पारश्चात्य 'ऐस्थेटिक्स' के समानार्थक शब्द के रूप में विकसित किये गये। भारतवर्ष में प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने परोक्ष रूप से सौन्दर्य पर विचार अवश्य किया, किन्तु पारश्चात्य समीक्षकों की भांति नहीं। पश्चिम में वामगार्टन को सौन्दर्यशास्त्र की स्थापना का श्रेय दिया जाता है। वामगार्टन के विवेचन को दर्शनशास्त्र का ही अंग माना गया जबकि बोसाके ने इसे इन्द्रिय-बोध-विज्ञान की संज्ञा प्रदान की।⁴ हीगेल ने सलित कलाओं के दर्शन को 'ऐस्थेटिक्स' कहा।⁵ हेराल्ड ओसबोर्न, जर्नाल्ड रीड, फ्रीडे, हर्बर्ट रीड, सेन्टामना, ई० एफ० कॅरिड आदि प्रसिद्ध सौन्दर्यशास्त्रियों ने कलाओं का विवेचन इसी आधार पर किया। पश्चिम में कला के दो भेद किये गये—(1) उपयोगी कलाएँ और (2) सलित कलाएँ। स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य कला को सलित कलाओं के अंतर्गत प्रस्तुत किया गया।⁶

कलाओं के सौन्दर्य-विवेचन में ऐस्थेटिक्स सौन्दर्य का वास्तविक अर्थ खोजने का कार्य करता है। यह सौन्दर्य सबधी विभिन्न धारणाओं का विश्लेषण कर उपयुक्त सिद्धांत

1. द्विवेदी, हजारों असाद, कालिदास की लालित्य योजना, पृ० 114

2. सालित्य तत्व, सप्त सिन्धु, मई 1963, पृ० 25

3. डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, सौन्दर्य तत्व, पृ० 25

4. बोसाके, हिस्ट्री ऑव ऐस्थेटिक्स, पृ० 183

5. हीगेल, वेस्टर्न ऐस्थेटिक्स, पृ० 395

6. शुक्ल, रामचन्द्र, कला का दर्शन, पृ० 13

का निर्धारण करता है।¹ डॉ० नगेन्द्र सौन्दर्य में रूपाकर्षण, चालित्य एवं सौन्दर्य तत्व का अंतर्भाव मानते हैं।²

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्री दर्शन, धर्म, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि विषयों में से किसी एक से सम्बद्ध होकर सौन्दर्य का विवेचन करते हैं जिसके कारण उनकी धारणाओं में एक्य नहीं मिलता। उन धारणाओं के कारण उनके मतों का विभाजन इस प्रकार किया जाता है—(1) वस्तुवादी, (2) आत्मवादी, (3) भाववादी, (4) बुद्धिवादी, (5) अभिव्यंजनावादी और (6) प्रकृतवादी।

(1) वस्तुवादी—वस्तुवादी आचार्यों के मतानुसार सौन्दर्य की सत्ता वस्तुगत है। उनकी दृष्टि में वस्तु की आकृति और प्रकृति का विश्लेषण करके ही सौन्दर्य की परख की जा सकती है। वे अन्विति पर विशेष बल देते हैं। “काव्य (अथवा व्यापक रूप से कला) का सत्य अन्विति का सत्य है, सवादिता का नहीं—यानी जीवन की रागात्मक अनुभूतियों और प्रेरक विचारों की अभिव्यक्ति में काव्य अथवा कला की सार्थकता सौन्दर्य नहीं है, कलाकृति की अपनी संरचना या रूप-निर्मिति ही उसका सौन्दर्य है।”³

वस्तुवादी आचार्यों ने सौन्दर्य के विभिन्न तत्वों पर विचार किया है। इन तत्वों के संबंध में उनमें कुछ मतभेद भी दिखायी पड़ता है। अरस्तू ने सौन्दर्य के तीन ही तत्व स्वीकार किये थे। उनके अनुसार मात्रा, व्यवस्थित-क्रम और निश्चित आकार की ही आवश्यकता थी। होगार्थ ने छह तत्वों को मान्यता दी जो इस प्रकार हैं—(1) उपयुक्तता, (2) विभिन्नता, (3) समानता, (4) स्पष्टता, (5) जटिलता और (6) विशालता। बर्क ने आकार-मृदमता, मसृणता, कोमलता, वर्णदीप्ति, शुद्धता आदि को ही सौन्दर्य के तत्वों के रूप में विश्लेषित किया। क्रूसान ने वैचित्र्य-एकत्व, समता, व्यवस्था तथा अनुपात में ही सौन्दर्य को देखा तो बर्कले ने समानता और अनुपात पर ही सर्वाधिक बल दिया। डॉ० पार्कर के अनुसार तो सामंजस्य, क्रम, अनुपात और आवश्यक संगठन की अनिवार्यता से ही सौन्दर्य संभव है। वस्तुतः अनुपात, संभावना, सगति, सतुलन, अन्विति और वर्ण-दीप्ति को ही अधिक मान्यता मिली।

वस्तुवादी आचार्य वस्तु के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी सौन्दर्य की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में ‘अंशों के अनुकूल विन्यास और अनुकूल वर्ण के समागम’ को

1. “Aesthetic is the branch of knowledge whose function is to investigate what to be asserted when we write or talk correctly about beauty. It is concerned logically to elucidate the notion of beauty as the distinguishing feature of works of art and to propound the valid principles which underline all aesthetic judgement.”

—Aesthetics And Criticism, P.24.

2. सौन्दर्य की परिभाषा और स्वरूप, संभावना, पृ० 9
3. उपरिवत्, पृ० 12

ही सौन्दर्य कहा जा सकता है।¹ उसके अतिरिक्त अन्य कोई तत्व सौन्दर्य नहीं हो सकता।² आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वस्तुवादी सौन्दर्य को स्पष्ट करते हुए कहा कि, "जैसे वीर कर्म से पृथक् धीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अतस्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।"³

(2) आत्मवादी—आत्मवादी आचार्य सौन्दर्य का सबध आत्मा से जोड़ते हैं। वे प्रज्ञात्मक सौन्दर्य की चर्चा करते हुए उसकी अनुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति के समकक्ष ठहराते हैं। यह मत अत्यन्त प्राचीन है। पाश्चात्य दार्शनिकों में सर्वप्रथम प्लेटो ने सौन्दर्य के आत्मवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया। प्लेटो ने सौन्दर्य की चर्चा करते हुए उसके चार स्तर स्वीकार किये—(1) शारीरिक सौन्दर्य, (2) मानसिक सौन्दर्य, (3) नैतिक सौन्दर्य और (4) प्रज्ञात्मक सौन्दर्य। वे प्रज्ञात्मक सौन्दर्य को ही सर्वोपरि मानते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में प्रज्ञात्मक सौन्दर्य आत्मचैतन्य के निकट है।⁴ प्लोटिनस, ऑगस्टीन, एम्बिनस, कान्ट, शिलिंग, हीगल आदि आत्मवादी चिन्तक माने जाते हैं। इस चिन्तन के अनुसार सौन्दर्य का तादात्म्य आत्मा अथवा बुद्धि से होता है। वे कलाकार की चेतना में ही सौन्दर्य की स्थिति स्वीकार करते हैं। वस्तु का सौन्दर्य उस परम सत्ता के सौन्दर्य का आभास मात्र होता है। आत्मवादी भी समन्विति में ही सौन्दर्य को देखते हैं। वे कला को ईश्वरानुभूति का माध्यम भर स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में ईश्वर ही सुन्दर होता है। भारतीय आचार्यों ने भी आत्मवादी सौन्दर्य-दृष्टि को प्रस्तुत किया है। काभ्यानन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहने में इसी भावना के दर्शन होते हैं। श्यामसुन्दर दास रस और सौन्दर्य का सबध स्थापित करते हुए कहते हैं कि—

"साहित्य के मूल में स्थित इन मनोवृत्तियों के अतिरिक्त एक दूसरी प्रवृत्ति भी है जो सभ्य मानव-समाज में सर्वत्र पाई जाती है और जिससे साहित्य में एक अलौकिक चमत्कार तथा मनोहारिता आ जाती है। इसे हम सौन्दर्य की भावना कहते हैं। सौन्दर्य-प्रियता की ही सहायता से मनुष्य अपने उद्गारों में 'रस' भर देता है जिससे इस प्रकार के अलौकिक और अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि होती है और जिसे साहित्यकारों ने 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की उपाधि दी है।"⁵

(3) भाववादी—सौन्दर्य को भाव की अभिव्यक्ति मानने वाले चिन्तन को

1. दि ध्योरी ऑफ न्यूटी, पृ० 36

2. ए हिस्ट्री ऑफ ऐस्थेटिक्स, पृ० 513

3. रस-भीमांसा, पृ० 24

4. ए हिस्ट्री ऑफ ऐस्थेटिक्स, पृ० 45-55

5. साहित्यलोचन, पृ० 247

भाववादी की संज्ञा प्रदान की गयी है। ऐसे चिन्तकों की संख्या सर्वाधिक है। पार्श्वात्य चिन्तकों में जॉन लाक, एडिसन, फ़ैबनर, एडमंड बर्क आदि इमी श्रेणी के हैं। उनकी मान्यता है कि सौन्दर्य पारलौकिक अनुभूति से होकर इहलौकिक है। वे सौन्दर्य को रंगों और आकार का संयोजन स्वीकार करते हैं। यह संयोजन ही आनन्द की अनुभूति कराता है। उनकी दृष्टि में कल्पना ही सौन्दर्य का प्रमुख आधार है। कल्पना के द्वारा विम्ब-विधान होना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कवि और महदय दोनों के लिए कल्पना को अनिवार्य मानते हैं। वे गच्छी कल्पना की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि, "किसी भावोद्देशक द्वारा परिचालित अन्तवृत्ति जब उस भाव के बोधक स्वरूप गढ़कर या काट-छोटकर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कवि कल्पना कह सकते हैं।"¹ भाववादी आचार्यों की दृष्टि में कल्पना के द्वारा ही कला में सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है जिससे आनन्द की प्राप्ति होती है।² डॉ० नरेन्द्र के अनुसार मनोवैज्ञानिक फ़ैबनर भी सौन्दर्य के लिए आनन्द को अनिवार्य मानते हैं, "प्रत्येक ऐसी वस्तु जो केवल भावन करने पर या अपने अनुकूल परिणामों के कारण ही नहीं वरन् प्रत्यक्ष रूप में और तत्काल प्रीति (मुख) का संचार करती है, सुन्दर मानी जा सकती है।"³

भाववादी दार्शनिक भावों को ही सौन्दर्य का नियामक घोषित करते हैं। इसके लिए वे तदाकार परिणति को अनिवार्य मानते हैं। विभिन्न प्रकार के भावों का चमत्कार ही उनकी दृष्टि में सौन्दर्य का वैशिष्य होता है।⁴

(4) बौद्धिवादी—देकत और लाइबनित्स ने सौन्दर्य का सवध बौद्धिक आनन्द से जोड़ा है। वे कलात्मक आनन्द को विभिन्न आवेशों की उत्तेजना का परिणाम मानते हैं किन्तु शुद्ध बौद्धिक आनन्द से उभे भिन्न टहराते हैं। उनकी दृष्टि में शुद्ध बौद्धिक आनन्द चेतना की स्वयं स्फूर्त विषय है और उसमें किसी प्रकार के आवेशों की उत्तेजना नहीं होती जबकि कलात्मक बौद्धिक आनन्द कल्पना के प्रभाव से उद्भूत होता है।⁵ इन आचार्यों ने कलात्मक बौद्धिक आनन्द का वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि में इस प्रकार की आनन्दानुभूति की चार अवस्था हैं—(क) प्राथमिक अनुभूति, (ख) बौद्धिक स्तरीय नैतिक उपदेश की समझने वाली अनुभूति, (ग) अन्तर दृष्टि की ओर उन्मुख और (घ)

1. विवेकी, पृ० 64

2. The Sense of Beauty, P. 52.

3. संभावना : सौन्दर्य की परिभाषा और स्वरूप : डॉ० नरेन्द्र, पृ० 12

4. "जीवन का सौन्दर्य वैचित्र्यपूर्ण है। उसके भीतर किसी एक ही भाव का विधान नहीं है। उसमें एक ओर प्रेम, हास, उत्साह और आश्चर्य आदि हैं, दूसरी ओर शोक, पीडा, पृथा और भय आदि—एक ओर आतिथन, मधुरालाप, रक्षा, सुख-प्राप्ति आदि हैं, दूसरी ओर गर्जन, उर्जन, तिरस्कार और ध्वंस।" शुक्ल रामचन्द्र, चिन्तामणि, पृ० 38

5. रम सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र, पृ० 51

सावंभोम सामरस्य की भूमि पर प्रतिष्ठित अनुभूति।¹

(5) अभिव्यंजनावादी—ऋचे ने अभिव्यंजनावाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए अभिव्यक्ति की पूर्णता को ही सौन्दर्य की सज्ञा प्रदान की है। उनकी दृष्टि में सहज ज्ञान ही कला सृजन का मूल कारण है। उनके सहज ज्ञान की यह विशिष्टता है कि उसमें आनन्द की निरन्तर अवस्थिति होती है। सहज ज्ञान बिम्ब विधान करने वाला होता है। बिम्ब-विधान से ही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति संभव होती है। ऋचे के अनुसार कला की अनुभूति प्रातिभ है। उसमें बौद्धिकता और तर्क का अवकाश नहीं। प्रातिभ ज्ञान ही आन्तरिक अभिव्यक्ति को कल्पना का रूप प्रदान करता है, इसलिए वे कल्पना को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। उनकी दृष्टि में वैचित्र्य में ही सौन्दर्य है।

(6) प्रकृतिवादी—आई० ए० रिषट्स तथा जीन ड्यूर्य को प्रकृतिवादी सौन्दर्य-शास्त्रियों में परिगणित किया जाता है। उनकी दृष्टि में कलागत अनुभूति और जीवन-अनुभूति में कोई विशेष अन्तर नहीं है। मानव मन सवेदनशील है, इसलिए अनुभूतियों का आविर्भाव और तिरोभाव होता ही रहता है। जब कोई विकसित अथवा परिष्कृत और ललित अनुभूति का आविर्भाव होता है तो वह सौन्दर्यानुभूति बन जाती है।² यह ललित अनुभूति कलात्मक गुण से युक्त होने के कारण ही सामान्य अनुभूति से भिन्न होती है। प्रकृतिवादी चिन्तकों की दृष्टि में सौन्दर्य का सबध कलाकार और सहृदय दोनों से है।

लालित्य सिद्धान्त और भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा

लालित्य सिद्धान्त मूलतः सभी कलाओं से जुड़ा हुआ है जबकि भारतीय काव्य-शास्त्र का सबध साहित्य की विभिन्न विधाओं से ही है। यह होते हुए भी भारतीय काव्य-शास्त्र में लालित्य और सौन्दर्य पर गभीर विचार हुआ है।³ यही कारण है कि डॉ० नगेन्द्र और डॉ० कुमार विमल प्रभृत आचार्य काव्य-शास्त्र और ऐस्पेटिवम में कोई अन्तर नहीं मानते। डॉ० कुमार विमल के अनुसार, "इस प्रसंग में यहाँ तक कहने का साहम किया जा सकता है कि सौन्दर्यशास्त्र काव्यशास्त्र का ही विकसित और कला-चैतन्य से समन्वित रूप है।"⁴ भारतीय काव्यशास्त्र में रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, अलंकार तथा औचित्य-विशिष्ट सम्प्रदाय है। प्रत्येक सम्प्रदाय का लालित्य से सबध स्थापित करके ही हम भारतीय परम्परा में लालित्य चिन्तन को भली-भांति समझ सकते हैं।

1. रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र, पृ० 52

2. सौन्दर्य शास्त्र के तत्व, पृ० 102-103

3. "भारतीय सौन्दर्य-दर्शन का मूल आधार है काव्यशास्त्र। यद्यपि दर्शन में भी विशेषकर आनन्दवादी आगम-ग्रन्थों में, आत्म-तत्त्व के व्याख्यान के अन्तर्गत सौन्दर्य की अनुभूति के विषय में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं, फिर भी सौन्दर्य के आस्वाद और स्वरूप का व्यवस्थित विवेचन काव्यशास्त्र में ही मिलता है।"—
डॉ० नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृ० 3

4. डॉ० कुमार विमल, सौन्दर्य शास्त्र के तत्व, पृ० 16

(क) लालित्य और रस—आचार्य भरतमुनि ने रस को ममझाते हुए कहा—
 “रस इति कः पदार्थः, आस्वाद्यत्वात्”¹ अर्थात् आस्वाद ही रस है। भरतमुनि के परवर्ती
 रसवादी आचार्यों ने भी काव्यास्वादन को ही रसास्वादन स्वीकार किया है। भरतमुनि
 ने रस की परिभाषा देते हुए कहा था कि, “विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस-
 निष्पत्ति”² अर्थात् विभाव अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती
 है। वस्तुतः यह निष्पत्ति संयोग की परिणति है। हम यह कह सकते हैं कि सहृदय की जो
 आनन्द की अनुभूति होती है वही रस है।

“रसनिष्पत्ति के समय हम काव्यकृति की रचना की पूर्णता मानते हैं। लालित्य
 का अनुसन्धान इस पूर्णता प्राप्त कृतित्व से आरम्भ होता है और विपरीत दिशा में तह
 की ओर अग्रसर होता है। रचना-प्रक्रिया के मूल में स्थित सङ्कारो का अनुसन्धान ही
 लालित्य चेतना का अनुसन्धान है। रसास्वादन कृतित्व की पूर्णता पर आरम्भ होता है या
 अनुभूत होता है, लालित्य का आरम्भ इस अनुभूति से होता है। रसानुभूति लालित्य को
 समझने की एक सरणि है। रस चेतना आवश्यक रूप से मूल्यांकन या समीक्षामयी है,
 जबकि लालित्य एक संस्कार है जो अभिव्यक्ति में अरूप छाया रहता है।”³

रसवादी आचार्य भावों में ही सौन्दर्य देखते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि
 सौन्दर्य चेतना मानवीय अनुभूति से पूर्णतः सम्बद्ध है। अनुभूति की मात्रा भेद से उसमें
 अन्तर हो सकता है।⁴ रसवादी आचार्यों की दृष्टि में तदाकार परिणति ही सौन्दर्य है।
 आचार्य शुक्ल इस बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, ‘जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या
 भावना की तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए
 सुन्दर कही जायेगी।’⁵

अनेक भारतीय आचार्य रस-शास्त्र में सौन्दर्य सम्बन्धी विवेचन की पूर्णता के
 कारण उसे ‘ऐस्पेटिक्स’ का पर्याय मानने के पक्षपाती हैं। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त का तो
 स्पष्ट मत है कि “रस-शास्त्र ऐसा शब्द है जो ‘ऐस्पेटिक्स’ के सभी अर्थों को द्रवित
 करने में समर्थ है।”⁶ प्रो० ए० सी० शास्त्री ने भी यही स्वीकार किया है। उनके
 अनुसार, “यह हमें एकाएक स्पष्ट कर लेना चाहिए कि पूर्व में हम जिसे ‘रस’ कहते हैं
 वही पश्चिम में सौन्दर्य के नाम से पुकारा जाता है।”⁷

1. नाट्य शास्त्र, 6/26

2. नाट्य शास्त्र

3. डॉ० परेश, मूरदास की लालित्य चेतना, पृ० 11

4. शुक्ल, रामचन्द्र, रस मीमांसा, पृ० 25

5. रस मीमांसा, पृ० 24

6. रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, पृ० 133

7. “Let us see what is meant by ‘rasa’. It should at once be made
 clear that what is called ‘rasa’ in the east, is called ‘beauty’ in
 the west.”

—रस सिद्धान्त का पुनर्मूल्यांकन से उद्धृत, पृ० 135

वस्तुतः सौन्दर्यं अथवा लालित्य का मूलाधार रस ही है। पंडितराज जगन्नाथ ने रस और रमणीयता में भेद स्थापित करने¹ के पश्चात् रस को रमणीयता का आधार ही स्वीकार किया है। रमणीयता सौन्दर्यं अथवा लालित्य का ही पर्याय है। रमणीयता से ही आनन्द की अनुभूति होती है जो चिदावरण का भंग होना है—“भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादि।”² इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया को यदि रसास्वाद की प्रक्रिया मान लिया जाये तो रस-शास्त्र सौन्दर्य-शास्त्र का पर्याय चाहे न बन सके किन्तु उसके बहुत निकट अवश्य पहुँच जाता है। डॉ० परेश के अनुसार—

“कहो-कहो सौन्दर्य-शास्त्रीय चर्चाओं में सौन्दर्य संवेदना शब्द का उल्लेख मिलता है। यह संवेदना शब्द किसी भी अर्थ में आस्वादन से भिन्न स्थिति नहीं है।”³

वस्तुतः भारतीय भाषाओं में साहित्यिक वे, इसलिए उन्होंने अन्तःसौन्दर्य को बाह्य सौन्दर्य की तुलना में अधिक महत्त्व प्रदान किया। काव्यात्मा के सन्दर्भ में रस की चर्चा उसी का प्रतिफल है। “यह कहना असमोचीन नहीं है कि भारतीय भाषाओं की दृष्टि से वाक्ता, सौन्दर्य या रमणीयता ही रस है। रस सौन्दर्य है सौन्दर्य रस है। इस रूप में उस सौन्दर्य की उद्भावना हुई है जो काव्य के सम्पूर्ण स्तरों पर विराजमान रहता हुआ स्वयं ही सब तत्वों का प्राणभूत बनकर उनके रूप में अभिव्यंजित होकर काव्य के भोग-रूप एवं अभिव्यजनागत सौन्दर्य में पूर्ण सम्भव्य स्थापित कर देता है। यह भारतीय सौन्दर्य-दृष्टि की एक महत्वपूर्ण विशेषता है जो सम्भवतः इस उत्कृष्टता के साथ दुर्लभ है।”⁴

रसवादी आचार्यों ने ‘वसन्तकार’ और ‘रमणीय’ के माध्यम से सौन्दर्य की व्याख्या प्रस्तुत की है। ‘वसन्तकार’ को रस का सार-तत्व माना गया। पंडितराज जगन्नाथ ने “रमणीयार्थ प्रतिपादक. शब्दः काव्यम्” कहकर रमणीयार्थ को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने लोकोत्तर आह्लाहजनक ज्ञान शीघ्रता को ही रमणीय माना। इस प्रकार उनकी मान्यता से यह स्पष्ट है कि रमणीयता का रहस्य पार्थिव ही नहीं अपितु आध्यात्मिक भी है। पार्थिव वस्तु जगत् का आत्मा से सम्मिलन करना ही सौन्दर्य की वास्तविक भूमि है।⁵

आचार्यों ने रसानुभूति की चर्चा में मायारणीकरण के सिद्धान्त पर विचार करते हुए ‘सत्त्वोद्रेक’ की स्थिति को महत्त्व प्रदान किया है। ‘सत्त्वोद्रेक’ के कारण ही शुद्ध आनन्दमयी अनुभूति होती है। इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति आनन्दानुभूति से स्वतः सिद्ध है। आनन्दवर्धन ने “रसः रमणीयताम् आवहति”⁶ कहकर रस को सौन्दर्य का मूल स्थापित

1. रसः रमणीयतामावहति:—रस गंगाधर, 1/6

2. सूरदास की लालित्य चेतना, पृ० 9

3. रसः रमणीयतामावहति.—रस गंगाधर, पृ० 88

4. डॉ० मिथ, भगवत्स्वरूप, भारतीय सौन्दर्य चिन्तन में साहित्य तत्व—

पं० जगन्नाथ तिवारी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 266

5. डॉ० मुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, सौन्दर्य तत्व, अनु० आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृ० 44

6. रस गंगाधर 1/6

क्रिया है। "सौन्दर्य की दृष्टि से रस विचार-सौन्दर्य को विपयगत और विपयीगत दोनों मानता है और सामाजिक उपादानों को भी आध्यात्मिक स्थिति के साथ समान महत्व प्रदान करता है। वह रीझने वाले तथा रिझाने वाले दोनों की स्वीकृति में विश्वास रखता है और सौन्दर्यानुभूति को एक उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित करके लौकिक अनुभूति से उसकी पृथक्ता प्रदर्शित करता है।"¹ यही कारण है कि डॉ० निर्मला जैन इस सिद्धान्त को प्रकारान्तर से सौन्दर्य शास्त्र ही मानती हैं।²

"रस निष्पत्ति के समय हम काव्यकृति की रचना की पूर्णता मानते हैं। लालित्य का अनुसन्धान इस पूर्णता प्राप्त कृतित्व से प्रारम्भ होता है और विपरीत दिशा में तह की ओर अपसर होता है। रचना-प्रक्रिया के मूल में स्थित सस्कारों का अनुसन्धान ही लालित्य चेतना का अनुसन्धान है। रसास्वादन कृतित्व की पूर्णता पर आरम्भ होता है या अनुभूत होता है, लालित्य का आरम्भ इस अनुभूति से होता है। रसानुभूति लालित्य को समझने की एक सरणि है। रस चेतना आवश्यक रूप से मूर्त्यांकन या समीक्षामयी है, जबकि लालित्य एक सस्कार है जो अभिव्यक्ति में अरूप छाया रहता है।"³

(ख) लालित्य और ध्वनि—ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक के रूप में आनन्दवर्धन का नाम लिया जाता है। 'ध्वन्यालोक' में आनन्दवर्धन ने ध्वनि की परिभाषा देते हुए कहा कि "जहाँ शब्द अपने अर्थ को और अर्थ अपने स्वरूप को गौण बनाकर अन्य अर्थ की व्यञ्जना करते हैं उम काव्य विशेष को विद्वान् ध्वनि कहते हैं।"⁴ आनन्दवर्धन ने ध्वनि को लावण्य के समान कहकर लालित्य की ही स्थापना की है। उनके अनुसार ललनाओं के अंयावयवों से भिन्न लावण्य होता है। महाकवियों की वाणी में ध्वनि भी उसी प्रकार प्रतीयमान होती है जिम प्रकार ललना का लावण्य।⁵ उन्होंने 'प्रतीयमान' अर्थ को स्पष्ट करने के लिए एक अन्य उपमान का सहारा भी लिया। उन्होंने कहा कि—

"मुख्या महाकविगिरामलं कृतिभूतामपि ।
प्रतीयमानध्वार्यया भूया लज्जेव योपिताम् ॥"⁶

अर्थात् महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान अर्थ की छाया उसी प्रकार मुख्य अलंकरण है जिस प्रकार अलंकारादि से मुक्त कुलवधुओं का मुख्य अलंकार लज्जा है।
वस्तुतः आनन्दवर्धन का प्रतीयमान अर्थ लालित्य की ओर ही संकेत करता है।

1. डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास भुप्त, सौन्दर्य तत्व, पृ० 48

2. रस-सिद्धान्त और सौन्दर्य-शास्त्र, पृ० 446

3. डॉ० परेश, सूरदास की लालित्य-चेतना, पृ० 11

4. "यथार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थो ।

व्यक्त काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥" ध्वन्यालोक—1/13

5. "प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत्रप्रमिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवागनासु ॥" ध्वन्यालोक—1/4

6. ध्वन्यालोक—3/37

उन्होंने काव्य-मोन्दर्य को चमत्कार रूप ही माना है। यह चमत्कृति ही आस्वाद स्वरूप है। मोन्दर्य वस्तु का घर्म है। इस प्रकार चमत्कृति चेतना का घर्म है। यह कहना समीचीन है कि किसी अनुभव में निहित चमत्कार के विधान में चमत्कृति मोन्दर्य के प्रति ही होती है। यह चमत्कृति सोबोत्तर होती है।¹ वस्तुतः आनन्दवर्धन चमत्कार शब्द का प्रयोग मोन्दर्य दर्शन के रूप में ही करते हैं। उन्होंने षटा निनाद के अनुरणन द्वारा उमकी व्याख्या प्रस्तुत की है।

आनन्दवर्धन ने "काव्य हितलितोचित सन्निवेश धारणः" बहुर सन्निव रचि के सन्निवेश द्वारा काव्य की धारणा को स्वीकृति प्रदान की है। यह सन्निव मोन्दर्य का सूक्ष्मतरु रूप को सचेतित करता है जो उन्होंने 'विभाषितायन्य भिषांगनामु' के द्वारा किया है। उनकी दृष्टि में मोन्दर्य का प्राण अमिष्यजना का मोन्दर्य ही है। इस अमिष्यजना के द्वारा ही सवेदना एव रूप में मोन्दर्य और आनन्द की अनुभूति होती है। अमिष्यजना के मोन्दर्य और उत्तरे विरेचन की शक्ति को तो पाश्चात्य आचार्य भी स्वीकार करते हैं।² इस प्रकार भारतीय ध्वनि सिद्धान्त साहित्य को अमिष्यजना के द्वारा प्रतिष्ठित करने वाला है।

(ग) साहित्य और चक्रोक्ति—आचार्य बुन्तक ने ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध करने के लिए 'चक्रोक्ति जीवितम्' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें उन्होंने चक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना की। उनके ग्रन्थ के नाम में ही स्पष्ट है कि उन्होंने चक्रोक्ति को काव्य का जीवित माना। बुन्तक ने चक्रोक्ति के अन्तर्गत सभी प्रचलित काव्य सिद्धान्तों—अन्वहार, रीति, रस, ध्वनि आदि का समाहार करने का प्रयास किया।

आचार्य बुन्तक के अनुसार काव्य की उत्ति साम्य एव व्यवहार में प्रयुक्त उत्ति में भिन्न होती है। यह भिन्नता चक्र-चर्म कोशक के द्वारा संदग्धजन्म होती है।³ उन्होंने चक्रोक्ति की परिभाषा देते हुए कहा कि—

"अवधारो तद्विज्ञो चक्रकवि व्यापार मानिनि ।

चक्रे व्यवस्थितो काव्यं तद्विज्ञान्धारिणी ॥"⁴

अर्थात् "काव्य-समर्पको को आनन्द देने वाले चक्र कवि-व्यापार द्वारा चक्र में व्यवस्थित शब्द और अर्थ के सहवर्तित की काव्य कहते हैं।"

बुन्तक ने पूर्व चक्रोक्ति एव अन्वहार के अन्तर्गत ही मान्य था। परन्तु ध्वनि-वादी और रसवादी आचार्यों ने भी इसे एव अन्वहार के रूप में ही माना और सिद्धान्त

1. डॉ० निरंजना जैन, रस सिद्धान्त और मोन्दर्य साम्य, पृ० 63

2. वाचस्पत्ययन, सिधित्त आदि आदि, पृ० 284-285

3. "चक्रोक्तिः प्रसिद्धासिद्धान्तविशेषिणी विविधसामिदाः । कीदृको संदग्धजन्मपी-
चक्रिणीः संदग्ध विदग्धभावः कविजनकोशक नाम चर्मो विविधित्तः । द्वापचक्रिणी ।
विविधसामिदा चक्रोक्तिःसिधित्तः ॥"—चक्रोक्तिजीवितम्, 1/10 पर वृत्ति

4. चक्रोक्तिजीवितम्, 1/7

रूप में उसे स्वीकृति नहीं मिल सकी। भामह ने अवश्य ही वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल माना था। वे स्वाभावोक्ति में भी वक्रोक्ति की व्याप्ति मानते थे। दण्डी ने भामह के इस रूपन को अस्वीकार कर स्वाभावोक्ति में वक्रोक्ति की व्याप्ति नहीं मानी किन्तु अन्य अलंकारों के मूलभूत तत्व के रूप में उसे स्वीकृति अवश्य दी। अन्य आचार्यों ने उसे एक अलंकार के रूप में ही माना।

आचार्य कुन्तक ने वर्ण-विन्यास वक्रता, पद-पूर्वाद्धं वक्रता, प्रत्यय वक्रता, वाक्य वक्रता, प्रकरण वक्रता तथा प्रबन्ध वक्रता के द्वारा काव्य को सुन्दर बनाने वाले सभी तत्वों का समाहार करने का प्रयास किया। उन्होंने 'लोकोत्तर चमत्कारि वैचित्र्यसिद्धये' कहकर साहित्य की ओर संकेत किया। लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करने वाला वैचित्र्य निश्चित रूप से अभिव्यजना शैली का एक प्रकार ही है किन्तु कवि-प्रतिभा और कवि-कौशल को महत्त्व देने के कारण उसमें अन्तःतत्त्व की उपेक्षा नहीं की गयी है। "कवि प्रतिभा अपनी कृति को चमत्कारमयी बनाने के लिए जिन साधनों-प्रसाधनों का अवलम्ब ग्रहण करती है उनके भर्म का माझास्कार करने के लिए वक्रोक्ति-सिद्धान्त निश्चय ही अतीव महामक है।"¹

आचार्य कुन्तक ने सौन्दर्य को कवि-कौशल-जन्य कहकर सौन्दर्य की विषय व्याख्या की है। उनकी दृष्टि में "अन्यूनातिरिक्त्वा रमणीयत्व तथा परस्पर स्याद्धं चारत्व" के कारण शब्दार्थ गौण हो जाता है तथा किसी अन्य तत्व को प्रधानता मिल जाती है।² कवि के आभ्यन्तर का उद्रेक होने के कारण काव्य-सौन्दर्य सृष्टि सौन्दर्य है। वे कवि-कर्म को ही सभी प्रकार के सौन्दर्य का मूल स्रोत मानते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि उनकी दृष्टि में सौन्दर्य वस्तुगत न होकर आरमगत है। वे कवि-कर्म को प्रातिभ मानते हैं। "रचना में सौन्दर्य का उन्मेष प्रतिभा के सस्पर्श से ही होता है। शब्द और अर्थ में सौन्दर्य के स्फुरण में ही कवि-कर्म में प्रतिभा का योग होता है।"

"अनयोः शब्दार्थ योर्वा काव्य लौकिकी चेतन चमत्कारत्वः मनोहारिणी परस्पर स्पर्धस्व रमणीया। शोभाशानिता प्रति ! शोभा सौन्दर्यमुच्यते तथा शालते श्लाघ्यते वा सा शोभाशान्ति तस्याभावं शोभाशानिता तां प्रति सौन्दर्यश्लाघिना प्रति संव च सहृदया-ल्हादकारिता तस्या स्पर्धहृत्वेन याडसाववस्थितिः परस्पर साम्प्रभुभग मवस्थान ता साहित्यमुच्यते ॥"³

आचार्य कुन्तक ने शोभा को ही साहित्य के प्रमुख मानदण्ड के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। सहृदय श्लाघ्य द्वारा वे सौन्दर्य को हृदय से हृदय के संवाद की कसौटी के रूप में स्थापित करते हैं। सौन्दर्य कवि-कर्म है और सहृदय द्वारा उसकी स्वीकृति

1. डॉ० सुरेन्द्रनाथ सिंह, प्रसाद के काव्य का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० 155

2. "एतेषा यद्यपि प्रत्येक स्व विषय प्राधान्यमेवा गुणाभावः तथापि सकलं वाक्यमपरिस्पन्द जीवतायमावस्यास्य साहित्य लक्षणस्यैव कवि व्यापारस्य वस्तुतः सर्वत्रातिशयत्वम् ॥"—वक्रोक्तिजीवित

3. वक्रोक्तिजीवित—1/17

उसका मानदण्ड है। इस प्रकार आचार्य कुन्तक की 'वक्रोक्ति' साहित्य पर ही आधारित प्रतीत होती है। उन्होंने सौन्दर्य को ही काव्य के प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया।

(घ) रीति-सिद्धान्त और साहित्य—रीति-सिद्धान्त के प्रथम और प्रतिम आचार्य के रूप में वामन की प्रतिष्ठा है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः' नामक ग्रंथ में रीति-सिद्धान्त की स्थापना की थी। 'रीति' शब्द का सामान्य अर्थ मार्ग, प्रणाली अथवा शैली है। आचार्य वामन ने रीति को परिभाषित करते हुए कहा कि, "विशिष्ट पद रचना रीति"¹ है। इस पद रचना की विशिष्टता गुण और अलंकारों से तथा दोपरहित होने से आती है। आचार्य वामन ने अलंकार गुण और दोपरहित होने को महत्त्व देते हुए ही रीति की व्याख्या की।²

आचार्य वामन का रीति-सिद्धान्त गुणों पर विशेष रूप से आधारित था। उनके मतानुसार रीति में विशेषता का कारण गुण ही है।³ ये गुण ही हैं जो शब्द और अर्थ के धर्मों का बोध कराकर काव्य को शोभा से युक्त करते हैं। उन्होंने इसीलिए शब्द-गुण और अर्थ-गुण की कल्पना करके गुणों की सख्या बीस तक पहुँचा दी। परवर्ती आचार्य मम्मट ने बीस गुणों को तीन गुणों में ही समाहित कर दिया। गुण रस के धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किये गये, इसलिए रीति-सिद्धान्त का महत्त्व कम हो गया।

रीति-सिद्धान्त गुणों पर आधारित था और गुण साहित्य उत्पन्न करने वाले कहे जा सकते हैं। गुण रस के धर्म ही हैं ही, वे निश्चित रूप में साहित्य के भी धर्म हैं। काव्य की शैली भी साहित्य उत्पन्न करने में सहायक होती है, इसलिए उसका सम्बन्ध भी साहित्य से जुड़ जाता है।

(ङ) साहित्य और अलंकार—भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार को काव्य में सौन्दर्य प्रस्तुत करने वाले तत्व के रूप में स्वीकृति मिली। डॉ० नगेन्द्र ने आधुनिक मनो-विज्ञान के आधार पर सौन्दर्य चेतना के दो मूल तत्व स्वीकार किये हैं—(1) प्रीति तथा (2) विस्मय। उनके अनुसार प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने प्रीति के आधार पर रस तथा विस्मय के आधार पर अलंकार शास्त्र का विकास किया।⁴ वस्तुतः अलंकार का अर्थ ही सौन्दर्यवर्धक तत्व है, इस प्रकार उसे साहित्यवर्धक कहना भी उचित है।

प्रथम अलंकारवादी आचार्य भामहू ने अलंकार की परिभाषा देते हुए कहा कि, "वक्राभिधेयं शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।"⁵ जिसका अर्थ है कि शब्द और अर्थ की वक्रता ही अलंकार है। उन्होंने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का प्राण-तत्व माना। यह

1. काव्यालंकार सूत्र 1/2/7

2. काव्यालंकार सूत्र, 1/2/6

3. विशेषगुणात्मा काव्यालंकार सूत्र, 1/2/8

4. रस-सिद्धान्त, पृ० 3

5. काव्यालंकार, 2/1

वक्रता ही लालित्य का व्यञ्जक माना जा सकता है।¹ आचार्य दण्डी ने काव्य के शोभा-कारक धर्मों को ही अलंकार कहा।² आचार्य वामन ने तो सौन्दर्य को ही अलंकार माना।³ उनके मतानुसार अलंकार के कारण ही काव्य ग्राह्य और उपादेय होता है जिसका स्पष्ट तात्पर्य है कि सौन्दर्य के कारण ही काव्य की ग्राह्यता और उपादेयता है।

काव्य में अलंकार के महत्त्व के प्रश्न पर आचार्य दोमतो में विभाजित हैं। प्रथमतः वे आचार्य हैं जो अलंकार को काव्य का स्थिर धर्म मानते हैं और दूसरे वे आचार्य हैं जो अलंकार को काव्य का बाह्य तत्त्व स्वीकार करते हैं। भामह, दण्डी और वामन तो स्पष्टतः ही प्रथम वर्ग के आचार्य हैं। आचार्य भामह ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि, "सुन्दर स्त्री का मुख भूषण रहित शोभा नहीं देता।"⁴ ध्वनिवादी आचार्य मम्मट द्वारा अपने काव्य-लक्षण में 'अनलंकृति' शब्द का प्रयोग किये जाने पर आचार्य जयदेव ने कहा कि—

“अंगीरोति यः काव्य शब्दार्पावनसंकुतो ।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनले कृती ॥”⁵

जिस प्रकार उष्णता से हीन अग्नि नहीं हो सकती उसी प्रकार अलंकार से हीन काव्य की कल्पना सम्भव नहीं है। स्वयं आचार्य मम्मट ने 'अनलंकृति' का अर्थ 'ईषद अलंकार' किया था और उन्होंने 'सरस अलंकार हीन' वाक्य की सत्ता स्वीकार नहीं की थी तथा 'नीरस ईषद अलंकार सहित' वाक्य को काव्य की संज्ञा दी थी। इस प्रकार ध्वनिवादी और रसवादी आचार्य भी काव्य के लिए अलंकार के महत्त्व को स्वीकार करते हैं किन्तु वे उमे बाह्य तत्त्व के रूप में ही स्वीकृति देते हैं।

अलंकार स्नान, काञ्चल और केश-सज्जा के समान अन्तःतत्त्व से युक्त ही अथवा कटक-कुण्डल के समान पूर्णतः बाह्य, प्रत्येक स्थिति में वे सौन्दर्य की अभिवृद्धि ही करते हैं, इसलिए अलंकार का सम्बन्ध निश्चित रूप से लालित्य के साथ जुड़ जाता है। लालित्य का साधन अलंकार है।

(ख) लालित्य और औचित्य सिद्धान्त—आचार्य क्षेमेन्द्र ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त से प्रभावित थे। उन्होंने ध्वनिवादियों द्वारा औचित्य के महत्त्व की स्थापना को ध्यान में रखकर औचित्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और उसे काव्य के 'जीवातु' की संज्ञा प्रदान की। औचित्य की परिभाषा देते हुए उन्होंने

1. Raghavan, V., some concept of Alankar Shashtra, P. 263.

2. काव्यादर्श, 2/1

3. काव्यालंकार सूत्र, 1/1/2

4. “न कान्तमपि निर्भूयं विभाति वनिता मुधम्।”—काव्यालंकार

5. काव्यालंकार सूत्र, 1/2/7

कहा कि—

“उचित प्राहुराचार्याः सदृश क्लियस्य यत् ।
उचितस्य हि यो भावस्तदौचित्य प्रचक्षते ॥”¹

(अर्थात् “जो पदार्थ जिसके सदृश होता है उसे आचार्यों ने उचित कहा है, उचित के भाव को ‘औचित्य’ कहा जाता है।”)

आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य को ही काव्य-सौन्दर्य का मूलाधार मानते हैं। अनौचित्य आ जाने पर सौन्दर्य नष्ट हो जाता है तथा स्थिति हास्यास्पद बन जाती है। स्वयं क्षेमेन्द्र ने अनौचित्य के सन्दर्भ में कहा कि—

“कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा ।
पाणो नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशने वा ।
शौर्षेण प्रणते रिपौ कर्णया नायान्ति के हास्यता—
मौचित्येन विना रति प्रतनुते नालकृतिर्नो गुणाः ॥”²

(अर्थात् “यदि कोई कण्ठ में मेखला, कटि में हार, हाथों में नूपुर और चरणों में केयूर पहन ले, इसी प्रकार यदि कोई चीरता दिखाने वाले के प्रति अपनी ममता और शत्रु के प्रति कर्ण प्रदर्शित करते हैं वह हंसी का ही पात्र बनेगा। इसी प्रकार औचित्य के बिना अलंकार अथवा गुण शोभा का सर्वधन नहीं करते।”)

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को जीवन-शक्ति कहा। उन्होंने ‘रस’ शब्द का श्लेष-परक अर्थ ग्रहण करते हुए आयुर्वेद के रस से उसकी तुलना करते हुए कहा कि जिस प्रकार साधक पारे को सिद्ध करके उसे रस बनाकर अपने शरीर की जीवन-शक्ति में वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार काव्य से भी रस-सिद्धि होती है तथा उसमें औचित्य ही जीवन-शक्ति के रूप में उदित होता है—

“रसेन शृंगारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवाद-रानसिद्धस्येव तर्जवित स्थिरमित्यर्थः । औचित्य स्थिर मविश्वर जीवित काव्यस्य तेन विनास्य गुणालंकार युक्तस्यापि निर्जीवत्वात् ॥”³

औचित्य की परम्परा प्राचीन ही रही है। आचार्य भरतमुनि ने अभिनय के सन्दर्भ में औचित्य की चर्चा की थी। नाट्य-प्रयोग की सफलता की कसौटी के रूप में उन्होंने ‘लोकोचित्य’ को स्थापित किया था। आचार्य भामह ने काव्य के उत्कर्ष के सन्दर्भ में औचित्य की आवश्यकता पर बल दिया। आचार्य भोजराज ने अपने ‘शृंगार प्रकाश’ में यशोवर्मा के नाटक ‘रामाभ्युदय’ की भूमिका का एक श्लोक उद्धृत किया था जिसमें औचित्य का स्वरूप विवेचन किया गया है। आचार्य रुद्रट ने भी औचित्य शब्द को प्रयुक्त किया। आमन्दवर्धन ने रसभग के सन्दर्भ में औचित्य को प्रमुख कारण माना। उनकी

1. औचित्य-विचार-चर्चा, 6
2. औचित्य-विचार-चर्चा, 4
3. औचित्य-विचार-चर्चा, 5

दृष्टि में रस की व्यञ्जना के लिए औचित्य अनिवार्य तत्व है। आचार्य अभिनव गुप्त ने विभावदि में औचित्य की आवश्यकता पर बल दिया। भोज ने रसौचित्य को काव्य का सर्वस्व माना। आचार्य कुन्तक ने भी अपने चक्रोक्ति-सिद्धान्त में औचित्य के महत्व को स्वीकृति प्रदान की थी।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने चमत्कृति के लिए लावण्य शब्द का प्रयोग करके सौन्दर्य-तत्व की अभिव्यञ्जना की। चमत्कार रस का मूल माना गया। इस प्रकार क्षेमेन्द्र के अनुसार लावण्य अथवा लालित्य ही काव्य का मूल है।

वस्तुतः भारतीय काव्य-शास्त्र के सभी सम्प्रदाय लावण्य की चर्चा करते हैं। वे हमके लिए लावण्य, रम्य, रमणीय, सुपेशल, सुन्दर आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। ये सभी शब्द समानार्थक हैं। इनके द्वारा लालित्य की व्यापकता का ही ज्ञान होता है।

पाश्चात्य आलोचना में लालित्य-सिद्धान्त

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'लालित्य-सिद्धान्त' अंग्रेजी के 'ऐस्थेटिक्स' का समानार्थक अथवा पर्यायवाची कहा जा सकता है। अंग्रेजी शब्द 'ऐस्थेटिक्स' ग्रीक शब्द 'ऐस्थेसिस' का विकसित रूप है। ग्रीक शब्द 'ऐस्थेसिस' का अर्थ 'ऐन्द्रिय सुख की चेतना' था। क्रमशः अर्थ-विकास के द्वारा 'ऐस्थेटिक्स' का अर्थ उस शास्त्र से हुआ जिसमें 'सौन्दर्य' की परिभाषा एवं व्याख्या की जाती है। हैरल्ड ऑसबॉर्न ने 'ऐस्थेटिक्स' की परिभाषा करते हुए कहा कि "ऐस्थेटिक्स ज्ञान की वह शाखा है जिसका मुख्य कार्य यह खोजना है कि सौन्दर्य का वास्तविक अर्थ क्या होता है। इसका सम्बन्ध सौन्दर्य-सम्बन्धी समाप्त निर्णयों के लिए उपयुक्त सिद्धान्तों के निर्धारण से है।"¹

प्लेटो ने सौन्दर्य को 'प्रत्यय' की सज्ञा प्रदान करते हुए उसे भगल-विधायक माना था। प्लेटिनस सौन्दर्य को इन्द्रियों का विषय न मानकर प्रज्ञा का विषय मानते हैं। ह्यूम सौन्दर्य को आनन्दप्रद मानने के पक्ष में हैं।² गेटे सौन्दर्य को प्रकृति के समान ही वैविध्यपूर्ण मानते हैं। उनके मतानुसार कोई भी रचना अपने स्वाभाविक विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचकर ही सुन्दर बनती है। लाउयनीज ईश्वर के प्रकाश को ही सुन्दर बनाते हैं। एकबीनाश सत्य और शिव के तादात्म्य को स्वीकार करते हुए शिव को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतिपादित करते हैं। सेप्टेम्बरी सौन्दर्य को देवी शक्ति मानते हैं। वे निश्चित

1. "Aesthetic is the branch of knowledge whose function is to investigate what to be ascertained when we write or talk correctly about beauty. It is concerned logically to elucidate the notion of beauty as the distinguishing feature of work of art and to propound the valid principles which underline all aesthetic judgement."

—Aesthetics and Criticism, P. 24.

2. K. C. Panday, Western Aesthetics, P. 1.

रूप से प्लेटो से प्रभावित थे।¹ बेकन सौन्दर्य में अनुपात की विचित्रता पर बल देने के पक्षपाती हैं। देकार्त संवेदना या उत्तेजना की अनुभूति को महत्व देते हैं। स्पिनोजा नीतिशास्त्र और सौन्दर्य का निकट सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

बकं ने ऐन्द्रिय गुणों की चर्चा करके सौन्दर्य की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने सौन्दर्य को लघु, कोमल, बहुरंगी आदि माना। रस्किन ने सौन्दर्य को ईश्वर की विभूति मानते हुए उसे सहज वृत्ति के अन्तर्गत प्रस्तुत किया। एडसिन सौन्दर्य को परिवेश और संगति का परिणाम मानते हैं। हीगल सौन्दर्य को ईश्वर का प्रतिरूप ही कहते हैं। काण्ट सौन्दर्य के लिए शुद्ध आचरण पर बल देते हैं। वे सौन्दर्य को व्यक्तिगत शक्ति से निरपेक्ष मानते हैं। उनकी दृष्टि में आदर्श ही विषयवस्तु की ऐसी शक्ति है जो सामान्य व्यक्ति को एक ही समय में समान रूप से प्रभावित करने की क्षमता रखती है। काण्ट ने आरम्भ में सौन्दर्य को वैयक्तिक अनुभूति माना किन्तु बाद में वे उसमें वस्तुगत सत्ता को स्वीकृति प्रदान करते हैं। गिलर पर काण्ट का ही प्रभाव था। यही कारण है कि उन्होंने रूप और वस्तु के सौन्दर्य-एक्य को स्वीकृति प्रदान की।

बोसाके सौन्दर्य के लिए विभेद में एकाग्र-धारण की शक्ति को अनिवार्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में कलाकार और सामान्य जन के आनन्द में अन्तर होता है। इसलिए वे कल्पित रूप में प्रकाशित वस्तु धर्म की बात करते हैं।² वाशिगटन डरबिन आंतरिक सौन्दर्य को विशेष महत्व प्रदान करते हैं। वे गुणों में हीन रूपवती महिला से अप्रभावित रहने पर बल देते हैं। क्रोवे सौन्दर्य के लिए अभिव्यक्ति पर विशेष बल देते हैं। शपेनहार इच्छा-शक्ति पर बल देते हैं। कीट्स ने सत्य और सौन्दर्य के तादात्म्य को महत्वपूर्ण माना। आई० ए० रिचर्ड्स काव्य-जगत् को शेष सृष्टि से भिन्न नहीं मानते। हर्वर्ट रीड मुक्तावस्था को कलाानुभूति के समान स्वीकार करते हैं।³ जान ड्यूई पर भी रिचर्ड्स का

1. "His estenation of the term 'beauty and sens' to the goodness to morality and faculty by which we judge of it.

—Bosanquet, History of Aesthetics, P. 177.

2. "It would sufficient to define beauty as characteristic in as far as expressed for sense, perception or for imagination."

—Bosanquet, History of Aesthetics, P. 6.

3. "The work of art is in some sense a liberation of the personality normally our feelings are inhabited and repressed. We contemplate a work of art, and immediately there is release, and not only a release—sympathy is a release of feelings—but also a hightermining a tentening, a sublimation. Here is the essential difference between art and sentimentality, sentimentality is a release, but also a bracing. Art is the economy of feelings, it is emotion cultivating goodform."

—Hervert Read, Hesuins of Art, P. 31.

प्रभाव था। वे सौंदर्यानुभूति को इसी अर्थ में जीवनाभूति से भिन्न मानते हैं कि सौंदर्य की अनुभूति जीवन की अनुभूति से अधिक चारु, सूक्ष्म और तलित है।

शापेनहावर तत्व मीमांसा के आधार पर सौंदर्य की व्याख्या करते हुए उसे निष्काम कहते हैं। उनकी दृष्टि में सौंदर्यानन्द में व्यक्ति का वस्तु से तादात्म्य स्थापित हो जाता है। उस समय उसका निजी व्यक्तित्व नहीं रह जाता। वस्तुतः शापेनहावर जर्मन दार्शनिक थे। सौंदर्य की दार्शनिक व्याख्या करने के कारण वे भारतीय आचार्यों के निकट आ जाते हैं। अजं सन्तामना भी शापेनहावर के समान ही दार्शनिक ढंग से विचार करते हुए कहते हैं कि कलाकार भौतिक सत्ता से ऊपर उठ जाता है।¹

थियोडोर ने मनोवैज्ञानिक आधार पर सौंदर्य की व्याख्या की। उन्होंने मानवीय संवेदनाओं के अनुसार सौंदर्य को संवेदन करने में सहायक माना। सूरजन लेंगर ने मध्यम मार्ग अपनाते हुए कहा कि, "एक बार ज्यों हम चारों ओर से अपना ध्यान हटाकर कलाकृति की ओर उन्मुख होते हैं, हम कलाकृति से सलमन उस कलात्मक गुण के सम्पर्क में आ पाते हैं जिसे सामान्यतः सौंदर्यानुभूति कहा जाता है। यह अनुभूति कलाकृति की साक्षात् अनुभूति नहीं बल्कि उसके अनुचिन्तन से निष्पन्न 'वास्तविक संवेद्य' है क्योंकि सौंदर्यानुभूति कलाकृति में अभिव्यजित नहीं होती, बल्कि उसका सम्बन्ध तो ग्राहक से है।"²

वस्तुतः पाश्चात्य सौंदर्य विषयक चिन्तन का विश्लेषण करें तो वह दो धाराओं में बंटा दिखाई पड़ता है—(1) वस्तुनिष्ठ और (2) आत्मनिष्ठ। अरस्तू, होगार्थ, बर्क, डी० पार्कर, कूसाज आदि ने रूपाकार के सुन्दर होने के लिए कुछ तत्वों को आवश्यक माना। ये तत्व सौंदर्य को वस्तुवादी बनाते हैं किन्तु कलाकार की अनुभूति और सहृदय की अनुभूति से उनका क्या सम्बन्ध है, इस पर वे विचार नहीं करते।³

दूसरा पक्ष साहचर्यवादी रहा। एसिसन, पिअर, बफियर; जैमे, वेन आदि विचारकों ने इस बात पर बल दिया कि वस्तु अपने साहचर्य के कारण मानव-मन में संवेदना उत्पन्न करती है। आकार आदि बाह्य उपकरणों के अतिरिक्त प्रथा, स्वभाव, संस्कार, उपयोग, हानिराहित्य आदि कई आधारों पर वस्तु में सौंदर्य खोजने की प्रवृत्ति पायी जाती है। ये सभी दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ हैं। कुछ विचारकों ने सौंदर्य की आध्या-

1. In other pleasures, it is said, we gratify our senses and passion, in the contemplation of beauty we are raised above ourselves. The passions are silenced and we are happy in the recognition of a good that we do not seek to possess."

—George Santayana, *The Sense of Beauty*, P. 37.

2. डॉ० निमंता जैन, रस-सिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र, पृ० 94-95
3. "रूपाकार में सौंदर्य ढूँढने की यह प्रवृत्ति सौंदर्य को वस्तुनिष्ठ मानकर चली है। सौंदर्य का किसी प्रकार का अनुभव कर्ता से भी कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं, इस विषय में यह मत चुप ही रहा।"

—आनन्द प्रकाश दीक्षित, सौंदर्य रस, पृ० 8

रिमक व्याख्या प्रस्तुत की। प्लेटो, हीगेल, शिलिंग, प्लाटिनस इस वर्ग में आते हैं। प्लेटो ने विश्व के समस्त सौन्दर्य को मूलतः ईश्वर का रूप बताते हुए सौन्दर्यानुभूति को एक दिव्य आध्यात्म-साधना के समकक्ष महत्त्व प्रदान किया। ये लोग सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठ न मानकर मन को सौन्दर्यानुभूति का अधिष्ठान और सौन्दर्य को मानस मानते हैं।¹

माक्स ने सौन्दर्य के प्रति एक नवीन चेतना दी। उनके कारण सौन्दर्य में अर्थ-तत्त्व प्रधान हो गया। मार्क्सवादी चिन्तकों के अनुसार आर्थिक स्थिति सौन्दर्य-बोध को प्रभावित ही नहीं करती अपितु उसे बनाती भी है। माक्स सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता मानने के पक्ष में थे।

आज के युग में लालित्य-सिद्धान्त का महत्त्व .

कालिदास द्वारा प्रस्तुत लालित्य-चेतना को नवीन सदम में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत किया। सभी कलाओं के एक शास्त्र के रूप में उन्होंने सौन्दर्य-शास्त्र के स्थान पर लालित्य-सिद्धान्त को प्रस्तुत किया।

भारतवर्ष में रसशास्त्र इतना प्रमुख और प्रभावकारी रहा कि इस प्रकार के किसी शास्त्र की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई। पश्चात्त्य प्रभाव में बीसवीं शती में सौन्दर्य-शास्त्र पर विचार आरम्भ हुआ। सन् 1924 ई० में प्रो० वाण का एक निबन्ध 'माधुरी' पत्रिका में 'सौन्दर्यशास्त्र' के नाम से प्रकाशित हुआ। पुस्तकाकार रूप में सर्वप्रथम हरिवंश सिंह शास्त्री की पुस्तक 'सौन्दर्य विज्ञान' सन् 1936 ई० में प्रकाशित हुई। उसके पश्चात् हरद्वारी लाल शर्मा, रामविलास शर्मा, रामानन्द तिवारी, फनहंसिंह, कुमार विमल, नगेन्द्र, निर्मला जैन, एस० टी० मरसिहाचारी, सुरेश चन्द्र त्यागी, सूर्य प्रसाद दीक्षित, राम लखन शुक्ल आदि ने सौन्दर्य-शास्त्र पर विचार किया।

सौन्दर्य संबंधी विवेचन की आवश्यकता का मूल कारण यह रहा कि हिन्दी में सचित्र पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ ही काव्य और काव्येतर कलाओं के समन्वय की आवश्यकता प्रतीत हुई। 'सरस्वती' में आन्तरिक सज्जा-चित्र, व्यंग्य-चित्र तथा सचित्र कविताओं का प्रकाशन हुआ। सचित्र कविताओं से यह तथ्य स्पष्ट हुआ कि भाव पर काव्य और चित्रकला-दोनों ही आधित हैं। काव्य में ध्वनि-समूह है तो चित्रकला में रूप किन्तु उनकी यह भिन्नता भाव के कारण उन्हें निकट ले आती है। काव्य श्रव्य है और चित्रकला दृश्य किन्तु इन्द्रियों की भिन्नता होते हुए भी एक ही भाव को अभिव्यक्त करने में दोनों सक्षम हैं।

'सरस्वती' में विभिन्न कलाओं पर लेखों का प्रकाशन भी हुआ। सभी कलाओं के सैद्धान्तिक विवेचन से भी यह तथ्य मुखरित हुआ कि ललित कलाओं की आत्मा में कहीं-न-कहीं एव्य है। 'सरस्वती' के इस कार्य को 'माधुरी' और 'विशाल भारत' ने भी आगे बढ़ाया। इन पत्रिकाओं में कला और सौन्दर्य संबंधी लेखों का प्रकाशन हुआ। सन् 1924 ई० के फरवरी अंक में माधुरी में 'सौन्दर्य-शास्त्र' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ

प्रसाद द्विवेदी¹, हरद्वारीलाल शर्मा,² रमेश कुन्तल मेघ,³ एस० टी० नरसिंहाचारी,⁴ रामाश्रय शुक्ल 'करुणेंद्र'⁵ आदि का नाम उल्लेखनीय है।

डॉ० रामविलास शर्मा ने सौन्दर्य-शास्त्र के महत्व को प्रतिपादित करने के लिए उसका क्षेत्र-विस्तार किया है। "सौन्दर्यशास्त्र का विवेच्य विषय साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं के अतिरिक्त प्रकृति और मानव जीवन का सौन्दर्य भी है। सौन्दर्य और उसकी अनुभूति का विवेच्य उरमुक्ता की प्राप्ति के लिए ही नहीं है, उसका उद्देश्य हमारी सौन्दर्य चेतना को उत्तरोत्तर विकसित करना, मानव जीवन और उसके सामाजिक तथा प्राकृतिक परिवेश को और भी सुन्दर बनाना है।"⁶

साहित्य मानवरचित सौन्दर्य है। साहित्य के बिना किसी भी ललित कला की रचना नहीं की जा सकती। सुरेन्द्र वारसिंघे के अनुसार, "सौन्दर्य दृष्टि के बिना कला का निर्माण नहीं होता। यद्यपि सौन्दर्य का आदर्श नेत्रों के सामने रखने पर कला का निर्माण होता है।"⁷ यह उचित है कि सभी ललित कलाओं के माध्यम भिन्न हैं। "नादात्मक सौन्दर्य बोध के लिए संगीत, रेखात्मक सौन्दर्य-बोध के लिए चित्र, आकारात्मक सौन्दर्य-बोध के लिए स्थापत्य, गत्यात्मक सौन्दर्यात्मक बोध के लिए नृत्य, रूपात्मक सौन्दर्य-बोध के लिए मूर्ति और वाणी के सौन्दर्य-बोध के लिए काव्य-कला का आविर्भाव हुआ है।"⁸ माध्यमों की इस भिन्नता में सौन्दर्य एक है। भिन्न कलाओं का सुलभतमक आकलन तो साहित्य के माध्यम से किया ही जा सकता है, किसी एक कला, एक कलाकार अथवा साहित्यकार का मूल्यांकन भी साहित्य-सिद्धान्त के आधार पर सम्भव है। डॉ० परेश की 'सूरदास की साहित्य-चेतना', श्रीमती मनोरमा शर्मा की 'महादेवी के काव्य में साहित्य विधान' तथा डॉ० राधिका सिंह की 'महादेवी शर्मा के काव्य में साहित्य-योजना' शीर्षक आलोचनात्मक शोध-परक कृतियाँ इसी प्रकार की हैं। भविष्य में इस सिद्धान्त के आधार पर और भी कार्य संभव है।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कालिदास की साहित्य योजना
2. हरद्वारीलाल शर्मा, काव्य और कला, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़
3. रमेश कुन्तल मेघ, अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा
4. एस० टी० नरसिंहाचारी, सौन्दर्य तत्व निरूपण
5. रामाश्रय शुक्ल करुणेंद्र, सौन्दर्यशास्त्र
6. डॉ० राम विलास शर्मा, आस्था और सौन्दर्य, पृ० 19
7. सुरेन्द्र वारसिंघे, सौन्दर्य तत्व और काव्य-सिद्धान्त, पृ० 109
8. डॉ० भोलानाथ, आधुनिक हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 362

कलाभो का निर्माण होता है।¹ इन दोनों के द्वन्द्व को ही वे कलाओं की आत्मा का एक्य मानते हैं।

आचार्य द्विवेदी ने 'साहित्य के विभिन्न अर्थों की व्याख्या प्रस्तुत की है। इस व्याख्या का आरंभ वे मा भगवती ललिता के पौराणिक रूप की व्याख्या द्वारा करते हैं। शाक्त आगमों के अनुसार सच्चिदानन्द महाशिव की सृष्टि रचना करने की इच्छा-शक्ति इस विश्व में व्याप्त है। लोक की रचना करना उनकी श्रेया मात्र है। भगवान् शिव की लीलासखी होने के कारण उनका नाम ललिता है। यह ललिता ही सत्पुरुषों के हृदय में निवास करके उन्हें कलात्मक रचना की ओर प्रेरित करती है। नवीन रचना की इस प्रेरणा का अर्थ ग्रहण करने के कारण ही उन्होंने 'साहित्य' शब्द को उपयुक्त माना।² माँ भगवती की रचना का सौन्दर्य है और उनकी प्रेरणा से सत्पुरुष द्वारा निर्मित सौन्दर्य साहित्य है। उन्होंने माँ भगवती ललिता के स्वरूप और उनकी प्रेरणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "ललिता सहस्रनाम में इस देवी को 'चित्रकला', 'आनन्दकलिका', 'प्रेमरूपा', 'प्रियंकरि', 'कलानिधि', 'काव्यकला', 'रसज्ञा', 'रसशेवधि' आदि कहकर पुकारा गया है। जहाँ कहीं मानव-चित्त में सौन्दर्य का आकर्षण है, सौन्दर्य रचना की प्रवृत्ति है, सौन्दर्यास्वादन का रस है, वही यह देवी क्रियाशील हैं। इसलिए भी हमारे आतोच्च शास्त्र का नाम 'साहित्य-शास्त्र' ही हो सकता है। फिर मनुष्य की सौन्दर्य रचना के मूल में उसके चित्त से 'साहित्य' भाव ही है। इसीलिए साहित्य को ही उस सौन्दर्य का रूप माना जा सकता है जो मनुष्य के सलित भावों की अभिव्यक्ति करता है।"³

उपर्युक्त तथ्य से यह स्पष्ट है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शाक्त आगमों में वर्णित माँ भगवती ललिता के स्वरूप और कलाभो से उसके सबध को स्वीकार करके उनके प्रमुख गुण 'साहित्य' को ही मानव-रचित सौन्दर्य का नाम देने का एक प्रमुख कारण प्रस्तुत किया है। इससे पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र को भारतीय परिप्रेक्ष्य और

1. 'इच्छानाद है—कण्ठिनुअस है, क्रिया बिन्दु है-ब्येष्टम है। इच्छा गति है, क्रिया स्थिति है। गति और स्थिति का यह द्वन्द्व चलता रहता है। इसी से रूप बनता है, छन्द बनता है, सगीत बनता है, नृत्य बनता है। इच्छा काल है, क्रिया देश है इसी देश-काल के द्वन्द्व से जीवन रूप सेता है प्रवाह के रूप में। इसी से धर्माचरण बनता है, नैतिकता बनती है। इन सब को छापकर सबको अभिभूत करके, अतर्पित करके जो सामग्र्य का भाव है वह सौन्दर्य का दूसरा रूप है।'—

साहित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 34

2. "सत्पुरुषों के हृदय में निवास करने वाली ललिता ही वह शक्ति है जो मनुष्य को नयी रचनाओं के लिए प्रेरित करती है। इसलिए इस परम्परागृहीत अर्थ मानव-रचित-सौन्दर्य को 'साहित्य' कहना उचित ही है।"—साहित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग 7, पृ० 35

3. उपरिचिन्त, पृ० 35

परम्परा में देखने का अवसर मिल सकता है।

आचार्य द्विवेदी ने दूसरा तथ्य यह प्रस्तुत किया है कि मानव में इच्छाशक्ति के साथ-साथ क्रिया-शक्ति का विकास भी है। उनके मत में मानव-चित्त एक जैसा है। "व्यक्तिगत अनुभूति में मात्रा की कमी-बेशी हो सकती है, पर बाह्यकरणों की अनुभूति लगभग समान है। बाह्यकरणों की बनावट में भी थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है, पर उनकी आन्तरिक अनुभूति प्रायः एक-सी अर्थात् अन्तःकरण (मन, बुद्धि आदि) और ज्ञानेन्द्रियों की प्राहिकाशक्ति सर्वत्र एकसमान है। मनुष्य की यह विसंगत एकता सचमुच ही आश्चर्यजनक है। इसने इन्द्रियग्राह्य विषयों के सम्बन्ध में मानव को एकसमान प्राहिका शक्ति से सम्पन्न बनाया है।"¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य-बोध के लिए इस समान अनुभूति की सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। वे इसके पीछे किसी विराट शक्ति की क्रियाशील होते देखते हैं। मानव-मन आदिम युग से ही जड़ता के बन्धनों के विरुद्ध विद्रोह करता रहा है। सर्वप्रथम उसने नृत्य के द्वारा इस बन्धन से मुक्ति पाने का प्रयास किया, तदुपरान्त उसने मिथक का सहारा लिया।² वे मुक्ति के प्रयास करने वाले पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए स्वयं उसका उत्तर देते हैं कि, "जान पड़ता है यह उसका चैतन्य है, अनाविज्ञ व्यापक चित्तत्व उसी का अद्भुत और अक्लान्त प्रयत्न है, जो साहित्य-रचना के द्वारा नित्य बन्धनजयी होने की क्रिया से प्रकट हो रहा है।"³

वस्तुतः आचार्य द्विवेदी ने 'साहित्य-सिद्धान्त' का नामकरण माँ भगवती ललिता के उपासक होने के कारण ही किया है? 'साहित्य' में मानवीय रचना-काव्य, चित्र, मूर्ति, संगीत आदि सभी कलाओं के सौन्दर्य का समावेश हो जाता है। उन्होंने "चैतन्य की मीमाहीन अभिव्यक्ति की व्याकृतता"⁴ को ही साहित्य का मूल उत्स माना है। मनुष्य जड़ता से मुक्ति पाने के लिए अपने चेतन के उल्लास की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार की कलाओं के द्वारा करता है। इसका आदिम रूप नृत्य है तथा अन्य कलाएँ उसका विकसित रूप हैं। इन कलाओं के सौन्दर्य की परीक्षा करने वाला शास्त्र साहित्य है।

साहित्य का महत्त्व

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह स्पष्ट मान्यता है कि आधुनिक युग में नाना प्रकार के शोध और विश्लेषण के कारण मनुष्य के ज्ञान में अपार वृद्धि हुई है। "नयी ज्ञानकारियों ने मानव-चित्त की धारणाओं को समझने के लिए अनेक नये उपादान जुटाये हैं। विचारशील व्यक्तियों को इन्होंने नये सिरे से सोचने के लिए विवश किया है। ऐसा तो कोई समय नहीं रहा होगा जब मनुष्य में सौन्दर्य-बोध न रहा हो और उसे अपनी वाणी

1. साहित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृष्ठ 37
2. उपरिचत्, पृ० 38
3. उपरिचत्, पृ० 38
4. उपरिचत्, पृ० 39

या कल्पना-सर्जना के द्वारा मूर्त रूप देने का प्रयास न किया हो। परन्तु सब प्रयासों के साध्य उपलब्ध नहीं होते। कुछ उपलब्ध भी होते हैं, तो सब समय उनका अर्थ समझना आसान नहीं होता। परिस्थिति-विशेष का माध्यम चाहे वह वाणी हो, चित्र हो, मूर्ति हो—परिस्थिति के परिवर्तन के साथ अस्पष्ट और दुरह हो जाता है, काल के व्यवधान के कारण प्रतीकों के अर्थ अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं होते। प्रतीक पूरी इच्छा-शक्ति को कभी अभिव्यक्ति नहीं कर पाते।¹

परिस्थितियों के परिवर्तन और काल के व्यवधान के कारण द्विवेदी जी कलाओं के सौन्दर्य-विवेचन और मीमांसा के लिए नए शास्त्र की आवश्यकता समझते हैं। उनकी दृष्टि में आचार, रीति-रिवाज, धर्म और दर्शन तक पर पुनः विचार की आवश्यकता है। इन सबके साथ ही कलाओं में भी नवीन प्रकार के परिवर्तन हुए हैं और उन पर भी नए ढंग से विचार की आवश्यकता है।² यही कारण है कि द्विवेदी जी ने साहित्य-सिद्धान्त की आवश्यकता और उसके महत्व को समझने और समझाने का प्रयास किया है।

द्विवेदी जी ने आधुनिक युग में सभी क्षेत्रों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के समावेश को अधिक महत्व प्रदान किया है। उन्होंने वेस्टरमार्क के इस सिद्धान्त को विशेष महत्व प्रदान किया है कि, "मनुष्य एक ही जीव-श्रेणी का प्राणी है।³ यद्यपि यह सिद्धान्त इससे पूर्व भी मान्य था किन्तु आधुनिक युग में वैज्ञानिक पद्धति से इस निष्कर्ष को पुष्ट किया गया।⁴ मनोविज्ञान ने नवीनतम शोधों से यह निष्कर्ष निकाला कि "मनुष्य का चित्त एक रूप है, उसकी अवगतियाँ और उदात्तीकरण की वृत्तियाँ समान मायों से चलती हैं, उनकी अवनमिल और उन्नमिल अवस्थाएँ निश्चित परिस्थितियों में समान रूप से क्रियाशील होती हैं। जीवतात्त्विक सवेग समान भाव से सर्वत्र मानस सूक्ष्म-बोधों को उकसाते हैं—मानव चित्त एक है।"⁵

1. साहित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 21

2. "देखा गया कि आचार, रीति-रिवाजों से लेकर धर्म, दर्शन, शिल्प, सौन्दर्य तक में सर्वत्र नये सिरे से सोचने की आवश्यकता है। कोई नैतिक मूल्य अंतिम नहीं है, कोई शिल्प-विधि सर्वोत्तम नहीं कही जा सकती, कोई अभिव्यक्ति-पद्धति सर्वश्रेष्ठ नहीं हो सकती।" —उपरिवत्, पृ० 22

3. उपरिवत्, पृ० 24

4. "नृतत्व-विज्ञान ने मानव शरीर के विभिन्न अवयवों—कपाल, नासिका, जबड़े आदि—की उच्चावचता का हिसाब करके विभिन्न श्रेणी की जातियों की, परन्तु मानव-विज्ञान ने इन ऊपरी विभेदों को बहुत महत्वपूर्ण नहीं माना। मनुष्य का मन सर्वत्र एक है—एक ही प्रकार सोचने वाला, एक ही प्रकार उदबुद्ध या अबुद्ध होने वाला।" —साहित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, 7, पृ० 24

5. उपरिवत्, पृ० 24

द्विवेदी जी मानव-चित्त की एकता को प्रतिपादित करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सौन्दर्य के प्रति प्रत्येक मानव का आकर्षण होता है किन्तु "जिसके चित्त में ममत्व का लगाव अधिक है उसके लिए किसी वस्तु का आकर्षण अधिक हो सकता है, परन्तु एक साधारण 'मम' भी है। अर्थात् सामान्य रूप से सामग्र्यभाव का बोध भी है, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए आकर्षक होगा।"¹ इस प्रकार एक समष्टि-मानव चित्त की कल्पना को स्वीकार करने के पश्चात् द्विवेदी जी विशिष्ट गुणों के सामान्य भाव को लेकर सौंदर्य की परख करना चाहते हैं।

उनकी दृष्टि में कला-प्रयास के मूल में मानव की जड़ता पर विजय-प्राप्ति के प्रयास की ही अभिव्यक्ति होती है। एक जर्मन विद्वान् फ्रांक धीस ने नृत्य को "जड़ के गुस्त्वाकर्षण पर चैतन्य की विजयेच्छा का प्रयास"² कहा था। द्विवेदी जी ने फ्रांक धीस के सिद्धान्त को सभी कलाओं के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया। "जड़ता का भार नीचे की ओर ले जाना चाहता है, उल्लसित चैतन्य उसके इस विधाव का प्रतिरोध करता है। सब मिलाकर यह भौतिक भार की अवगति पर विजय पाने का प्रयास ही है और कला के क्षेत्र में कोई नयी बात नहीं है। स्थापत्य में पत्थर पर विजय पाने का प्रयास है, चित्रकला में सपाट घरातल पर और कविता में अर्थ-सीमा में बंधे शब्दों पर।"³

द्विवेदी जी साहित्य सिद्धान्त का महत्त्व प्रतिपादित करने के लिए सभी कलाओं के समान तत्वों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। सर्वप्रथम उन्होंने कलाओं के जन्म का कारण प्रस्तुत किया है। मनुष्य में चैतन्य शक्ति है किन्तु प्रकृति का जड़ तत्व उसे अधोगति की ओर ले जाने का प्रयास करता है। मनुष्य उस जड़ता पर विजय प्राप्त करने के लिए संघर्ष करता है। द्विवेदी जी के अनुसार, "मनुष्य के कला-प्रयत्नों का अर्थ ही है जड़ता से संघर्ष।"⁴ हमारा तत्व वे 'रचनात्मकता' को मानते हैं। इसके लिए वे इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति का आधार ग्रहण करते हैं। वे कहते हैं कि भारतवर्ष में मध्यकाल में भी यह मान्यता थी कि "कवि विधाता की सृष्टि से भिन्न कोई दूसरी ही सृष्टि करता है। यही बात अन्य कलाकारों के बारे में भी कही जा सकती है। इसका अर्थ है कि कवि या शिल्पी वास्तविक जगत् की वस्तुओं को देखकर पहले अपने चित्त में एक मानसी मूर्ति बनाता है और फिर उसे एक नया रूप देता है। मानसी मूर्ति कवि या शिल्पी की इच्छा-शक्ति का विलास है और रूप-रचना उसकी क्रियाशक्ति का। मानसी मूर्ति को ही भाव कहा जाता है। कवि या शिल्पी भावगूहीत रूप को शब्दों, तूलिका या छेनी आदि के द्वारा जड़ आधारों पर उतारता है। यही उसकी नयी सृष्टि है।"⁵

माचार्य द्विवेदी मानव-विकास के साथ ही इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति की

1. साहित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-भाग 7, पृ० 25
2. उपरिवत्, पृ० 28
3. उपरिवत्, पृ० 28
4. उपरिवत्, पृ० 28
5. उपरिवत्, पृ० 29

भिन्नता के विकास पर प्रकाश डालते हैं। उनके अनुसार आदिम कलाओं में इच्छा और क्रिया की पृथक्ता नहीं के बराबर थी जिसका प्रतीक ताण्डव नृत्य है। सभ्यता के विकास के साथ ही दोनों शक्तियाँ अलग होती गयीं और कलाओं में 'रस' का समावेश हुआ।

उनके अनुसार मानव ने जब वाक् तत्व का विकास कर लिया तो अभिव्यक्ति के लिए मिथक तत्व का आविर्भाव हुआ। वे मिथक तत्व पर बल देते हुए कहते हैं कि, "मिथक तत्व भी भाषा की भाँति ही निश्चित सर्जना-शक्ति का विलास है।"¹

सौन्दर्य को वे 'यस्तु की समग्रता की अनुभूति'² कहकर उसके दो स्थूल रूप मानते हैं। प्रथमतः सौन्दर्य मानव-मन को आकर्षित करता है। मनुष्य सौन्दर्य को देखकर अभिभूत होता है, प्रभावित होता है। सौन्दर्य किस प्रकार यह कार्य करता है, इस प्रश्न को वे रहस्यवादी बना देते हैं। वे किसी अदृश्य शक्ति की कल्पना से इंकार नहीं करते प्रतीत होते। वे सन्देह की स्थिति प्रकट करते हुए कहते हैं कि, 'हम यह ठीक नहीं जानते हैं कि वह किसी अन्य अदृश्य शक्ति की इच्छा से ऐसा करता है या नहीं। कोई अदृश्य शक्ति उसके द्वारा हमें प्रेरित, प्रेरित या अभिभूत करती है या नहीं। यह किसी भी मनुष्य की कल्पना या तर्क का विषय-मात्र हो सकती है। यह सबा सदिग्ध ही रहेगा कि कोई ऐसी शक्ति है जो सौन्दर्य को माधन बनाकर हमें प्रेरित या अभिभूत करना चाहती है। परन्तु हम प्रेरित, प्रेरित और अभिभूत होते हैं, यह बात असादिग्ध है।'³

वे दूसरा प्रश्न अभिव्यक्ति की सीमा पर करते हैं। मानव-मन की अनुभूति ही इच्छा-शक्ति है। कलाकार जब अनुभूति की अभिव्यक्ति करना चाहता है तो वाधा उत्पन्न होती है। भाषा में अनुभूति की अभिव्यक्ति करने की पूर्ण क्षमता नहीं है, इसलिए साहित्यकार अलंकार आदि का सहारा लेता है। इच्छा और क्रिया के द्वन्द्व को ही वे कलाओं का जन्म मानते हैं। उनके अनुसार, "इच्छा अनन्त है, क्रिया सांगत है। इच्छा-नाद है—कण्ठानुभूति है, क्रियाबिन्दु है—बलेष्टम है। इच्छा गति है, क्रिया-स्थिति है। गति और स्थिति का यह द्वन्द्व चलता रहता है। इसी से रूप बनता है, छंद बनता है, संगीत बनता है, नृत्य बनता है। इच्छा काल है, क्रिया देश है। इसी देशकाल के द्वन्द्व से जीवन रूप लेता है प्रवाह के रूप में। इसी से धर्माचरण बनता है, नैतिकता बनती है। इन सबको छापकर सबको अभिभूत करके, सबको अन्तर्ग्रहित करके जो सामग्र्य भाव है वह सौन्दर्य का दूसरा रूप है। यह भाषा में, छन्द में, मिथक रूप में, नृत्य में, गीत में, मूर्ति में, चित्र में, सदाचार में अपने-आपको प्रकट करता है।"⁴

इस प्रकार द्विवेदी जी चैतन्य की ही अभिव्यक्ति पर बल देते हैं। चैतन्य के कारण ही कालित्य-रचना होती है। "जान पड़ता है यह उसका चैतन्य है, अनाविल

1. कालित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-भाग 7, पृ० 33

2. उपरिबत्, पृ० 33

3. उपरिबत्, पृ० 33

4. उपरिबत्, पृ० 34

व्यापक चित्तत्व, उसी का अद्भुत और अक्लान्त प्रयत्न है, जो साहित्य-रचना के द्वारा नित्य बन्धनजयी होने की क्रिया से प्रकट हो रहा है।”¹

द्विवेदी जी साहित्य के महत्व को प्रतिपादित करने के लिए कला का मुख्य प्रयोजन रूप की सृष्टि मानते हैं। उनके अनुसार, “आपात-दृष्टि से यह जान पड़ेगा कि रूप-सर्जना कलाकार का मुख्य उद्देश्य है। अगर कलाकार रूप की सृष्टि नहीं करता तो वह कुछ भी नहीं करता। कवि, नाटककार, गीतकार, चित्रकार और मूर्तिकार का मुख्य उद्देश्य है, रूप देना।”² रूप की अभिव्यक्ति के प्रश्न पर द्विवेदी जी स्पष्टतः मानते हैं कि कलाकार ‘यथादृष्ट’ चित्रण उसी प्रकार नहीं कर सकता जिस प्रकार कंभरा ‘यथादृष्ट’ चित्र खींचता है। वे एक जर्मन चित्रचित्रि लुडविग की आत्मकथा के एक प्रसंग से अपनी बात की पुष्टि करते हैं। एक बार लुडविग अपने तीन मित्रों के साथ तिवोली की सुप्रसिद्ध सुन्दर स्थली का चित्रांकन करने के लिए गए। वहाँ उन्होंने फ्रांसीसी चित्रकारों को देखा जिनके पाम चित्रांकन का भारी साज-सामान था। उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से उस स्थल का चित्रांकन किया। उन चारों चित्रकारों ने जब अपने-अपने चित्रों का मिलान किया तो अत्यधिक आश्चर्य हुआ क्योंकि चारों चित्र एक-दूसरे में भिन्न थे। उदास प्रवृत्ति के चित्रकार ने अपने चित्र में नीले रंग पर अधिक जोर दिया था। यही कारण है कि जोला ने कलाकृति को “किसी विशिष्ट मानसिक शक्ति द्वारा देखा हुआ प्रकृति का एक कोना” कहा था।³ इन प्रकार द्विवेदी जी की स्पष्ट मान्यता है कि आत्म-निरपेक्ष चित्रण प्रयत्न-माध्य है। आत्मपरक तत्व पूर्णतः दबाये नहीं जा सकते। चित्रकला के समान ही काव्य में भी आत्मपरक तत्व निश्चित होते हैं। इसका कारण प्रस्तुत करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि, “आँखों की कनीनिका के पीछे उसका मन है और मन को गतिशील बनाने वाला है उमका चैतन्य।”⁴ मानव स्वभावतः एक सृष्टा है, इसीलिए वह प्रकृति में भी मूर्तियों के वर्णन कर लेता है। “दीवार के अनगढ़ धब्बों में भी चित्र खींच लेता है। उसकी सृष्टि लीला का ही प्रभाव है कि कलाकार जैसा है—वैसा का अकन नहीं कर पाता। पद-पद पर वह (चैतन्य) अपनी सर्जन-लीला का प्रभाव कलाकार पर डालता है। वह प्रत्येक पदार्थ को यथासाध्य अपनी अनुभूति की भाषा में रूपान्तरित करता रहता है।”⁵ यही कारण है कि आँधे को देखकर शेष आँधे की वह कल्पना कर लेता है।

द्विवेदी जी इच्छा, ज्ञान और क्रिया को मानव चैतन्य की विशेषता मानते हैं। इच्छा-शक्ति और क्रिया शक्ति को समझाने के पश्चात् वे ज्ञान-शक्ति को भी स्पष्ट करते हैं। उसके अनुसार, “मनुष्य के भीतर जो चैतन्य है, वह अपनी इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति के माध्यमों में द्रष्टक के स्वरूप को ग्रहण करता है। उसका देखना उसका जानना

1. साहित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-भाग 7, पृ० 38
2. उपरिवत्, पृ० 40
3. उपरिवत्, पृ० 41
4. उपरिवत्, पृ० 42
5. उपरिवत्, पृ० 42

भी है। वह द्रष्टव्य को जानता है। जानने में केवल द्रष्टव्य का बाधातद्रष्ट रूप (एपियरेंस) ही नहीं होता और भी बातें होती हैं। यह उसकी ज्ञानशक्ति है।¹

द्विवेदी जी की मान्यता यह है कि कलाकार में इच्छा, क्रिया और ज्ञान की जो तीन शक्तियाँ निहित हैं, उन्हीं के कारण वह विषयपरक रचना करने में असमर्थ होता है। उनके अनुसार विषयपरक रचना मात्र एक आदर्श, एक शुद्ध बौद्धिक कल्पना है।² उक्त तीनों शक्तियों के कारण ही कलाकार की रचना में आत्मपरकता का समावेश हो जाता है।

द्विवेदी जी के अनुसार सहृदय में भी इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इन तीनों शक्तियों का समावेश रहता है। सहृदय भी कलाकार के समान देवता है, रचता है और जानता है। रूपकार की रचना सहृदय की किसी एक शक्ति को अधिक उभार सकती है। जब किसी कलाकार की कृति का मूल्यांकन किया जाता है तो इस तथ्य का विशेष महत्व होता है कि उस कृति ने सहृदय की किस शक्ति को विशेष रूप से प्रभावित किया है। द्विवेदी जी ने कुछ 'जनवृक्षशास्त्रियों' के अनुभव के आधार पर अपनी बात को सिद्ध किया है। उन जनवृक्षशास्त्रियों ने फोटोग्राफी से अनभिज्ञ लोगों को कुछ फोटो दिखाये तो उन 'आदिम' जाति के लोगों ने फोटो के विभिन्न प्रकार के रंगों की व्याख्या करने का प्रयास किया।³ इसी प्रकार जब बासको को कोई फोटो-चित्र दिखाया जाता है तो वे पूरी कहानी गढ़ने में समर्थ होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि दर्शक में भी सर्जनात्मक कलावृत्ति होती है।⁴ द्विवेदी जी के अनुसार कलाकार अपने-आपको तटस्थ रखने का प्रयास करे, तब भी उसे कुछ कलागत रूढ़ियों और प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। सहृदय को यदि कलागत रूढ़ियों और प्रतीकों की समझ नहीं होगी तो वह कलागत आनन्द की अनुभूति नहीं कर सकेगा।⁵ अफ्रीका के योस्वा नृत्य में नकली चेहरे या मास्क को उन्होंने इसी प्रकार की कलागत रूढ़ियाँ माना है जबकि कुछ यूरोप और अमेरिका के कला-समीक्षकों ने उसकी गलत व्याख्या की है। द्विवेदी जी हर्सेकोवित्स की व्याख्या को नहीं मानते हुए कहते हैं कि, "यह रूप अमरीका और यूरोप के विद्वान और सहृदय कला-समीक्षकों द्वारा मानव-चेहरे का रूढ़ीकरण कहा गया है, जिसमें कि चेहरे और सिर के

1. साहित्य तरव, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-भाग 7, पृ० 43

2. "कोई भी रूपकार—चाहे वह शब्द-विज्ञानी हो, चित्र-शिल्पी हो या मूर्ति-शिल्पी—किसी वस्तु को विशुद्ध विषय-परक रूप में नहीं ग्रहण कर पाता। विशुद्ध विषय-परकता एक आदर्श मात्र है, एक शुद्ध बौद्धिक कल्पना।"—उपरिक्त, पृ० 43

3. साहित्य तरव, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-भाग 7, पृ० 43

4. "इसी वस्तु का एक ध्यान देने योग्य पक्ष यह है कि फोटो-चित्र में दर्शक की सर्जनात्मक कल्पनावृत्ति कलावृत्ति काम करती रहती है, जबकि अन्य कला-कृतियों में कलाकार की सर्जनात्मिका भी काम करती रहती है।"—साहित्य तरव, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-भाग 7, पृ० 44

5. उपरिक्त, पृ० 44

अनुपातो को बदलकर पिण्डों की कुशल अभिव्यक्ति दिखायी गयी है। सदा ही यह चर्चा इस नकली चेहरे को लम्ब स्थिति में रखकर की गयी है, इस दृष्टिक्रम (पर्सपेक्टिव) में अवश्य ही इसकी विकृतिया उभर आती हैं जो कि कला की आलोचना के सूटम विश्लेषण को जन्म देती हैं।¹

कलाकार और सहृदय दोनों में ही वे प्रतिभा, अभ्यास और निपुणता के तत्व को स्वीकार करते हैं। कलाकार अपने चेतन धर्म के अनुसार वस्तु को देखकर अपने ज्ञान की सीमा से उसे वेदित करता है। कुछ बातें वह परम्परा से भी ग्रहण करता है और उसके पश्चात् वह अपने तात्कालिक मनोभाव के अनुसार उसे नवीन अर्थ प्रदान करता है। "रुद्रियो, अभिप्रायो, प्रतीको और परिपाटी-विहित साज-सज्जा में वह बहुत-कुछ यथवत् काम करता है। इसमें उमका अभ्यास और उसकी निपुणता उसे सफलता प्रदान करती है। जिन कलाकारों में रचना की सहज शक्ति नहीं होती, वे यही रुक जाते हैं।"² इसी प्रकार सहृदय में भी कार्य तत्पर सर्जक विद्यमान रहता है। वह भी वस्तु को नया अर्थ देने में सक्षम होता है।

आचार्य द्विवेदी यथार्थवादी चित्रण को आदर्श ही मानते हैं। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता को प्रस्तुत करते हैं। कविता में झोलम की एक संध्या का चित्रण किया गया है। कविने आरम्भ में उपमानों के द्वारा यथार्थ चित्रण का प्रयास किया है किन्तु उसके पश्चात् कवि की अनुभूतियों का चित्रण है। द्विवेदी जी कहते हैं कि, "यथार्थ चित्रण का प्रयास यही तक समाप्त हो जाता है। इसके बाद उसके चित्त की अनुभूतिया उठेल हो उठती हैं। वह ऐसा कुछ देखने और सुनने लगता है जो अन्य दृष्टा के लिए संभव नहीं है। अन्य दृष्टा भी वहाँ कुछ ऐसा अनुभव कर सकता है जो उसका एकांत निजी हो, परन्तु ऐसा संभव है कि वह अनुभूति को रूप नहीं दे पाता। कवि अपनी अनुभूति को रूपायित करता है। नये चित्र, नयी ध्वनिया, नये राग, नया दर्शन एक-पर-एक इस प्रकार आते-जाते हैं, जैसे कोई चतुर जादूगर एक मूर्ति में से सैकड़ों मूर्तियाँ निकालकर रख देता है।"³

उपर्युक्त कथन का स्पष्ट अर्थ है कि मानव जब किसी दृश्य को देखता है तो उसकी अनुभूतिया और ज्ञान उसमें जुड़ जाते हैं। उसके सस्कार भी साथ ही जुड़ते हैं। "मनुष्य का सर्जक चित्त उसे अनेक रागों, रूपों, छन्दों, वर्णों में प्रतिफलित करके देखता है।"⁴ कलाकार के देखने में सामान्य व्यक्ति के देखने से अन्तर होता है। कलाकार अपने ज्ञान के माध्यम से वस्तु को देखकर अपने हृदय में उसका प्रतिबिम्ब बनाता है और फिर उस प्रतिबिम्ब को नवीन ढंग से रचना के रूप में प्रयुक्त करता है। इस रचना का रूप स्थूल इन्द्रियग्राह्य होता है। जानने और देखनेकी शक्ति अनेक जीवों में मिलती है किन्तु इन्द्रिय-

1. साहित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 44

2. उपरिचत्, पृ० 45

3. उपरिचत्, पृ० 45

4. उपरिचत्, पृ० 47

ग्राह्य स्थूल रूप में रचना करने की शक्ति केवल मानव के पास है। यही शक्ति मानव को शेष प्राणियों से भिन्न करती है। इस प्रकार द्विवेदी जी मानव की सिसृद्धा को विशेष महत्व प्रदान करते हैं। सर्जनेच्छा की व्यापकता को स्वीकार करके भी सर्जन की क्रिया-शक्ति को विरल ही मानते हैं।¹ वे सर्जनेच्छा को मानव की इच्छा-शक्ति मानते हैं तथा सर्जन की क्रिया-शक्ति को मानव की क्रिया-शक्ति के रूप में देखते हैं। इस प्रकार वे इच्छा-शक्ति और क्रिया शक्ति की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

द्विवेदी जी ने मानव की ज्ञान-शक्ति को भी अन्य प्राणियों की ज्ञान-शक्ति से भिन्न माना है। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए वे ग्रीक आचार्यों द्वारा कला को 'अनुकरण' मानने के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए एक पाइथागोरियन साधु अपोलोनियस के जीवन के एक भागिक प्रसंग को प्रस्तुत करते हैं। अपोलोनियस अपने विश्वस्त शिष्य दामिस के साथ भ्रमण करता हुआ भारत आया था। वे दक्षिण भारत के किसी राजा से मिलने गये। जब वे बुलावे की प्रतीक्षा में थे तो उन्होंने राजद्वार के बाहर एक घातुनिर्मित उत्कीर्ण मूर्ति देखी। अपोलोनियस ने अपने शिष्य और साथी दामिस से प्रश्न किया कि लोग चित्र क्यों बनाते हैं? स्वभावतः उत्तर आया कि 'अनुकरण के लिए।' इसके पश्चात् उस साधु ने पूछा कि आकाश में बादलों में चित्र क्यों बन जाते हैं? दोनों ने यह स्वीकार किया कि मानव अनुकृति में रुचि रखता है, इसलिए वह मेषों में आकृति की कल्पना कर लेता है। इस प्रकार 'दृष्टा का मन भी अनुकृति का हिस्सेदार' होता है। ग्रीक साधुओं की यह मान्यता है कि दृष्टा के मन में भी 'अनुकरणात्मक शक्ति' होती है, मानव के देखने की क्रिया को अन्य जीवों के देखने की क्रिया से विशिष्ट बनाती है। द्विवेदी जी निष्कर्ष निकालते हुए कहते हैं कि—

“अपोलोनियस ने यहाँ जित वस्तु को 'इमिटेटिव फ़ैकल्टी' या अनुकरणात्मक प्रवृत्ति कहा है, वह वस्तुनः मानव-चित्तम् की वह विशिष्ट शक्ति है जो दृष्टा के चित्त में रूप-कल्पना को प्रेरित करती है।”²

द्विवेदी जी आदिम मनुष्य द्वारा प्रकृति के विभिन्न अवयवों में रूप-कल्पना को इसी अर्थ में ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार मानव के पास ऐसी शक्ति है कि जहाँ अर्थ नहीं है, वहाँ भी वह अर्थ खोज लेता है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वे चीन के

1. “इस दृष्टि से मनुष्य की विशेषता उसकी सिसृद्धा अर्थात् सर्जन करने की इच्छा में ही है। यह अन्य जीवों में पायी जाने वाली सामान्य इच्छाओं से भिन्न है। अन्य जीवों में पायी जाने वाली सामान्य इच्छा उनको प्राथमिक आवश्यकता—आहार आदि—भी इच्छा तक सीमित है। मनुष्य की सर्जनेच्छा उस कोटि की नहीं है। फिर मनुष्य में सर्जनेच्छा तो व्यापक रूप से पायी जाती है, पर स्थूलरूप-निर्माण वाली सर्जन-क्रिया कुछ हद तक ही पायी जाती है।”—साहित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 48

2. उपरिबत्, पृ० 49

3. उपरिबत्, पृ० 49

चित्रकार संगति द्वारा श्वेत-युग-शिहू को प्राकृतिक प्रभाव लाने के लिए दो गयी शिक्षा का उल्लेख करते हैं। उसने कहा था कि—

“पुरानी दीवारों के घट्टों को देखो, या फिर दीवार पर रेसमो कपड़े का टुकड़ा साट दो और उसके पुराने होने की प्रक्रिया को देखो। जब रेसम का कपड़ा सड़ जायेगा तो उसमें कुछ अशुभ बच जायेगा, कुछ झीना पड़ जायेगा और कुछ सड़ जायेगा। जो बच जाये उसे पहाड़ बना दो, निम्नतर मार्ग को पानी बना दो और छेद को दर्रे बनाओ। टूटी जगहों को जलधारा बनाओ। हल्की जगहों को अपने नजदीक का और भूरे रंग की जगहों को दूर का हिस्सा बनाओ। सारी बातों को मन में धारण करो। खूब ध्यान से देखोगे तो फिर धीरे-धीरे आदमी, चिड़िया, पौधे, दरख्त उसमें दिखने लगेंगे। अब अपनी तूली चलाओ।”¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कई उदाहरणों से इस तथ्य को पुष्ट करते हैं कि ग्रीक जिसे ‘अनुकरण’ कहते हैं, उसमें अर्थ की व्यापकता है। वह सामान्य अनुकरण नहीं है। वे उसे ‘अनुभवन की प्रक्रिया’ मानते हैं। उनके अनुसार दृष्टा के मन में सर्जनात्मिका कल्पना क्रियाशील रहती है। इसी ‘सर्जनात्मिका कल्पना’ के कारण रूपकार यथार्थ चित्रण नहीं कर पाता। जड़ तत्व की बाधाओं से भी उसे सचर्प करना पड़ता है। सर्जनात्मिका वृत्ति माना प्रकार की बाधाओं से सचर्प करके बिजयी भी हो सकती है तथा पराजित भी रह सकती है। यह कलाकार की शक्ति पर निर्भर करता है। वे ‘एक्स’ किरणों के प्रयोग को बताते हुए कहते हैं कि, “मनुष्य का चित्त जब पूर्ण रूप से अपने पर आप ही विजय नहीं पा लेता तब तक वह राजसिक और तामसिक वृत्तियों में उलझा रहता है, तब तक वह चाचल्य का शिकार होता है। इस अवस्था में वह अच्छी रचना नहीं दे पाता। यह उसकी आन्तरिक बाधा है। एक्स—किरणों ने उसकी इस आन्तरिक बाधा को भी पकड़ लिया है। अतः माध्यम के अनुशासन को और उसके प्रतिरोध को अधिकारिक स्वीकार करते हुए तथा यथासंभव उस पर भी अनुशासन करते हुए उभय पक्षीय प्रक्रियाओं के बीच ही कलाकार उच्चता, कौशल और ध्येयता को प्राप्त करता है।”²

आचार्य द्विवेदी कलाओं के सदर्थ में वैज्ञानिक विश्लेषण को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि आधार-फलक के प्रतिरोध का कलाकार द्वारा सामना करना पड़ता है। विभिन्न चित्रों पर डाली गई एक्स किरणों से यह ज्ञात हो गया कि पहले कठि अथवा टांग का कोण झुका हुआ बनाया गया और बाद में उसे ठीक किया गया। कलाकार अपने संकल्प के कारण अपने चित्र में परिवर्तन कर उसे सुन्दर रूप देने में समर्थ हो सकत। यह कार्य प्रातिभ कलाकार द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। द्विवेदी जी के शब्दों में “दीर्घकाल के मनन-चिन्तन के बाद और अत्यन्त विशिष्ट प्रतिभा के अधिकारी शिल्पी द्वारा ही माध्यम के निजी रूप, छन्द, लय और इगित को समझा जा सकता है। ‘माध्यम को अनुकूल बनाने’ की बात इस प्रकार की विशिष्ट प्रतिभा द्वारा सहज साध्य होती है। जिस

1. साहित्य तरंग, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 50

2. उपरिबद्ध, पृ० 50

प्रकार सिद्ध कवि ही विषय के अन्तर्निहित छन्द और लय का सन्धान पा सकता है, उसी प्रकार सिद्ध मूर्ति-शिल्पी ही माध्यम के अन्तर्निहित छन्द और राग को पहचान सकता है।¹

इस प्रकार कलाकार बाह्य जड तत्वों की सहायता लेकर ही अपनी रचना कर पाता है। वे इसी आधार पर प्रतिभा की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि, “शक्ति या प्रतिभा इसी चित्तत्व के गतिमय सर्जनशील रूप का नाम है।”² स्थिति और गति का द्वन्द्व ही रूप की रचना करने में समर्थ होता है। वे अभ्यास और निपुणता को भी इसी आधार पर परिभाषित करते हैं, “रूप-रचना के लिए बाह्य जड तत्वों के साथ निपटना पड़ता है, उनकी अनुकूलता की याचना करनी पड़ती है। उनसे समझौता करना पड़ता है। अभ्यास और निपुणता इसी प्रक्रिया का नाम है।”³ जड तत्व प्रतिरोधक है किन्तु अनुकूल बना लिये जाने पर सहायक और मित्र बन जाता है।

आचार्य द्विवेदी जड तत्व के प्रतिरोध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यह जगत् नाम और रूप, पद और पदार्थ से बना है। प्राणिशास्त्र के अनुसार गर्म खून वाला मानव ही वाक् सम्पत्ति से युक्त है, अन्य प्राणियों के पास इस सम्पत्ति का अभाव है। अन्य इन्द्रियों के अर्थ और उसकी शक्तियाँ अन्य प्राणियों को भी सुलभ हैं और कुछ उनके अधिकारी हैं किन्तु शब्द-शक्ति में वे मानव के निकट भी नहीं हैं। पशु-पक्षी अपने मन के भय, उल्लास, सगनेच्छा आदि मनोभावों को व्यक्त करने के लिए कुछ विशिष्ट ध्वनियों का व्यवहार करते हैं किन्तु भाषा की शक्ति उनके पास नहीं है। मानव ने भी आरम्भ में इसी प्रकार की ध्वनियों का सहारा लिया होगा? हजारी वर्ण के पश्चात् ही वह वर्ण या प्रसार का भेद कर पाया होगा? आरम्भिक भाषा के बारे में द्विवेदी जी का मत है कि उसकी मूल विशेषता संगीतात्मकता रही होगी। इसका प्रमाण देते हुए वे कहते हैं कि आदिम जातियों की भाषा में आज भी संगीतात्मकता का गुण अधिक मिलता है। इसलिए वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि, “कहने का मतलब यह है कि आदिम मानव की भाषा अविभाज्य वर्ण—वैशिष्ट्यवती और लयात्मक थी। संगीत आदि मानव का प्रथम आविष्कार नहीं है, प्रथम प्रयत्न—साध्य त्याज्य वस्तु है। वर्ण वैशिष्ट्यवती भाषा और पदार्थों के नामकरण के प्रयत्न ने धीरे-धीरे संगीतात्मक भाषा से मुक्ति पायी है।”⁴

वस्तुतः द्विवेदी जी का मत यह है कि सभ्यता की ओर विकसित होने वाले मनुष्य ने संगीत—विरहित भाषा की प्राप्ति का प्रयत्न आरम्भ किया। इसका कारण प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि, “पारस्परिक सहयोग और बाह्य जगत में संपर्क इन दो उद्देश्यों से मनुष्य को ‘प्रयोजन’ के वश में आना पड़ा। केवल अन्तर की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति से वह आत्मरक्षा नहीं कर सकता था। काम नहीं चला तो कामचलाऊ (या

1. लालित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 53

2. उपरिवत्, पृ० 53

3. उपरिवत्, पृ० 54

4. शिक्षा का स्वरूप, लालित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग 7, पृ० 58

प्रयोजनपरक) माध्यम की जरूरत हुई। संघर्ष की बुद्धि और सहयोग की अत्यधिक आवश्यकता ने उसे 'संगीतात्मकता' को छोड़कर गद्यात्मकता की ओर अग्रसर होने के लिए बाध्य किया।¹

द्विवेदी जो मानव-सभ्यता के विकास और संगीतात्मकता को परस्पर-विरोधी स्थिति में चित्रित करते हुए भी मानव के लिए संगीत की परम आवश्यकता को समझते हैं। मानव संगीत के लिए व्याकुल था किन्तु प्रयोजनपरक भाषा संगीत से दूर ले जा रही थी, परिणामतः कविता, अभिनय और चित्रकला आदि का जन्म हुआ।² प्रयोजनवती गद्यात्मक भाषा की मार से बचने के लिए ही मानव ने विभिन्न ललित कलाओं का सृजन किया। इस संदर्भ में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक की कविता की कुछ पक्तियों को उद्धृत किया है जो इस प्रकार हैं—

“हाय, भाषा मनुज की है बंधी केवल अर्थ के दृढबन्ध में,
चक्कर लगाती है सदैव मनुष्य को ही घेरकर। अविराम बोझिल
मानवीय प्रयोजनों से रुद्ध हो आया गिरा का प्राण है।”³

आचार्य द्विवेदी की यह मान्यता है कि भाषा व्याकरण सम्मत होकर प्रतीकात्मक शब्दों का संगठन है जो एक ओर बाह्य जगत में स्थित पदार्थों का प्रेक्षण करती है तो दूसरी ओर वह मानव के अन्तर्जगत की प्रकृति प्रवृत्त स्वतन्त्र ध्येयस्था के अधीन होती है। भाषा की सार्थकता दोनों व्यवस्थाओं का सामंजस्य स्थापित करने में ही होती है।⁴ भाषा को सार्थक बनाने के लिए ही अनमिल शब्दों का प्रयोग किया जाता है। 'भाग से सीचना' इसी प्रकार का प्रयोग है। 'भाग' और 'सीचने' में क्रिया के साथ सामंजस्य का अभाव होते हुए भी प्रयोजन के कारण लक्षणा और व्यंजना का सहारा देने पर वह सार्थक प्रयोग हो जाता है। इससे अर्थ प्रतीति गाढ़ बनती है। वे स्पष्ट कहते हैं कि—

“भाषा सब कहाँ कह पाती है? आज भी हम भावावेश की अवस्था में काकु और स्वराघात के तारतम्य के अनुसार कह जाते हैं। हाथ धुमाकर, मुँह बनाकर, आँखों की विशिष्ट भंगिमी के द्वारा हम अनकही कहने की कोशिश करते हैं।”⁵

भाषा जो नहीं कह पाती है, उसी को कहने के लिए छद्म, सुर, लय आदि का सहारा लिया जाता है। एक ओर बाह्य जगत् का यथार्थ है जो प्रयोजनपरक है और दूसरी ओर अन्तर्जगत् की सहजात भावधारा है। इन दोनों के व्याकुल संघर्ष से ही काव्य का जन्म मिलता है। द्विवेदी जी के अनुसार 'कविता समस्त कलाओं की जननी है।’⁶ वे

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-भाग 7, पृ० 56

2. उपरिखत्

3. सिसुक्षा का स्वरूप, कालित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-7 पृ० 58

4. “भाषा दोनों व्यवस्थाओं के बीच जब तक सामंजस्य स्थापित नहीं करती तब तक चरितार्थ नहीं होती।”—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सिसुक्षा का स्वरूप, कालित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 56

5. उपरिखत्, पृ० 57

6. उपरिखत्

उसे आदिम मानते हैं तथा कहते हैं कि पद का महत्व पदार्थ से अधिक होने के कारण उसे अनुवादित नहीं किया जा सकता। पदार्थ के कारण जब कविता को व्याकरण-सम्मत बनाया जाता है तो उसकी दरिद्रता ही बढ़ती है।

वस्तुतः बाह्य जगत् में भाषा के लिए एक ठो बाह्य सत्ता की व्यवस्था है और दूसरी व्याकरण की। कविता इन दोनों व्यवस्थाओं से तो संचालित होती है किन्तु एक उसकी रचय की व्यवस्था भी होती है जो छन्द, लय, यति, तुक आदि की है। इस स्वयं की व्यवस्था के द्वारा उसमें 'शब्द' प्रमुख हो जाता है।¹ प्राचीन मान्यता के अनुसार शब्द और पदार्थ की एकता का विश्वास किया जा सकता है। शब्दार्थ की समशीलता कविता के द्वारा सिद्ध होती है। इसीलिए आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि "निस्सन्देह कविता में शब्द मुख्य है, उसमें पदार्थ से अभिन्न बनने की रहस्यमयी शक्ति है।"² कविता का शब्द रमणीय अर्थ में युक्त है और अर्थ-विरहित काव्य मात्र सगीत है।

इस प्रकार आचार्य द्विवेदी ने काव्य और सगीत का संबंध स्थापित किया है। बाह्य जगत् की व्यवस्था से सम्पृक्त शब्द ही काव्य बनेगा और असम्पृक्त होकर सगीत बन जायेगा।

आचार्य द्विवेदी चित्र-प्रतीक और शब्द-प्रतीक में अन्तर करते हुए कहते हैं कि चित्र-प्रतीक शब्द-प्रतीक के समान प्रक्षेपण नहीं करते अपितु वे अर्थ की प्रतीति साक्षात् रूप से कराते हैं। वे उदाहरणस्वरूप बताते हैं कि "चित्रलिखित घोड़ा व्यक्ति-मानस में अनुभूत घोड़े की स्मृति जाग्रत करता है।"³ शब्द-प्रतीक समाज द्वारा स्वीकृत और संकेतित है जबकि चित्र-प्रतीक बाह्य पदार्थ से साक्षात् संबन्धित होता है। उसका बाह्य-जगत् से तर्कसंगत वैचित्र्य होता है जिसे 'सादृश्य' की सजा दी जाती है।

आचार्य द्विवेदी के अनुसार शब्द काल के आयाम में व्यक्त होता है। शब्द के उच्चारण में प्रथम ध्वनि से अन्तिम ध्वनि तक समय व्यतीत होता है। इसीलिए वे उसे गतिशील कहते हैं। शब्द की इस गतिशीलता के आधार पर वे कविता के आयाम-काल की सर्चा करते हैं। कविता एक आयामी है जबकि चित्र दो आयामी और मूर्ति तीन आयामी है। बाह्य जगत् के चार आयाम हैं। इस अन्तर को उपस्थित करते हुए वे कहते हैं कि "प्राचीन आर्यशास्त्री शब्द, गति और काल को एक ही श्रेणी में नहीं रखते, एकार्थक भी मानते हैं। नाद या शब्द उनके मत से इच्छा-रूप होने से गत्यात्मक है—कण्टिनुअम। बिन्दु या स्थान त्रियारूप होने से स्थित्यात्मक होता है—क्वेन्टम। चित्र और मूर्ति बिन्दु—समवाय हैं। स्थितिशील। कविता नाद—समवाय है—गतिशील।

1. "यद्यपि कविता अर्थ से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकती, और सच तो यह है कि शब्द और अर्थ के सहित-सहित बने रहने के कारण ही किसी समय इसे 'साहित्य' कहा गया था, पर शब्द उसके मुख्य उपादान हैं।"—सितसुधा का स्वरूप, साहित्य-तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रथावली, पृ० 57-58

2. उपरिच्युत्, पृ० 58

3. उपरिच्युत्, पृ० 58

कविता का एक आयाम है—काल। चित्र के दो हैं—लम्बाई और चौड़ाई, दैर्घ्य और प्रस्य। मूर्ति के तीन हैं—लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, दैर्घ्य, प्रस्य और स्थैत्य। बाह्य-जगत् की सत्ता चार आयामों में है—लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई और काल।¹

द्विवेदी जी बाह्य जगत् की सत्ता के चार आयाम बताकर यह प्रमाणित करते हैं कि मानव द्वारा रचित कलाओं के शिल्प में बाह्य-जगत् की यथार्थ अभिव्यक्ति संभव नहीं है क्योंकि कविता, चित्र और मूर्ति कला में से किसी भी कला के चार आयाम नहीं हैं। यस्तुतः यथार्थ तो केवल आपेक्षिक तत्व है। कलाकार अन्यथाकरण 'डिस्टॉर्शन' के माध्यम से यथार्थ की अभिव्यक्ति करता है। चार आयाम वाले जगत् को एक, दो या तीन आयाम में बदलने के लिए उसे कुछ-न-कुछ छोड़ना पड़ता है, इसलिए वह तथ्यात्मक बाह्य-जगत् की सत्ता को बदलता है। यही अन्यथाकरण की प्रक्रिया है। अन्यथाकरण करता हुआ भी वह प्रयास करता है कि वस्तु वैसी-की-वैसी बनी रहे। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में राजा दुष्यन्त के कथन का उल्लेख करते हुए द्विवेदी जी प्रमाणित करते हैं कि कालिदास अन्यथाकरण तो मानते ही थे, वे यह भी स्वीकार करते थे कि कलाकार कुछ छोड़ता है तो कुछ जोड़ भी देता है।²

आचार्य द्विवेदी मानव द्वारा अन्यथाकरण करने की प्रवृत्ति को उसकी इच्छा-शक्ति का कार्यान्वयन स्वीकार करते हैं। वे इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पशुओं द्वारा भय, उल्लास और संगम्रेच्छा की अभिव्यक्ति के लिए ही वाक्-शक्ति का सहारा लिया जाता है। उसमें ज्ञातृपक्ष और ज्ञेय पक्ष में भेद करने का विवेक नहीं, इस लिए उसकी भाषा ज्ञातृ-ज्ञेय विवेक से असम्बन्धित होती है। मानव ने इस भेद को प्राप्त कर लिया। "मनुष्य का सार्वभौमिक संगठन और मानसिक विकास कुछ इस प्रकार हुआ है कि वह ज्ञातृ-ज्ञेय विवेक में समर्थ हो गया। यही से मनुष्य मनुष्येतर सृष्टि से अलग हो गया। उसने ज्ञातृ-पक्ष और ज्ञेय-पक्ष में भेद किया। ज्ञेय के स्वरूप को समझने के कारण प्रतीकार के उपाय भी उसे सूझे। इस उपाय के लिए उसने प्रथम बार इच्छा-शक्ति का उपयोग किया। इच्छा-शक्ति के सहारे उसने ज्ञेय-जगत् का अन्यथाकरण शुरू किया—अन्यथाकरण, अर्थात् ज्ञेय-जगत् के पदार्थों को अपनी सुविधा के अनुसार अन्य रूप देना। कदाचित उसने पेड़ की डाल को छील-छालकर दूर तक फेंके जाने योग्य टण्डा बनाया। उसमें पत्पर डालकर कुल्हाड़ी बनाया।"³

मानव ने जगत् के पदार्थों को अपनी सुविधा के अनुसार अन्य रूप प्रदान करने में अपनी इच्छा-शक्ति को अभिव्यक्ति दी। इसमें भाषा ने विशेष रूप से योगदान किया। मने-मने सकेतो के द्वारा ज्ञातृ और ज्ञेय का अन्तर अधिक स्पष्ट होने लगा। "धीरे-धीरे

1. साहित्य तत्व, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग 7, पृ० 58-59

2. "यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।

तथापि तस्या लावण्य रेख्या किञ्चिदन्वितम् ॥"

—अभिज्ञान शाकुन्तलम्

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग 7, पृ० 60

मनुष्य ने दो प्रकार की तथ्यात्मक सृष्टि को प्रत्यक्ष किया—भावनाजगत् (ज्ञान् पक्ष) और परिदृश्यमान या अनुभूयमान जगत् (ज्ञेय पक्ष)। एक का ग्रहीता अतःकरण है, दूसरे का बहिःकरण। एक मनोगम्य है, दूसरा इन्द्रिय-ग्राह्य।¹

आचार्य द्विवेदी अपने कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि परिदृश्यमान जगत् की सत्यता व्यक्ति पर आधारित न होकर समाज पर आधारित है। स्थूल जगत् की सत्यता के मानदण्ड निर्धारित करना सरल होता है। वैज्ञानिक प्रगति में समाज का विकास और परिष्कार तो होता है किन्तु उसके नियम सरल गति के ही हैं। दूसरी ओर अंतर्जगत् सूक्ष्म है। सूक्ष्म अनुभूतियों के विश्लेषण और अन्यथाकरण की प्रक्रिया स्थूल जगत् से भिन्न होती है। यह होते हुए भी अन्तर्जगत् की सत्यता भी समाज की ही सत्यता है। समाज से भिन्न अनुभूति तो 'अवनार्मल' होती है। "भाषा अवनार्मल भाव के लिए नहीं बनती, वह समाज-चित्त की अनुपायिनी होती है।"²

आचार्य द्विवेदी के अनुसार मानव की अनुभूतियाँ समाज-सापेक्ष होकर भी व्यक्ति-सापेक्ष अधिक हैं। "अन्तर्जगत् की अनुभूतियों के लिए जो भाषा बनी है, उससे व्यक्ति-चित्त पूरा-पूरा कभी सतुष्ट नहीं होता और अधिकांश व्यक्तियों में अन्तर्द्वन्द्व बना रहता है। समाज-चित्त को परिवर्तित करना इस क्षेत्र में कठिन कार्य है। कलाकार को यही करना पड़ता है। बाह्य तथ्यात्मक जगत् सदा अन्तर्जगत् के व्यक्ति-चित्त को बैसा ही नहीं दिखता, जैसा समाज-चित्त उसे देखा करता है। अन्यथाकरण की निर्माणोन्मुखी प्रक्रिया बाह्य जगत् के समाज स्वीकृत रूपों से सप्रहीत जड़घण्टों को भावना के सीमेन्ट से जोड़कर सही अर्थों में उपलब्ध कराती है। दृष्टा सिर्फ यह नहीं समझता कि वह जान रहा है, बल्कि यह अनुभव करता है कि वह देख रहा है, पा रहा है। ज्ञात वस्तु दृष्ट होती है, दृष्ट, उपलब्ध। स्पष्ट ही कलाकार अन्यथाकृत बाह्य-जगत् के अनुभवों से उतना ही नहीं देता जितना बाह्य-जगत् में मिलता है, बल्कि उसमें कुछ और जोड़ता है—रेखाकिकवदम्बितम्। यही उसकी रचनात्मक शक्ति का वैशिष्ट्य है।"³

आचार्य द्विवेदी ने स्पष्ट किया है कि सम्यता के विकास के साथ-साथ जो जटिलताएँ उत्पन्न हुईं उनसे अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति में भी अन्तर आया। प्रतिभा, अभ्यास और नैपुण्य के क्षेत्र में बहु-विचित्र फलों की उपलब्धि का कारण यही है। संगीत से चलकर काव्य, महाकाव्य और उपन्यास तक पहुँचना इस कथन की पुष्टि करता है। इसी प्रकार चित्र से मूर्ति तथा अभिनय, नृत्य, नाटक से चलकर फिल्म में रूपायित होना इसी प्रकार के फलों की उपलब्धि है। वे स्पष्ट कहते हैं कि "जितनी ही सांसाजिक व्यवस्था अटिल-से-अटिलतर होती जाती है, उतना ही प्रकाशन-भंगिमा में बाह्य-जगत् की व्यवस्था का मिथुन अधिकाधिक मुखर होता जाता है। कविता की तुलना में महाकाव्य में और महाकाव्य की तुलना में उपन्यास में, नृत्य की अपेक्षा नाटक

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 60

2. उपरिक्त, पृ० 61

3. उपरिक्त, पृ० 61

में और नाटक की अपेक्षा फिल्म में, चित्र की अपेक्षा मूर्ति में और मूर्ति की अपेक्षा वस्तु में बाह्य-जगत् की व्यवस्था अधिक सबल और मुखर हो जाया करती है।¹

गद्यात्मक भाषा स्थूल और प्रयोजनवती है। गद्यात्मक भाषा बाह्य और आन्तरिक योग स्थापित करने में शब्द-प्रतीको का सहारा लेती है। भाषा में दो व्यवस्थाओं का अनुशासन होता है। एक अनुशासन व्याकरण का होता है तो दूसरा बाह्य-जगत् की व्यवस्था का अनुशासन रहता है। आचार्य द्विवेदी के अनुसार शब्दों की अर्थ से अभिन्नता स्थापित करने की शक्ति भी होती है। इस प्रकार लय, छन्द आदि का अनुशासन भी रहता है। इस अनुशासन के समाप्त होने पर भाषा गद्यमय हो जाती है और उसमें से रस खो जाता है।

आचार्य द्विवेदी के अनुसार सभी कलाओं में बाह्य-जगत् के अन्वयाकरण की शक्ति होती है किन्तु कविता में यह शक्ति अधिक रहती है। कविता चार आयामों को एक आयाम में बदलने का प्रयास करती है। कविता मानव-मन के आवेगों को शब्दों में ढालती है। आवेगों में गति होती है और यह गति काल में है। आचार्य द्विवेदी इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'गति काल में ही सम्भव है, पर कविता को केवल काल में नहीं रहना पड़ता है। आवेगों को वह स्थिर रूप प्रदान करती है। शब्दों जादू के बल पर कविता किसी काल में व्यक्त किये गये आवेग को किसी काल में उपस्थित कर सकती है। इसीलिए कविता काल में व्याप्त होने पर भी देश के साथ अमम्बुक्त नहीं रहती। देश तीन आयामों में व्यक्त होता है। परन्तु कविता इन तीन आयामों से स्वतंत्र रहती है। यह विचित्र बात है पर सत्य है।'²

आचार्य द्विवेदी कविता को अन्य कलाओं से भिन्न इसी अर्थ में मानते हैं कि वह चार आयामों को एक आयाम में बदलती है। वह माया के कंचुक 'नियति' के आदेश को नहीं मानती। नियति जीव में सर्वव्यापक के स्थान पर नियत देशवासी समझने की भ्रांति उत्पन्न करती है। कविता काल में रहकर देश में स्थिति प्राप्त करती है, इसीलिए पुराने शास्त्रकारों ने उसे 'नियतिकृतनियमरहिता'³ की सजा प्रदान की है।

वे संगीत को कविता से भी अधिक सूक्ष्म मानते हैं। संगीत पूर्वावस्था को कला है। उसमें व्याकरण का अनुशासन नहीं होता किन्तु रूप और गठन की व्यवस्था होती है। परवर्ती संगीत में भाषा महत्वपूर्ण बन गई किन्तु उसमें अविच्छेद्य वर्ण-वैशिष्ट्य का स्वरूप आ गया। दोनों का अन्तर प्रस्तुत करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'संगीत में राग और तान वर्ण-वैशिष्ट्य को मिटाते हैं। अर्थबन्ध से विरहित कविता संगीत की कोटि में चली जाती है। अर्थबन्ध से अनुशासित संगीत, कविता की ओर अपसर होता है।'⁴

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 62

2. उपरिक्त, पृ० 62-63

3. उपरिक्त, पृ० 63

4. उपरिक्त, पृ० 63

आचार्य द्विवेदी गणित और संगीत को चेतना के दो छोर मानते हैं। एक छोर पर संगीत है तो दूसरे छोर पर गणित। उनके अनुसार “बाह्य-जगत् में दिन-रात ऋतु-परिवर्तन और तारामण्डल का नियत आवर्तन आदि की अनुक्रमता अब मानव के अहंता-परक चित्त में प्रतिफलित होती है तो वह ‘अक’ को जन्म देती है। जब उसकी ध्वस्वा बाह्य-जगत् की अनुक्रमता के साथ मिलती है, तो गणितशास्त्र का कारबार शुरू होता है। इदता-प्रधान बाह्य-जगत् में परिवृश्यमान अनुक्रमता जब अहंता-प्रधान अन्तर्जगत् के श्वास-प्रश्वास, नाड़ी स्पन्दन से प्रतिभासित अनुक्रमता से भेल खाती है तो ‘ताल’ का उद्भव होता है और संगीत का कारबार शुरू होता है। संगीत बहुजंगत् की अनुक्रमता का अन्तर्मुखी प्रतिफलन है, गणित अन्तर्जगत् के अनुक्रम-बोध का बहुमुखी प्रतिफलन है। चेतना के एक छोर पर संगीत है, दूसरे पर गणित।”¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी शब्द को रूढ मानते हैं। उनकी दृष्टि में शब्द पदार्थों के प्रक्षेपण में प्रतीक का कार्य करते हैं। वे यौगिक शब्दों को भी रूढ धातुओं, रूढ प्रत्ययों तथा रूढ प्रतिपादकों के योग से बने होने के कारण उन्हें रूढ ही मानते हैं। चित्रकला में सादृश्य के द्वारा अर्थ ग्रहण होता है, इसलिए वे प्रतीक नहीं होते। चित्र-लिखित वस्तु में भी बाह्य-जगत् का पदार्थ रेखाओं के माध्यम से ‘बुझ और’ रूप में अभिव्यक्ति पाता है। कलाकार चित्र के द्वारा वैशिष्ट्य-वैचित्र्य का संचार करता है और दर्शक उससे तादात्म्य स्थापित करता है, इसलिए गद्य से घृणा करने वाला सम्म मानव भी गद्य का चित्र अपने कमरे में लगाता है। वे तादात्म्यीकरण को कला का धर्म मानते हुए कहते हैं कि “परन्तु चित्र और कविता, दोनों में यही गुण होता है कि वह दृष्टा और श्रोता के ‘अहं’ को उस जगह ले जाते हैं जहाँ चित्रकार या कवि खड़ा होकर बाह्य-जगत् को देखता है। यह तादात्म्यीकरण कलामात्र का विशिष्ट धर्म है।”²

आचार्य द्विवेदी कलाकार द्वारा आत्माभिव्यक्ति के प्रयत्न के प्रश्न की चर्चा करते हुए कहते हैं कि आत्माभिव्यक्ति भी दो प्रकार की होती है। एक तो जीव का सहज धर्म है। सत्ता पुष्पित होकर रूप-वर्ण-गन्ध-रस द्वारा आत्माभिव्यक्ति करती है तो मयूर उत्तम नृप के द्वारा आत्माभिव्यक्ति का प्रयास करता है। यह सहज और सोद्देश्य होता है। युवावस्था में शरीर की उष्मावशता के द्वारा दूसरों को आकर्षित करने का जो सहज गुण उत्पन्न होता है, वह भी आत्माभिव्यक्ति ही है। प्रकृति ने रूप-रस-गन्ध-वर्ण आदि के द्वारा आत्माभिव्यक्ति के साधन सुलभ करा दिये हैं। यह सहज धर्म भी सर्व अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर पाता। “सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक नियमों के विधि-नियंत्रणों का अन्वय लय जाता है। भाषा इन विधि-नियंत्रणों को दीर्घस्थायी और वाद में निरुद्देश्य बनाकर भी जिलाये रहती है। यही द्वन्द्व शुरू होता है। मानव द्वारा इच्छित समाज-व्यवस्था और प्रकृति द्वारा प्रदत्त सहज धर्म का सघर्ष शुरू होता है। उस समय अभिव्यक्ति भी इच्छित प्रयत्नों का माध्यम खोजती है। आत्माभिव्यक्ति का यह

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 63

2. उपरिबत्,

इच्छित प्रयत्न ही कलाओं के रूप में प्रकट होता है। इच्छित होने के कारण ही वह अभ्यास और नैपुण्य की अपेक्षा रखती है। कविता में, चित्र में, मूर्ति में वह बहुविचित्र आभार ग्रहण करती है।¹

आचार्य द्विवेदी सभ्यता के विकास के साथ ही सहज आत्माभिव्यक्ति में अवरोध उत्पन्न होने को कलाओं के लिए महत्वपूर्ण तो मानते हैं किन्तु उसी को पूर्ण श्रेय नहीं देते। वे मियक तत्व को भी महत्वपूर्ण मानते हैं। मानव के मन में जब जड़ और चेतन का भेद समझ में आया तो उसने शक्तिस्वरूपा आत्मा की कल्पना की, जहाँ से मियक तत्व का आविर्भाव हुआ। यही मियक तत्व जब भाषा में आया तो उसने बाह्य-जगत् की व्यवस्था से भिन्न एक कल्पना लोक का निर्माण कर डाला। सभ्यता के विकास के साथ इस मियक तत्व को छोड़ना आरम्भ किया किन्तु उसका मन इस अति प्राकृतिक तत्व को भूल नहीं सका। रूपक और मानवीकरण के द्वारा वह उसी मियक तत्व की अभिव्यक्ति करता है। गद्यात्मक भाषा के बाँधित अभिव्यक्ति में असमर्थ होने के कारण मियक तत्व का सहारा लेना पड़ता है। वे स्पष्ट करते हैं कि—

“बाह्य-जगत् की तर्कसंगत जानकारी ने उसे अति प्राकृत तत्व को छोड़ने की मजबूर किया है, तथापि उसका चित्त उस अतिप्राकृत तत्व को भूल नहीं पाया है। रूपकों और मानवीकरण के प्रयासों द्वारा वह उसी आदिम मनोभाव को प्रकट करता रहता है। वह अनुभव करता है कि उसके बिना यह प्रयोजनवती गद्यात्मक भाषा—भाषा, जो बाह्य-जगत् की तर्कसंगत व्यवस्था से बुरी तरह बंध गयी है—यह सब कुछ व्यक्त नहीं कर पाती जिसे वह कहना चाहता है। वह घूम-फिरकर मियक तत्व का आश्रय लेता है। छन्द से, आवेगोच्छन्न रंगिमा से, रंग सामञ्जस्य से, छाया और आलोक की शक्तिता से, राग से, वह उम अनुभूति को व्यक्त करना चाहता है जो भाषा की उम व्यवस्था में अट नहीं पायी है जो तर्कसंगत बाह्य-जगत् से बुरी तरह बंधी हुई है।”²

आचार्य द्विवेदी मानव की व्यक्तिगत अनुभूतियों के सामाजीकरण की प्रवृत्ति को ही मनुष्यता मानते हैं। इसे वे मानव का अन्तर्निवृद्ध धर्म कहते हैं। वे गद्यात्मक भाषा के विकास को भी उसका सहजात धर्म के रूप की संज्ञा प्रदान करते हैं। इस सहज प्रवृत्ति के कारण मनुष्य सीमाबद्ध हो गया।

“गद्यात्मक भाषा का विकास भी उसी सहजात धर्म का रूप है। पर आगे चलकर मनुष्य अपने इसी सहज प्रयत्न का वशवर्ती हो गया। वह सीमा में बंधता गया है। उसे असन्तोष है। यह असन्तोष—‘नाल्पे सुखमस्ति’—ही उसे उन अभिव्यक्तियों के लिए उत्साहित करता है जो सीमा के परे हैं, जो भाषा की चहारदीवारी में बंद रहने से छटपटा उठती है। सामाजीकीकरण द्वारा उसे उम असन्तोष से राहत मिलती है। इस बात का निषेधात्मक नाम ‘विरचन’ है, बंध नाम ‘आनन्द’ है।”³

1. हुजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 65

2. उपरिचत्, पृ० 66

3. उपरिचत्, पृ० 66

इस प्रकार द्विवेदी जी विरेचन और आनंद को एक ही मानते हैं। सामाजिकीकरण की प्रवृत्ति ही विरेचन है और वही आनंद है। इस आनंद की प्राप्ति के लिए ही कलाकार अपनी अनुभूतियों का सामाजिकीकरण करता है।

गद्य की भाषा प्रयोजन के निमित्त है। काव्य, चित्र, अभिनय और मूर्ति आदि के द्वारा प्रयोजनातीत आनंद की अनुभूति होती है। "काव्य में, शिल्प में, नृत्य में, गीत में, धर्म में, भक्ति में मनुष्य को उस अपार भूमा का रस मिलता है जो उसे प्रयोजन की सीमा से ऊपर उठाता है। तभी मानो वह उपनिषद् के ऋषि के शब्दों में कह उठता है—भूमेव सुखं, नाल्पे सुखमस्ति।"¹

मानव के लिए स्थूल जगत् का विशेष महत्व होता है, इसलिए वह उसे छोड़ नहीं सकता। काव्य में भी स्थूल जगत् सन्निहित रहता है। प्राचीन आचार्यों ने शब्द और अर्थ के सहित को इसीलिए काव्य कहा था। अर्थ की सत्ता बाह्य-जगत् से जुड़ी रहती है। शब्द कवि के मन की अनुभूति को संहृदय के मन तक पहुंचाकर ही सार्थक होता है। भावावेग से युक्त शब्दार्थ अधिक व्यंजित करता है। इस शक्ति के अनेक नाम दिये गये जिनमें से एक व्यञ्जना है। शब्दार्थ में निहित आवेग का वाहक छन्द होता है। गद्य की भाषा में आवेग नहीं रहता। जहां गद्य में भी आवेग का कम्पन आ जाता है, वहां प्रच्छन्न रूप में छन्द विद्यमान रहता है। जहां केवल आवेग होता है किन्तु अर्थ नहीं होता वहां संगीत होता है। इसीलिए संगीत बाह्य-जगत् से नहीं बंधा रहता। काव्य व्यक्ति मानव के ऊपरी विभेदों के नीचे की अभेद अवस्था को प्रमाणित करता है।

संगीत और काव्य के प्रभाव का अन्तर बताते हुए आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि संगीत से उत्पन्न कम्पनों के द्वारा उतनी गाढ़ 'नियत' अनुभूति नहीं हो पाती जितनी काव्य के कम्पनों द्वारा होती है। इसी कारण शब्दालंकारों की बहुलता बाला काव्य न तो संगीत की अबाध गति से युक्त होता है और न उसमें गाढ़ अनुभूति ही होती है। अर्थालंकारों के द्वारा पाठक के चित्त में अनुभूति सहज हो जाती है।

काव्य और चित्रकला के अन्तर को बताते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि चित्रकार रंगों के माध्यम से चित्र में उसी प्रकार के आवेग उत्पन्न करता है जिस प्रकार के आवेग कवि शब्दों के चयन द्वारा करता है। कवि का माध्यम कान है और चित्रकार का माध्यम आँख। चित्र काव्य के समान बाह्य-जगत् का अर्थ प्रतिष्ठित नहीं कर सकता। उसमें अन्तर-जगत् के अर्थों का प्रक्षेपण होता है। उनकी मान्यता है कि—

"जिस चित्र की रेखा और रंग केवल बाह्य-जगत् के सादृश्यमान की व्यञ्जना करते हैं वे घटिया किस्म के चित्र होते हैं। वे अभिधेय मात्र का इंगित करके विरत हो जाते हैं। रंगों और रेखाओं का व्यवस्थापन चित्रकार के अतर्जगत् की कहानी होती है।"²

आचार्य द्विवेदी सभी कलाओं में 'महाएक' के साथ एकमेक करने की व्याकुलता को स्वीकार करके उनमें एकात्मकता स्वीकार करते हैं। सर्वसाधारण तक अपनी व्याकुलता

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 66-67

2. उपरिबत्, पृ० 69

को पहंचाने को ही वे 'साधारणीकरण' कहते हैं।

आचार्य द्विवेदी काव्य के लिए छन्द को अनिवार्य मानते हैं, प्राचीन छन्दशास्त्रियों द्वारा निर्धारित नियम शाश्वत नहीं माने जा सकते। प्रतिभाशाली कवि भाषा में परिवर्तन होने पर नवीन छन्दों की खोज करते हैं। वे इसे 'विद्रोह' की सजा भी प्रदान करते हैं किन्तु यह नियेधात्मक रूप न होकर गुण ही होता है।

आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि मानव ने कलाओं को विशुद्ध रूप में मिथण भी किया है। कविता में चित्रकला की विशेषताओं को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी किन्तु उसमें अपेक्षित सफलता न मिल सकी। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि मानव मन के आवेग असंख्य हैं और उनके प्रतीक चिह्नों की संख्या सीमित है। "कभी-कभी घन, शृण या गुणन के चिह्नों के द्वारा आवेग का धैर्य सूचित करने का प्रयास भी किया जाता है। पर ये भी अन्ततोगत्वा साधारणीकृत चिह्न ही सिद्ध होते हैं। व्यष्टि चित्त का विशेषीकृत आवेग समष्टि चित्त के लिए ग्रहणीय बनाना कठिन कार्य है।" 1 कवि साधारणीकरण के द्वारा यह कार्य करने का प्रयास करता है। सूदम भाव व्यंजक शब्द भी कुछ काल के पश्चात् जातिवाचक बन जाते हैं। इसलिए कवि हृदय की बात बहुत कम समझ पाते हैं। जो समझ लेते हैं, उन्हें सहृदय कहा जाता है।

कवि और सहृदय दोनों की व्याकुलता का कारण यह है कि वह समष्टि मानव का एक अंग है। अद्वैत की प्रवृत्ति के कारण ही मानव कलाओं की रचना करता है। इस सम्प्रेषण के कार्य में छन्द का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। "सगीत में, काव्य में, चित्र में, मूर्ति में छन्द का योग होने से गति आती है, प्राण आता है, प्रेषण-वेग आता है। 'छन्द' शब्द का प्रयोग यहाँ बहुत व्यापक अर्थों में किया जा रहा है। उसमें राग, लय, वेग, आवेग सभी का समावेश हुआ है। यह 'छन्द' विश्वव्यापी 'इच्छा' शक्ति के साथ ताल मिलाकर चलने वाला गति-मात्र या वेग-मात्र (विशुद्ध गति) है। छन्द अर्थात् मनीषयोग इच्छा। शास्त्रीय ग्रन्थों में कुछ छोटे-से छन्दों के नाम गिनाये जाते हैं, वे केवल इंगित मात्र है। सब कुछ वे नहीं हैं, अधिकांश भी नहीं।" 2

इस प्रकार द्विवेदी जी सर्जनेच्छा और छन्द को एक ही मानते हैं। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियों ने 'आर्ट इम्पल्स' नाम देकर इसे समझाने का प्रयास किया है। इनके परिणाम इस प्रकार रहे—(1) शिला और स्पेन्सर जैसे मनीषियों का कहना है कि यह कला-सिसृक्षा मानव मन की सीलावृत्ति या श्रीइनेच्छा की उपज है। (2) कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि यह युक्ति परप्रसादन द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करने की इच्छा का दूसरा रूप है। बताया गया है कि मार्शल ऐसा ही मानते हैं। (3) यह भी कहा गया है कि यह आत्म-प्रदर्शन का ही एक रूप है और वाल्टडविन इस मत के प्रवर्तक हैं। (4) लेंगफील्ड जैसे विचारकों ने इसे श्रीइनेच्छा और दूसरों को आकर्षण करने योग्य आत्मप्रदर्शन का मिलित रूप माना है। (5) कुछ लोग इसे मनुष्य में विद्यमान रचनात्मक वृत्ति का उन्नयन मानते

1. हजारो प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 70-71

2. उपरिवत्, पृ० 73

है। (6) ओर दूसरे लोग (फायद आदि) इसे कामवृत्ति से उत्पन्न मनोवृत्तियों का उन्नयन समझते हैं।¹

स्वयं द्विवेदी जी समष्टि चेतना को सर्वनात्मक मानते हैं। वे चेतन धर्म के अनुकूल होने को ही सुन्दर कहते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि "जब व्यष्टि का छन्द समष्टिगत छन्द से ताल मिलाकर चलता है तो 'सुन्दर' की सृष्टि होती है, जब उससे विरुद्ध दिशा में जाता है तो 'कुत्सित' का जन्म होता है।"²

आचार्य द्विवेदी सफल कलाकृति के लिए प्रयत्न और सत्कार की आवश्यकता को विनायक धर्म मानते हैं। भाषा में तो सम्प्रेषणशीलता होती ही है, चित्र और मूर्ति भी अर्थ-विशेष का सम्प्रेषण करने की समता रखते हैं। यह भी वाणी ही का प्रकार है।

सम्पत्ता के विकास के साथ ही भाषा में वर्ण-बंधिष्ट्य का निखार आया। उसी प्रकार रूप दर्शन में रंगों के संयोजन में भी निखार आया। शब्द की तुलना में रूप-निर्माण में अधिक व्यापकता है। एक शब्द दूसरी भाषा के लिए निरर्थक हो सकता है किन्तु रूप निर्माण में यह आवश्यक नहीं है।

आचार्य द्विवेदी शब्द में सांकेतिक अर्थ के लिए सामाजिक स्वीकृति की अनिवार्यता को विनायक तत्व बताते हुए कहते हैं कि "वस्तुतः वर्ण-समूह को विशिष्ट दिशा में मोड़ने का प्रयत्न ही विनायक धर्म है।"³ भाव अन्तर्जगत् का सत्य होता है। इस सत्य को जन-सामान्य का सत्य बनाने के लिए उसे प्रयत्नपूर्वक सजाना पड़ता है। इसके लिए सामाजिक 'मगल' की भी आवश्यकता होती है।

"जहां तक कला का क्षेत्र है, याक् तत्व अर्थात् प्रेषणधर्मों साधन अर्थ, रस, छन्द और मगल की ओर तभी ले जा सकता है जब उसमें सामाजिक मगल की बुद्धि से परिचालित विनायक धर्म एकमेक होकर गुंथा हुआ हो। इस विनायक धर्म को पाकर वर्ण अर्थ की ओर, अर्थ रस की ओर और रस मगल की ओर जाता है।"⁴

आचार्य द्विवेदी क्षालित्य-सर्जन में भाषा का विशेष योगदान मानते हैं। भाषा का विकास बताते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि शब्द पहले बने और अर्थ बाद में आरोपित हुआ। इसीलिए रोमांच, अधु-बंधवर्ण्य आदि को भाव ही कहा गया। सात्विक भाव को वे भाव के साथ उत्पन्न होने वाले भाव ही मानते हैं। सात्विक भाव को उन्होंने सहज और अनुभाव को प्रयत्नसाध्य माना है—

"कई बार आलोचकों को मगजपच्ची करनी पड़ी है कि समस्त शरीर विकारों को भरत ने 'अनुभाव' ही क्यों नहीं कहा। अनुभाव परवर्ती विकास है, वे विविक्षतीकरण की शक्ति के बाद उद्भूत हुए हैं। सात्विक भाव अविविक्त वर्णा सहज भाषा के समशील है, अर्थ या प्रयोजन के बन्धन में बद्ध नहीं है। अनुभाव विविक्तवर्णा भाषा अयत्नज या

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 74

2. उपरिचत्; पृ० 76

3. उपरिचत्, पृ० 79

4. उपरिचत्, पृ० 80-81

सहज होते हैं, सहज—माथ-साथ पैदा होने वाले । अनुभाव यत्न-साध्य है—इष्ट अर्थ के द्योतक, प्रयासलघ्व ।”¹

आचार्य द्विवेदी विविक्तीकरण को मानसिक चिन्तन का परिणाम मानते हैं । यही कारण है कि वे रचनात्मक शक्ति को विविक्तीकरण का जुड़वा भाई की सजा से अभिप्रेत करते हैं । क्रमशः भाषा अर्थ-प्रधान होती गयी जिसके परिणामस्वरूप उसमें गद्यात्मकता का समावेश हुआ किन्तु इसी प्रक्रिया के कारण छन्द और मगीत का आयोजन भी संभव हो सका ।

मिथक तत्व मानव-मन को अभिव्यक्त करने का एकमात्र साधन है, वे मिथक तत्व को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि “मिथक वस्तुतः उस सामूहिक मानव की भाव-निर्मात्री शक्ति की अभिव्यक्ति है जिसे कुछ मनोविज्ञानी आर्किटाइपल इमेज (आदिम चिन्म) कहकर सन्तोष कर लेते हैं ।”² सामान्यतः आरंभिक मिथक सम्पूर्ण मानव-जाति में समान ही थे । गद्यात्मक भाषा में आज उनका ह्रास हो रहा है किन्तु वही काव्य, नाटक और उपन्यास सफल होता है जिसमें मिथक तत्व की सहायता ली जाती है । यही कारण है कि उपेक्षित होकर भी मिथक जीवित है । भाषा जिस भाव को अभिव्यक्त करने में असमर्थ होती है, उसे अलंकार अभिव्यक्त कर पाते हैं । यह मिथक के सहयोग से ही हो पाता है ।

आचार्य द्विवेदी भाषा की विविक्तीकरण को ही नवीन विधाओं के विकास का कारण मानते हैं । नवीन विधाओं के विकास से साहित्य-सर्जन के नवीन प्रयासों का आरम्भ हुआ ।

आचार्य द्विवेदी ने ‘साहित्य-तत्व’ में लोक-तत्व का समावेश भी किया है जिसका विस्तार उन्होंने ‘हिन्दी साहित्य की भूमिका’, ‘प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद’, अपने उपन्यासों और निवन्धों में किया है ।

निष्कर्ष :

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचार्य द्विवेदी का साहित्य-सिद्धान्त समष्टि-मानव के आधार पर स्थित है जिसमें लोकतत्व और मानवता का समावेश ही जाता है । साहित्य तत्व का दूसरा कोण वेदना (रस आदि) भाषा और छन्द का है तथा तीसरा कोण मिथक का है । इस प्रकार मानव, मिथक, वेदना, भाषा, छन्द, सम्प्रेषणीयता का धर्म आदि मिलकर साहित्य-सिद्धान्त का निर्माण करते हैं । उनके मूल में आस्था का प्रश्न है जिसे उन्होंने इच्छा, ज्ञान और क्रिया के माध्यम से प्रस्तुत किया है । आचार्य द्विवेदी ने अपने साहित्य तत्व में सबसे अधिक बल इसी त्रिकोण पर दिया है । हम इस त्रिकोण को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि इच्छा छन्द है, ज्ञान वेदना (रस आदि) और क्रिया मिथक (लोक-तत्व) है । यह त्रिकोण मां भगवती ललिता का है जिसका केन्द्र-बिन्दु शिव (साहित्य) है । बिना मगल के वे कुछ नहीं मानते और इन तीनों के मिलन से ही शिव होता है ।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 7, पृ० 82

2. उपरिबद्ध, पृ० 85

द्वितीय अध्याय

द्विवेदी जी के निबन्धों में लालित्य-योजना

विषय-वस्तु का लालित्य :

विषय-वस्तु की दृष्टि में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में अत्यधिक वैविध्य मिलता है। उन्होंने वृक्षो-श्रुतुओं सबंधी, सांस्कृतिक, साहित्यिक, नैतिक तथा ज्योतिष-संबंधी विषयों पर निबन्धों की रचना की है। यह विषय वैविध्य ऊपर से ही दिखाई पड़ता है। उनके निबन्धों की अन्तरात्मा मानवता ही है। उनके निबन्धों में मानव केन्द्र में है, इसलिए यह वैविध्य केन्द्रीभूत विषय की सजा से अभिपिक्त किया जा सकता है।

उनका मानवीय दृष्टिकोण सभी प्रकार के निबन्धों में देखने को मिल जाता है। 'अशोक के फूल' में वे मानव की जिजीविषा के सम्बन्ध में कहते हैं कि—

“मुझे मानव-जाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हजारी वर्ष का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवनी-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और सस्कृति के वृषा मोहो को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संशयो से मनुष्य ने नयी शक्ति पायी है।”¹

'शिरीष के फूल' में उन्होंने गांधी जी की महानता को प्रतिपादित किया—
“शिरीष वायुमण्डल से रस छींचकर इतना कोमल और इतना कठोर है। गांधी भी वायु-मण्डल से रस छींचकर इतना कोमल और इतना कठोर हो गया था।”² 'कुटज' में उन्होंने परवश व्यक्ति को ही ढूँधी बताया है तो 'देवदारु' में जाति का मोल करने वाले लोगों पर व्यंग्य किया गया है। 'आग फिर बौरा गये' में वे साम्प्रदायिकता के सम्बन्ध में अपने आशावादी और मानवीय दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं—

“आज इस देश में हिन्दू और मुसलमान इसी प्रकार के लज्जाजनक सघर्ष हैं।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 9, पृ० 23

2. उपरिबत्, पृ० 28

व्याप्त हैं। बच्चों और स्त्रियों को मार डालना, चलती गाड़ी से फँक देना, मनोहर घरों में आग लगा देना मामूली बातें हो गयी हैं। मेरा मन कहता है कि ये सब बातें भुता दी जायेंगी। दोनों दलों की अच्छी बातें से ली जायेंगी, बुरी बातें छोड़ दी जायेंगी। पुराने इतिहास की ओर दृष्टि ले जाता हूँ तो वर्तमान इतिहास निराशाजनक नहीं मालूम होता। कभी-कभी निकम्मी आदतों से भी आराम मिलता है।”¹

‘वसन्त आ गया है’ में उन्होंने बताया है कि “कमजोरो में भावुकता ज्यादा होती है।”² इसी प्रकार ‘जीवम शरदः शतम्’ में वे कहते हैं कि “इसलिए कर्म तो ऐसा ही होना चाहिए जो मनुष्य जीवन के उच्चतर लक्ष्य के अनुकूल हो।”³ वे अपनी मानवीय दृष्टि को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि “हमें कोई ऐसी व्यवस्था सोचनी पड़ेगी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जरूरत भर अन्न, वस्त्र और शिक्षा मिल जाय और उसे जितने की जरूरत है उससे अधिक संप्रहृ करने का अवसर ही नहीं मिले।”⁴

उनका मानवतावादी और समाजवादी दृष्टिकोण आवश्यकता पड़ने पर व्यवस्था पर चोट भी करता है। वे सत्ताधारी दल और विरोधी दल—दोनों की ही आलोचना करने से नहीं चूकते। ‘बरसो भी’ में वे स्पष्ट शब्दों में कोड़ा फटकारते हैं—“घरती पर कुछ पार्टियां गरज रही हैं, बरस नहीं पायेंगी, कुछ नहीं गरज रही है, वे भी नहीं बरसेंगी। जनता के लिए दोनों बराबर हैं। जैसे नागनाथ बंसें सांपनाथ।”⁵

बुद्धो और ऋतुओं संबंधी निबन्धों में ही नहीं ज्योतिष-संबंधी निबन्धों में भी उन्होंने मानव को विशेष महत्व प्रदान किया है। ‘ज्योतिर्विज्ञान’ में वे कहते हैं कि—

“सभी जानते हैं कि भारतवर्ष में जाति-पाति की कैंसी जबदस्त पैठ है। पुराना भारतीय अपने को संसार का श्रेष्ठ मनुष्य मानता था। दूसरे देश के निवासियों को वह म्लेच्छ से अधिक मानने को तैयार नहीं था, पर ऐसा मानना ठीक नहीं है। संसार के हर भाग में मनीषी और विद्वान् पैदा होते हैं, हो सकते हैं। आज का आधुनिक मनुष्य इस प्रकार नहीं सोचता। उसे यह दृष्टि अवैज्ञानिक ही लगती है।”⁶

सांस्कृतिक निबन्धों में भी उनके मानवता और समानता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। ‘संस्कृति और साहित्य’ में वे लिखते हैं कि—

“समय ने पलटा खाया है। वैज्ञानिकों ने मानवीय प्रकृति और विश्व-प्रकृति का निर्लिप्त भाव से विश्लेषण किया है। देखा गया है कि जगत् में एक ही शाश्वत मानव मस्तिष्क काम कर रहा है। आज तक संसार गलतफहमी का शिकार बना रहा है। आज उसके पास इतने साधन हैं कि पुरानी गलतफहमी अगर उसी वेग से चलती रही, तो

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 9, पृ० 46
2. उपरिबत्, पृ० 51
3. उपरिबत्, पृ० 61
4. उपरिबत्, पृ० 64
5. उपरिबत्, पृ० 77
6. उपरिबत्, पृ० 132-133

उसका परिणाम भयंकर होगा ।”¹

द्विवेदी जी तो ‘अर्थापवाक’ में प्रत्यय पर विचार करते-करते ‘लड़कियों’ और ‘बहुओं’ की सामाजिक स्थिति पर विचार करने लगते हैं—

“संस्कृत के व्याकरणशास्त्रियों ने भाषा को परिनिष्ठित रूप देने के लिए ‘म’ और ‘व’ श्रुति-नियमों का पालन किया है। भाषा को परिनिष्ठित रूप देने के लिए इस प्रकार की कठोरता आवश्यक है। वर्तमान साहित्यिक हिन्दी में इन नियमों का पालन कठोरता से नहीं किया जाता। ‘लड़कियों’ के लिए जो नियम है ‘बहुओं’ के लिए वंसा नहीं है। ‘लड़कियों’ में तो ‘य’ श्रुति का पालन किया गया है, पर बहुओं में ‘व’ का पालन नहीं किया है। इस देश में चिरकाल से ‘बहुओं’ की अपेक्षा लड़कियों से पक्षपात किया जाता है, परन्तु कम-से-कम व्याकरण की दुनिया में तो ऐसा पक्षपात नहीं होना चाहिए। अस्तु ।”²

द्विवेदी जी साहित्य सबंधी निबन्धों में तो साहित्य का लक्ष्य ही मनुष्य को मानते हैं। उनके अनुसार—

“वास्तव में हमारे अध्ययन की सामग्री प्रत्यक्ष मनुष्य है। अपने इतिहास में इसी मनुष्य की धारावाहिक जययात्रा की कहानी पढ़ी है, साहित्य में इसी के आवेगों, उद्वेगों और उल्लासों का स्पन्दन देखा है, राजनीति में इसकी लुका-छिपी के खेल का दर्शन किया है, अर्थशास्त्र में इसकी रीढ़ की शक्ति का अध्ययन किया है। यह मनुष्य ही वास्तविक लक्ष्य है।”³

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों के वैविध्य का कारण यह है कि उन्होंने मात्र अन्तःप्रेरणा से निबन्ध-रचना नहीं की अपितु पत्र-पत्रिकाओं की मांग, विश्वविद्यालयों के भाषण और विभिन्न मध्यस्थीय भाषणों के निमित्त भी निबन्ध लिखे। इसी को उन्होंने ‘शूद्र-ब्राह्मण’ की संज्ञा प्रदान की है—

“वे जो किसी दूसरे के इशारे से विनियुक्त होकर कलम घसीटते हैं। इन्हीं भाष्यवचितों को मैं ‘शूद्र-ब्राह्मण’ कहता हूँ। मैं इसी श्रेणी का हूँ।”⁴

द्विवेदी जी ने हिन्दी में 147 निबन्धों की रचना की है। एक निबन्ध भोजपुरी में और एक संस्कृत भाषा में भी लिखा है। इन निबन्धों में वृक्षों, ऋतुओं, संस्कृति, ज्योतिष, साहित्य, साहित्यकार, हिन्दी भाषा, राष्ट्रीय चेतना और नैतिकता से संबंधित विषयों को लिया गया है।

(1) वृक्षों संबंधी निबन्ध : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पर संस्कृत साहित्य का विशेष प्रभाव था। उन्होंने कालिदास तथा अन्य कवियों द्वारा अपने काव्य में चित्रित

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 220

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 267-268

3. मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 34

4. जिन्दगी और मौत के दस्तावेज, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 113-114

वृक्षों को अपने निबन्धों का विषय बनाया। 'अशोक के फूल', 'शिरीष के फूल', 'कुटज', 'देवदारु', 'आम फिर बीरा बये' शीर्षक निबन्ध वृक्ष संबंधी हैं।

कालिदास ने अशोक के फूल का चित्रण अपने काव्यों में किया है। द्विवेदी जी ने उसी से प्रेरणा लेकर निबन्धन किया। "ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था, परन्तु कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है वह पहले कहां था।"¹

'अशोक के फूल' का प्रतिपाद्य प्राचीन भारतीय संस्कृति है। कन्दर्प और गन्धर्व को वे पर्याय मानकर उस जाति के प्रभाव को काम के एक बाण 'अशोक के फूल' के रूप में चित्रित करते हैं। "कन्दर्प यद्यपि कामदेव का नाम हो गया है, तथापि है वह गन्धर्व का ही पर्याय। शिव से भिड़ने जाकर एक बार यह पिट चुके थे, विष्णु से डरते रहते थे और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर लौट आये थे। लेकिन कन्दर्प देवता हार मानने वाले जीव न थे। बार-बार हारने पर भी वे झुके नहीं। नये-नये अस्त्रों का प्रयोग करते रहे। अशोक शायद अन्तिम अस्त्र था। बौद्ध-धर्म को इस नये अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैव मार्ग को अभिभूत कर दिया और शक्ति-साधना को झुका दिया। ब्रह्मयान इसका सबूत है, कौल-साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।"²

द्विवेदी जी के मतानुसार अशोक के फूल और कन्दर्प की मान्यता सामन्तकालीन थी। समय के परिवर्तन से जीवन के लिए अनावश्यक वस्तुओं से छुटकारा मिल जाता है। 'अशोक के फूल' की भी वही नियति हुई है। आज जिसे आवश्यक समझा जा रहा है, भविष्य में उसमें से कितना बचा रहेगा, कहा नहीं जा सकता।

"आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, क्या ऐसी ही बनी रहेगी? सम्राटो-सामन्तों ने जिस आचार-निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था, वह लुप्त हो गयी, धर्माचार्यों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्घ समझा था, वह समाप्त हो गया, मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी, वह वाप्य की भांति उड़ गयी तो क्या यह मध्य-युग के ककाल में लिखा हुआ व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा? महाकाल के प्रत्येक पदाघात में धरती घसकेगी। उसके कुण्ठनृत्य की प्रत्येक धारिका कुछ-न-कुछ लपेटकर ले जायेगी। सब बदलेगा, सब विकृत होगा—सब नवीन बनेगा।"³

यही स्थिति 'शिरीष के फूल' की भी है। कालिदास ने शकुन्तला के कानों में शिरीष का पुष्प पहनाया, वे उसे बहुत कोमल मानते थे और बृहत्संहिता में उसे मंगल-जनक माना गया है।⁴ इसी कारण द्विवेदी जी ने उस पर निबन्ध की रचना की। वे शिरीष को फक्कड़ मानते हैं तथा कवि बनने के लिए फक्कड़ाना मस्ती को आवश्यक बताते

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 19

2. उपरिचत्, पृ० 20

3. उपरिचत्, पृ० 24

4. उपरिचत्, पृ० 19

हैं। जीवन का रस वायुमण्डल से खींचकर वह जीवित रहता है और महात्मा गांधी ने भी यही किया था—

“शिरीषतरु सचमुच पक्के अवधूत की भाँति मेरे मन में ऐसी तरंगें जगा देता है जो ऊपर की ओर उठती रहती हैं। इस चिलकती धूप में इतना सरस वह कैसे बना रहता है? क्या ये बाह्य परिवर्तन—धूप, वर्षा, आंधी, लू—अपने-आप में सत्य नहीं है? हमारे देश के ऊपर से जो यह मारकाट, अग्निदाह, लूट-प्याट, खून-खर्चर का बतण्डर बह गया है, उसके भीतर भी क्या स्थिर रहा जा सकता है? शिरीष रह सका है। अपने देश का एक बूँदा रह सका था। क्यों मेरा मन पूछता है कि ऐसा क्यों संभव हुआ? क्योंकि शिरीष भी अवधूत है। शिरीष वायुमण्डल से रस खींचकर इतना कोमल और इतना कठोर हो सका था। मैं जब-जब शिरीष की ओर देखता हूँ सब-सब हूक उठती है—हाय, वह अवधूत आज कहाँ है।”¹

कुटज का चित्रण भी कालिदास ने किया है। द्विवेदी जी इस निबन्ध के आरम्भ में ही नाम और रूप की चर्चा करके रूप को व्यक्ति-सत्य और नाम को समाज-सत्य स्थापित करते हैं। उसकी जीवनी-शक्ति की प्रशंसा करते हैं। वह निःस्वार्थ और निर्भीक होकर जी रहा है—

“कुटज क्या केवल जी रहा है? वह दूसरे के द्वार पर भीख मागने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरो का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अपमानित करने के लिए सही की खुशामद नहीं करता, आत्मोन्नति के हेतु नीलम नहीं धारण करता, अंगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दात नहीं निपोरता, बगलें नहीं झाकता। जीता है और शान से जीता है—काहे वास्ते, किस उद्देश्य से? कोई नहीं जानता।”²

देवदारु हिमालय का सुप्रसिद्ध वृक्ष है। इस निबन्ध में द्विवेदी जी ने ‘अर्थ की लय’ के सिद्धान्त के स्थान पर ‘अर्थ की तुक’ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। भाषा को वे अर्थ से बंधा हुआ मानते हैं। उनके अनुसार उसकी स्वच्छन्द संचार की शक्ति क्षीण हो रही है। दूसरी ओर मिथक स्वच्छन्द विवरण करता है। उनकी दृष्टि में शक्ती जितना कहना चाहता है, शब्द उतना बता नहीं पाता।

“सुन्दर शब्द का प्रयोग करके मैं जो कहना चाहता हूँ वह कहा प्रकट हो पा रहा है? कहना तो बहुत चाहता हूँ, कोई समझे भी तो। नहीं, शब्द उतना ही बता पाता है जितना लोग समझते हैं। वशता जो कहना चाहता है उतना कहा बता पाता है वह?”³

‘आम फिर बौरा गये’ में कालिदास द्वारा आम्र-अजरी के संकृषाने का वर्णन करना ही द्विवेदी जी की प्रेरणा है। इस निबन्ध में बसंत का चित्रण भी किया गया है। इसमें साम्प्रदायिकता का विरोध किया गया है। आर्यों और असुरों के संघर्ष की कथा के

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, 9, पृ० 28

2. उपरिवत्, पृ० 33

3. उपरिवत्, पृ० 42

माध्यम से मानव की विजय-यात्रा को प्रस्तुत किया है।

“न जाने मनुष्य के हाथों विघाता की सृष्टि में अभी क्या-क्या परिवर्तन होने वाले हैं। आज जो दुर्मिष और बन्-सकट का हाहाकार चित्त को मथ रहा है, वह शाश्वत होकर नहीं आया है। मनुष्य उस पर विजयी होगा। कितने अव्यवहार्य पदार्थों को उसने व्यवहार्य बनाया है, कितनी घटाई उसके हाथों ‘अमृत’ बनी है। कौन जाने यह महान् ‘गोधूम’ लता (गेहूँ) किसी दिन सचमुच गायों को लगने वाले मच्छरो को भगाने के लिए घुआं पैदा करने के काम आती हो? निराशा होने की कोई बात नहीं है। मनुष्य इस विश्व का दुर्जेय प्राणी है।”¹

(ii) ऋतु सम्बन्धी : आचार्य द्विवेदी का सलित व्यक्तित्व वृक्षों संबंधी निबन्धों के पश्चात् ऋतु सम्बन्धी निबन्धों में ही अभिव्यक्ति पा सका है। ‘बसंत आ गया है’, ‘आरामदान का सन्देशवाहक बमन्त’, ‘प्राचीन भारत में मदनोत्सव’, ‘वर्षाधनपति से धनश्याम तक’, ‘बरसो भी’, ‘सौन्दर्य-सृष्टि में प्रकृति की सहायता’ आदि निबन्ध ऋतुओं संबंधी निबन्ध हैं। इनमें से कुछ निबन्ध तो हृदय से प्रस्फुटित हैं और कुछ पत्र-पत्रिकाओं की माग को देखकर ही लिखे गये प्रतीत होते हैं। इन निबन्धों में द्विवेदी जी ने विभिन्न ऋतुओं के साथ मानव की उच्च आकांक्षाओं का चित्रण किया है। त्याग, बलिदान और सत्कर्म ही मनुष्य की विशेषताएं हैं। वे मानव के स्वार्थी रूप की डटकर आलोचना करते हैं—

“धरती और आसमान में कुछ साँठ-गाँठ है। शायद हमेशा ही रहा है। यहां भी लोग कहते हैं कि अन्न की कमी नहीं है, पर मिल नहीं रहा है। राशन की दुकानें खाली हैं, चौर बाजार भरे हैं—सब है, सिर पर से उड़ रहा है—केवल मिलता नहीं है। अखबारों में पढ़ता हूँ अच्छी व्यवस्था होने जा रही है, आँखें देखती हैं, हो नहीं पा रही है। आसमान के ग्रह और धरती के ग्रह एक ही समान चुप्पी साधे हैं। क्या होने वाला है? अकाल की डरावनी छाया बादलों की मादक छाया के समान ही ‘घनघोर’ है। लोगों का कहना है कि किसान ‘ग्राहि-ग्राहि’ कर रहे हैं। कौन प्राण करेगा।”²

(iii) पर्व सम्बन्धी : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने पर्व संबंधी निबन्धों की रचना भी की है। ‘आलोक-पर्व की ज्योतिर्मय देवी’, ‘अन्धकार से जूझना है’, ‘दीपावली : सामाजिक मंगलेच्छा का प्रतिमापर्व’, ‘नया वर्ष आ गया’ आदि निबन्ध इसी कोटि के हैं। इन निबन्धों में भी उन्होंने मनुष्य की सामाजिक मंगलेच्छा को ही प्रस्तुत किया है।

“चारों ओर जब अभाव का करुण हाहाकार सुनायी दे रहा है, दीपावली अपना मंगल-सन्देश लेकर आयी है। कई हजार वर्ष पहले मनुष्य ने सामूहिक रूप से समृद्ध होने का संकल्प किया था। वह संकल्प आज भी जी रहा है। क्यों न मनुष्य अब इच्छा के बाद प्रयत्न शुरू करे? सामाजिक मंगलेच्छा को आज तक कोई नहीं दबा सका, वह

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 49

2. ‘बरसो भी,’ हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-4, पृ० 77

न मरी, न बूढ़ी हुई, जबकि न जाने कितनी व्यक्तिगत आकांक्षाएं मरकर भूत हो गयी, कितने व्यक्तिगत प्रयत्न हमेशा के लिए समाप्त हो गये।”¹

(iv) नीति सम्बन्धी : आपने नीति सम्बन्धी निबन्धों की रचना भी की है। उनके नीति सम्बन्धी प्रमुख निबन्ध है—‘प्रायश्चित्त की घड़ी’, ‘आन्तरिक शुचिता की आवश्यकता है’, ‘जीवेम शरदः शतम्’ आदि। इस प्रकार के निबन्धों के विषय नैतिक हैं। वे भीतरी शुचिता पर बल देते हुए कहते हैं कि—

“जिस प्रकार भौतिक पदार्थ के उत्पादन के लिए आवश्यक है कि हम अपनी समूची उत्पादन-शक्ति का परिपूर्ण उपयोग करें, उसी प्रकार आन्तरिक शुचिता और बाहरी संयम के लिए हमें नवीन और पुरातन समस्त उपलब्ध साधनों का उपयोग करना चाहिए। दोनों में समता बनी रहनी चाहिए। ऐसा न हो कि हम बाहरी बातों पर अधिक जोर देकर भीतरी शुचिता की उपेक्षा कर दें। इसके लिए हमें उत्तम साहित्य के सृजन, प्रचार और प्रसार की व्यवस्था करनी चाहिए। एकांगी उन्नति लाभजनक नहीं हो सकती। जब तक हमारा भोग्य पवित्र नहीं होता तब तक हम उन्नत और सम्पन्न नहीं हो सकेंगे।”²

इसी प्रकार वे मानव-जीवन को उत्तम लक्ष्यों के अनुकूल बनाने पर बल देते हुए ऐसे कर्म करने की ओर इंगित करते हैं जो शास्त्र द्वारा समर्पित हो सकें—

“यह जीवन मनुष्य के उत्तम लक्ष्यों के अनुकूल होना चाहिए। ऐसा कर्म जो दूसरों के लिए कष्टदायक हो, समाज के यथार्थ मंगल का बाधक और मनुष्यता के लिए प्रतिकूल हो, कभी शास्त्र द्वारा समर्पित नहीं हो सकेगा। इसलिए कर्म तो ऐसा ही होना चाहिए जो मनुष्य जीवन के उच्चतर लक्ष्य के अनुकूल हो। साथ ही उसमें ईश्वर का भाव नहीं आना चाहिए।”³

(v) संस्कृति संबंधी निबन्ध : द्विवेदी जी ने अनेक सांस्कृतिक निबन्धों की रचना की है। इनमें प्रमुख हैं—‘धर्मस्यतत्व निहित गुहायाम्’, ‘भारतीय संस्कृति की देन’, ‘संस्कृतियों का सगम’, ‘भारतीय संस्कृति और हिन्दी का प्राचीन साहित्य’, ‘सम्पत्ता और संस्कृति’, ‘भारतीय संस्कृति का स्वरूप’, ‘संस्कृति और साहित्य’ आदि।

आपके सांस्कृतिक निबन्धों में भारत की प्राचीन संस्कृति के प्रति विशिष्ट मोह झलकता है। इसीलिए डॉ० जयनाथ ‘नलिन’ ने आरोप लगाया कि “भारतीय अतीत की गरिमा के प्रति आप अत्यन्त श्रद्धावान हैं—प्राचीन को नवीन से मिलाने का प्रयास भी आपकी रचनाओं में मिलता है। लेकिन प्राचीन को बुद्धिवाद की कसौटी पर परखने का

1. ‘दीपावली : सामाजिक मंगलेच्छा का प्रतिमा-पर्व’, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 88

2. ‘आन्तरिक शुचिता भी आवश्यक है’, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 9, पृ० 435

3. ‘जीवेम शरदः शतम्’, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 61

प्रयत्न कम है, उसका समर्थन अधिक।”¹

वस्तुतः जहाँ तक प्राचीन संस्कृति को घरोहर मानकर उसका समर्थन करने का प्रश्न है, वहाँ तक ‘नलिन’ जी की बात सत्य है किन्तु केवल प्राचीन की स्वीकृति द्विवेदी जी में नहीं है। वे आधुनिकता की स्वीकृति के पक्ष में भी हैं। सत्य पूर्व का हो या पश्चिम का, वे उसे स्वीकार करने के पक्ष में हैं—

‘हमारा मूल बतव्य यही है कि हमें पूर्व या पश्चिम या भारतीय-अभारतीय आदि कृत्रिम विभाजनो के अर्थहीन परिवेष्टनो से अपने को घेरे नहीं रखना चाहिए। अगर जरूरत हो तो तथाकथित आध्यात्मिक विशेषणों से विशिष्यमाण आचारो और मनोविकारो को अतिश्रमण करके भी विश्वजनीन सत्य को जानने की कोशिश करनी चाहिए।’²

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आधुनिक चिन्तन में जो समाज के उपद्रुक्त है, उसे स्वीकार करने के पक्ष में अवश्य हैं किन्तु प्राचीन भारतीय संस्कृति के महत्व को आरुने मे वे किसी प्रकार की क्षिप्तता नहीं दिखाते। भारतीय प्राचीन संस्कृति का विशिष्ट महत्व रहा है, उसने सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि—

“भारतवर्ष ने एशिया और यूरोप के देशों को अपनी धर्म-साधना की उत्तम वस्तुएं दान दी हैं। उसने अहिंसा और मैत्री का संदेश दिया है, क्षुद्र दृष्टिवादी स्वार्थों की उपेक्षा करके विशाल आध्यात्मिक अनुभूतियों का उपदेश दिया है और उससे जिन बातों को ग्रहण किया है वे भी उसी प्रकार महान् और दीर्घस्थायी रही हैं।”³

(vi) साहित्य संबंधी: साहित्य एवं साहित्य के सिद्धान्त सम्बन्धी निबन्धों में द्विवेदी जी ने साहित्य-मर्मज्ञ होने का प्रमाण दिया है। उनके साहित्य संबंधी निबन्धों में प्रमुख हैं—‘समालोचक की डाक’, ‘साहित्य का नया कदम’, ‘अलोचना का स्वातंत्र्य मान’, ‘क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है’, ‘मनुष्य की सर्वोत्तम कृति : साहित्य’, ‘मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है’, ‘साहित्य की साधना’, ‘साहित्य का प्रयोजन : लोक कल्याण’, ‘साहित्य के नये मूल्य’, ‘आधुनिक साहित्य : नयी मान्यताएं’, ‘साहित्य में मौलिकता का प्रश्न’, ‘साहित्य में व्यक्ति और समष्टि’, ‘साहित्य की सम्प्रेषणीयता’, ‘साहित्यकारों का दायित्व’ आदि।

साहित्य संबंधी निबन्धों में वे मानव-कल्याण और लोक-कल्याण पर ही विशेष बल देते हैं। सामाजिक भंगल-विधान की वे साहित्य का लक्ष्य मानते हुए कहते हैं कि—

“साहित्यकारों ने यह अनुभव किया है कि हमारे लिखने का लक्ष्य सामाजिक ‘मनुष्य’ का भंगल-विधान है। मनुष्य एक है। विपमताएं मनुष्य-मात्र को प्रभावित

1. जयनाथ ‘नलिन’, हिन्दी निबन्ध के आलोक शिखर, पृ० 188

2. ‘संस्कृति और साहित्य’, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 9, पृ० 221

3. ‘भारतीय संस्कृति की देन’, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग 9, पृ० 207

करती हैं। सारी मनुष्य जाति को अछण्डनीय और अविच्छेदनीय 'एक' मानकर ही हम उस सामाजिक मंगल का मार्ग सोच सकते हैं, जिसे उपलब्ध किये बिना मनुष्यता का प्राण नहीं है। हमने 'मनुष्य' को, सामाजिक मनुष्य को—इसी मर्त्यलोक में सुखी और समृद्ध, अज्ञान और परमुखापेक्षिता से मुक्त बनाने के महान् सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है।¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य के प्रयोजन के रूप में लोक कल्याण को ही प्रतिष्ठित करने के पक्ष में हैं। यही नहीं वे मानव को सभी प्रकार के शोषण से मुक्त देखने के आकांक्षी है। वे स्पष्ट कहते हैं कि—

“हमारे साहित्यकार ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है—सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का। अगली मानवीय सस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी।”²

(vii) हिन्दी भाषा संबंधी : हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी भाषा संबंधी अनेक निबन्धों की रचना की है, जिनमें उल्लेखनीय हैं—‘विश्वभाषा हिन्दी’, ‘हिन्दी और अन्य भाषाओं का सम्बन्ध’, ‘हिन्दी में शोध का प्रश्न’, ‘सहज भाषा का प्रश्न’, ‘हिन्दी का वर्तमान और भविष्य’ आदि।

आचार्य द्विवेदी हिन्दी भाषा के साथ अन्य प्रान्तीय भाषाओं के विकास के पक्ष में थे। वे इसे भारतीय जनता का जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे—

“यदि हम सचमुच भारतवर्ष की भाषाओं को उन्नत और समृद्ध बनाना चाहते हैं और अपने देशवासियों को देशी भाषा के माध्यम से शिक्षित और सुसंस्कृत बनाना चाहते हैं तथा देशी भाषा के द्वारा उनके क्षणों का फँसला सुनाना चाहते हैं तो यह कम-से-कम करणीय कार्य है। मैं दुःखता के साथ कहना चाहता हूँ कि यह भारतीय जनता का जन्मसिद्ध अधिकार है। कोई सरकार इसकी उपेक्षा नहीं कर सकती। देश की जनता को अपनी भाषा में उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने, कौशल सीखने और न्याय प्राप्त करने का जन्मसिद्ध अधिकार है। किसी कठिनाई का बहाना बनाकर इस अधिकार की उपेक्षा नहीं की जा सकती।”³

आचार्य द्विवेदी ने अनेक स्थानों पर अंग्रेजी के प्रचलन को देशी भाषाओं की कीमत पर जारी रखने का विरोध किया है। उन्होंने सरकार और सरकारी मशीनरी पर भी व्यंग्य किया है—

“जनता का शासन केवल बात की बात है। जनता की भाषा का नारा केवल वोट प्राप्त करने वालों के सटको में से एक है। शासन की मशीन नारों पर नहीं चलती, फाइलों पर नोट लिखने की विद्या बड़ी मेहनत से सीखी जाती है। जनता की सुविधा

1 'साहित्य की साधना', हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 41

2 'आधुनिक साहित्य : नयी मान्यताएँ', हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 81

3. 'हिन्दी का वर्तमान और भविष्य', हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 311

की थोड़ी दलील पर परिवर्तन नहीं किया जा सकता।”¹

(viii) महापुरुषों संबंधी : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने घामिक, साहित्यिक और राजनैतिक महापुरुषों के जीवन और उनके कृतित्व पर भी निबन्धों की रचना की है। उनके महापुरुषों पर लिखे गये प्रमुख निबन्ध हैं—‘मुंशी प्रेमचन्द’, ‘निराला जी’, ‘सुमित्रानंदन पन्त’, ‘नयी चेतना का गायक चला गया’, ‘दिनकर जी अमर हैं’, ‘कथाकार रेणु का विलक्षण वैशिष्ट्य’, ‘चाणक्य या कौटिल्य’, ‘ज्योतिर्विद् आर्यभट’, ‘राजा राम मोहन राय’, ‘बंकिमचन्द्र’, ‘महात्मा के महाप्रयाण के बाद’, ‘राष्ट्रीय एकता के प्रतीक शिव’ आदि।

द्विवेदीजी ने उन महामानवों पर अपने निबन्धों की रचना की जिनसे वे प्रभावित थे। जिन साहित्यकारों का व्यक्तित्व और साहित्य महान् था, उन्हीं पर उन्होंने अपनी कलम चलाई। प्रेमचन्द का मानव-प्रेम, सेवामाव और त्याग उन्हें आकर्षित करता है—

“प्रेमचन्द के मत से प्रेम एक पावन वस्तु है। वह मानसिक मन्दगी को दूर करता है, मिथ्याचार को हटा देता है और नयी ज्योति से तामसिकता का ध्वंस करता है। यह बात उनकी किसी भी कहानी और किसी भी उपन्यास में देखी जा सकती है। यह प्रेम ही मनुष्य को सेवा और त्याग की ओर अग्रसर करता है।”²

आपने कुछ निबन्धों में संस्मरण का भी प्रयोग किया है। ‘निराला केवल छन्द थे’ में संस्मरणात्मक शैली का प्रयोग करते हुए उन्होंने निराला के जीवन की कई घटनाओं का चित्रण किया है। एक घटना उल्लेख्य है—

“एक बार मुझे देखकर कहने लगे, ‘लगते तो ऐसे हो जैसे कसरत किया करते हो?’ मैंने धीरे से कहा, ‘हां, करता तो हूँ।’ तो बोले, ‘फिर क्या गंगा पार कर सकते हो?’ मैंने कह दिया, ‘हां, कर सकता हूँ।’ अभी एक मिनट भी नहीं हुआ था कि वह तो बस्त्र समेत गंगा में कूद पड़े और बात-की-बात में कही-के-कही पहुंचे। मैंने भी तैरना शुरू किया लेकिन उनका क्या मुकाबला था, तो मैंने थोड़ी दूर जाकर कहा कि, ‘मैं हार मानता हूँ।’ बस फिर क्या था, वह लौट आये और मुझे नाव में बिठाकर ले आये और बड़े स्नेह से बातें करते हुए हम लोग महादेवी जी के यहाँ पहुंचे।”³

(ix) राष्ट्रीय भावना के निबन्ध—द्विवेदीजी ने राष्ट्रीय भावना सम्बन्धी कुछ निबन्धों की रचना भी की है। इनमें प्रमुख हैं—‘स्वतन्त्रता संघर्ष का इतिहास’, ‘सकीर्ण-ताओं पर हथौड़े की चोट’, ‘राष्ट्रीय सकट और हमारा दायित्व’, ‘सड़ाई खत्म हो गई’, ‘छत्तीस जनवरी : गणतन्त्र दिवस’ आदि।

प्रस्तुत निबन्धों में द्विवेदीजी ने राष्ट्र-प्रेम, शांति, अहिंसा, लोकतन्त्र आदि मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। सन् 1971 ई० के भारत-पाकिस्तान युद्ध और बंगलादेश की

1. ‘फिर से सोचने की आवश्यकता है’, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 292
2. ‘मुंशी प्रेमचन्द’, उपरिचर, पृ० 326
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 328

स्वतन्त्रता पर आधारित निबन्ध 'सड़ाई घटम हो गयी' एक उत्कृष्ट निबन्ध है। इस निबन्ध में इतिहास और भूगोल का अन्तर करते हुए वे कहते हैं कि—

“इतिहास इच्छा है, गति है, भूगोल क्रिया है, स्थिति है। मनुष्य की सामूहिक इच्छा जब जड़ता से टकराती है, तब इतिहास आगे बढ़ता है। जब स्थिति उस पर हावी हो जाती है, तब इतिहास पीछे हटता है, लड़खड़ाता है, फिसलता है और जब गति तीव्र होती है और स्थिति को पछाड़ देती है, तब भूगोल लड़खड़ाता है, टूटता है, पिटाता है।”¹

(x) ज्योतिष-सम्बन्धी निबन्ध—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी स्वयं ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता थे। आरम्भ में उनकी मनोकामना एक ज्योतिषी बनने की ही थी। यही कारण है कि उन्होंने गणित ज्योतिष और फलित ज्योतिष पर भी निबन्धों की रचना की। उनके इन प्रकारके प्रमुख निबन्ध हैं—‘व्योमकेश शास्त्री उर्फ हजारीप्रसाद द्विवेदी’, ‘ब्रह्माण्ड का विस्तार’, ‘केतु-दर्शन’, ‘प्राचीन ज्योतिष’, ‘ज्योतिषविज्ञान’, ‘भारतीय फलित ज्योतिष’ आदि।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्वयं स्वीकार किया है कि वे एक ज्योतिषी बनने की कामना करते थे। “बनने चला था ज्योतिषी, बन गया हिन्दी का लेखक। जो लिखना चाहा था वह नहीं लिखा, अप्रत्याशित रूप से कुछ ऐसा लिखा गया जिनकी कल्पना भी मन में नहीं थी।”²

द्विवेदीजी गणित ज्योतिष के भी ज्ञाता थे और उन्हें ‘दृषयादुपवाद’ के रूप में प्रचलित गणना-पद्धति पसन्द नहीं थी। उन्होंने उसके विरोध में एक निबन्ध ‘सनातन-धर्म’ नामक पत्र में लिखा था जिसके आधार पर उन्हें इन्दौर में अखिल भारतीय ज्योतिष-सम्मेलन में सर्वमहत्त्व पंचांग बनाने की निर्णायक समिति का सदस्य बनाया गया था किन्तु अपने गुरुजी पं० रामयत्न ओझाजी के भी वहाँ उपस्थित होकर अपना पक्ष रखने के कारण वे नहीं जा सके थे। आपने ज्योतिष-विज्ञान के आदान-प्रदान करने की क्षमता के आधार पर उसकी उदारता में मानवता के दर्शन किये—

“यह शास्त्र मनुष्य के ज्ञान-क्षेत्र के मिलन का अद्भुत निदर्शन है। जो लोग आज दुर्बिधा में पड़े हुए हैं, उन्हें यह बात आश्चर्य करती है कि यह जो कृत्रिम विकट भ्रुकुटियों का अभिनय चल रहा है, यह जो दन्त-दंष्ट्र अधरोष्ठों के द्वारा सपर्य का मयकर लक्षण स्पष्ट हो रहा है, वह सब दार्शनिक है। कठोर संघर्षों के भीतर भी मानव की मिलन-भूमि तैयार हो रही है। ज्योतिष-शास्त्र यह आशाकर संदेश ही देता है। हमारी संस्कृति को उसने विश्वसंस्कृति बनने में अद्भुत सहायता पहुँचाई है। उसने मनुष्य को आगे बढ़ने का साधन प्रस्तुत किया है, मिलन का क्षेत्र तैयार किया है और मनुष्य की उच्चतर वृत्तियों के प्रति हमारी आस्था को दृढ़ किया है।”³

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 432

2. ‘जिन्दगी और मौत के दस्तावेज’, हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 113

3. ‘प्राचीन ज्योतिष’, हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 130

(xi) भौगोलिक निबन्ध—द्विवेदीजी ने भौगोलिक विषयों पर भी निबन्धों की रचना की है। 'हिमालय', 'वंशाती' आदि निबन्ध इसी कोटि के हैं। इन निबन्धों में उन्होंने प्राचीन इतिहास की महिमा को ही प्रस्तुत किया है। इतिहास के माध्यम से उन्होंने मानव की जय-यात्रा को ही प्रस्तुत किया है—

“इतिहास के अवशेष उसकी विजय-यात्रा के उत्साह में मत्त होकर घला था, पर उसे बाधाओं के आगे झुकना पड़ा। वह दूसरी ओर मुड़ गया। रुका नहीं, हारा नहीं, मरा नहीं। इतिहास उन मोड़ों की कहानी सुनाता है, उन बाधाओं का रूप दिखाता है, मनुष्य की दुर्दम जययात्रा की कथा कह जाता है। आज इस पुष्प अवसर पर हम इतिहास से प्रेरणा लेने आये हैं—प्रविष्य के निर्माण की, मनुष्य के दुर्दान्त विजिगीषा की, अस्मिरता के पोषक तत्वों को उन्मूलन करने की सात्त्वता की। वंशाती हमारा आलोक स्तम्भ हो।”¹

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी निबन्ध-रचना में विषयों का वैविध्य अवश्य प्रस्तुत किया है, किन्तु उनका केन्द्रीय भाव अथवा बीज-भाव मानव-कल्याण ही है। आपका साहित्य-सिद्धान्त इसी बीज-भाव का प्रस्फुटन है। वे प्राचीन परम्परा और आधुनिकता के समन्वय के आकांक्षी रहे हैं। यह समन्वय ही मानव का कल्याण करने में समर्थ है। प्राचीन परम्परा और इतिहास तो 'शव' है, साधक को उसका मुख अपनी ओर फेरना होगा, तभी सुफल मिल सकता है।² वे स्वयं कहते हैं कि—

“मनुष्य केवल सांस लेकर अन्न ग्रहण करके जीने वाला यंत्र नहीं है। उसका आधे से अधिक अस्तित्व परम्परा के भीतर छिपा हुआ है। उसकी उपेक्षा करके मनुष्य को सुखी नहीं बनाया जा सकता और उसका अन्ध अनुयायी बनाकर उसे गतिहीन और पगु कर दिया जायेगा। परम्परा मनुष्य को उसके परिपूर्ण रूप में समझने में सहायता करती है। आधुनिकता उसके बिना सम्भव नहीं है। परम्परा आधुनिकता को आधार देती है, उसे शुष्क और नीरस बुद्धिविलास बनने से बचाती है, उसके प्रयासों को अर्थ देती है, उसे असयत और विभ्रंखल उन्माद से बचाती है। ये दोनों परस्पर-विरोधी नहीं, परस्पर-पूरक हैं।”³

भावप्रवणता और साहित्य

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने वैयक्तिक निबन्धों में तो भावप्रवणता को शैली के रूप में ही स्वीकार किया है किन्तु अन्यत्र भी उन्होंने जहाँ भी अवसर मिला है, भाव-प्रवणता के द्वारा अपने कव्य की अभिव्यक्ति करने का प्रयास किया है। वैयक्तिक निबन्धों में 'अशोक के फूल', 'शिरीष के फूल', 'कुटज', 'देवदारु', 'आम फिर बीरा गये', 'वसन्त

1. वंशाती, हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 157

2. शव-साधना, हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 352

3. 'परम्परा और आधुनिकता', हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 363

आ गया है', 'मेरी जन्मभूमि', 'नया वर्ष आ गया', 'नाछून नयो बढते हैं', 'गतिश्चिन्तन', 'एक कुत्ता और एक मैना' आदि उल्लेख्य हैं।

द्विवेदीजी जिस विषय पर निबन्ध लिखते हैं, उस पर 'स्व' की प्रतिक्रिया द्वारा भाव-प्रवणता को जन्म देते हैं। कालित्य सिद्धान्त भाव-प्रवणता को सभी कला का मूल स्थापित करता है। वैयक्तिक निबन्धों की एक प्रमुख विशेषता भाव-प्रवण होती है। यही कारण है कि आचार्य द्विवेदीजी के निबन्धों में वह प्रमुख रूप से विद्यमान है। अशोक के फूल को देखकर ही उनका मन उदास हो जाता है—

"लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए मैं कि सुन्दर वस्तुओं को हृत्प्रभाय्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोको मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया, उसके जीवन के अंतिम मुहूर्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अन्तर्दार्ढ्य जानते होंगे, कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ।"¹

'शिरीष के फूल' को देखकर तो वे उसकी मस्ती और फक्कड़पन के माध्यम से उसे अवधूत की संज्ञा से ही अभिव्यक्त कर देते हैं। सरसता पाने के लिए अवधूत होने आवश्यक है और उसके सभी गुण शिरीष में मिल जाते हैं—

"एक-एक बार मुझे मालूम होता है कि यह शिरीष एक अद्भुत अवधूत है दुःख हो या सुख, वह हार नहीं मानता। न ऊँचो का सेना, न बाघो का देना। जब धरत और आसमान जलते रहते हैं, तब भी ये हजरत न जाने कहाँ से अपना रस खींचते रहते हैं। मौज में आठो याम मस्त रहते हैं। एक वनस्पति-शास्त्री ने मुझे बताया है कि यद्यत्त श्रेणी का पेड़ है जो वायुमण्डल से अपना रस खींचता है। जरूर खींचता होगा। नहीं तो भयंकर लू के समय इतने क्रोधित तन्तुजाल और ऐंसे सुट्टुमार केसर को कैसे उग सकता था? अवधूतों के मुह से ही ससार की सबसे सरस रचनाएँ निकली हैं। कबीर बहुत कुछ इस शिरीष के समान ही थे, मस्त और बेपरवाह, पर सरस और मादक। कालिदास भी जरूर अनासक्त योगी रहे होंगे। शिरीष के फूल फक्कड़ाना मस्ती से ही उपज सकते हैं और 'मधूत' का काव्य उसी प्रकार के अनासक्त अनाविल उन्मुक्त हृदय में उमड़ सकता है।"²

आचार्य द्विवेदी कुटज की अपराजेय जीवनी-शक्ति की धोषणा करते हुए नहीं अघाते। मनोहर कुमुम-स्तम्भों से झवरारण्य, उत्सास-सोल चारस्मित कुटज को देखकर उनका जी भर आता है। उसका सौंदर्य वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि—

"बलिहारी है इस मादक शोभा की। चारो ओर बुधित यमराज के दाहण निःश्रयास के समान घथकती लू में यह हुरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पापण की कारा में रूढ़ अज्ञात जसद्योत से बरबस रस खींचकर सरस बना

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 19

2. उपरिचरित, पृ० 27

हुआ है और मूर्ख के मस्तिष्क से भी अधिक सूने गिरिकान्तार में भी ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है। कितनी कठिन जीवनी-शक्ति है ! प्राण ही प्राण को पुलकित करता है, जीवनी-शक्ति ही जीवनी-शक्ति को प्रेरणा देती है।¹

कुटज के समान ही उन्होंने देवदारु के सौन्दर्य का भी वर्णन किया है। देवदारु नाम महाभारत से भी पुराना है। वह ऊँचा इतना होता है कि पास वाली चोटी से भी ऊपर उठ जाता है मानो वह झूलोक को भेदने की लालसा अपने मन में समेटे हुए है। उसकी झुकी शाखाएँ मानो मर्त्यलोक को ही अभयदान देती हैं। वे आगे कहते हैं कि—

‘पेड़ क्या है, किसी सुनने हुए कवि के चित्त का मूर्तिमान छन्द है—घरती के आकर्षण की अभिभूत करके लहरदार बितानों की श्रृंखला को सावधानी से सभालता हुआ, विपुल व्योम की ओर एकाग्रभूत मनोहर छन्द ! कैसी शान है, गुरुत्वाकर्षण के जड़-वेग को अभिभूत करने की कैसी स्पर्धा है—प्राण के आवेग की कैसी उल्लासकर अभिव्यक्ति है। देवताओं का दुलारा पेड़ नहीं तो यह क्या है?’²

बूझो, ऋतुओं और पर्व-सम्बन्धी निबन्धों में तो भाव-प्रवणता के दर्शन होते ही हैं, अन्य निबन्धों में भी उन्होंने जहाँ भी मन पड़ा है, भाव-प्रवणता का चित्रण किया है। महात्मा गांधी की मृत्यु पर लिखा गया निबन्ध ‘वह चला गया’ का आरम्भ ही इस प्रकार का है—

‘वह चला गया’, वह प्रज्ञाचर्य का विजय-केतन, धर्म का मूर्तिमान विग्रह, संयम की धवल पताका, वैराग्य का प्रसन्न वैभव, सत्य का अवतार, अहिंसा का रूप, प्रेम का आकार, कीर्ति का कलाश, भक्ति का उल्लास हमारे बीच से चला गया। इतिहास ने इतनी क्षीण काया में इतना बड़ा प्राण नहीं देखा था। धरित्री ने इतने अल्प अवकाश में इतना बड़ा प्रकाश नहीं देखा था, मनुष्यता ने इतना बड़ा विजयोल्लास कभी अनुभव नहीं किया था। वह हसता हुआ आया, रताता हुआ चला गया। तपस्या का शुभ हिमालय गल गया, सारा ससार उस शीतल कारिधारा से आर्द्र है। ससार के इस कोने से उस कोने तक एक ही मर्मभेदी आवाज आ रही है—वह चला गया, गांधी चला गया।³

‘सड़ाई खरम हो गयी’ शीर्षक निबन्ध में 1971 ई० के युद्ध का वर्णन इसी प्रकार किया गया है। पूर्वी पाकिस्तान में हो रहे अत्याचारों की बात पढ़-सुनकर लेखक का तापमान बढ़ जाता है। डॉक्टर उसे रक्तचाप की संज्ञा देते हैं—

“सगता है कि जब इतिहास-विघाता का रथ जरा तेज होता है, तब उसकी घर-पराहट मेरे रक्त को प्रभावित अवश्य करती है। मेरे कृपालु चिकित्सक उस घड़कन को अनेक नामों से बताते हैं, पर मेरे अन्तर्यामी कहते रहते हैं—यह तुम्हारी घड़कन नहीं है, कहीं कुछ घट रहा है, कुछ मिट रहा है ! हाय रे भाग्य, इतिहास विघाता की सड़क क्या मेरी धमनियों में ही गुजरती है ? जब उनकी भवें तनती हैं तभी मेरी आँखें लाल हो

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 32

2. उपरिच्युत्, पृ० 34

3. उपरिच्युत्, पृ० 403

जाती हैं, जब उनके मन में रोप की ऊष्मा उदित होती है तभी मेरा तापमान बढ़ जाता है। इस बार वह कुछ अधिक क्रुद्ध जान पड़ते हैं। मेरा शरीर, मेरा मन, मेरी अतरात्मा साक्षी है।¹

बौद्धिकता में सौन्दर्य-तत्त्व का योग

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अधिकांश निबन्ध बौद्धिक हैं। उन्होंने अपने वैयक्तिक और सलित निबन्धों में भी बौद्धिकता को प्रमुखता दी है। 'अशोक के फूल' में वे मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा को ही केन्द्रीय विचार मानकर निबन्ध का ताना-बाना बुनते हैं। भारतीय संस्कृति में न जाने कितने नवीन तत्वों को स्वीकार किया गया और पुरानों को फटकार दिया गया। जो भी मानवीय जिजीविषा के उपभुक्त था, वह गेप बच रहा और जो व्यर्थ हो गया था, उसे फेंक दिया गया—

"सभ्यता और संस्कृति का मोह शाय-भर बाधा उपस्थित करता है, घर्माघार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है, पर दस दुर्दम धारा में सब कुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवनी-शक्ति को समर्थ बनाता है, उतना उसका धग बन जाता है—बाकी फेंक दिया जाता है।"²

'शिरीष के फूल' में उनका बौद्धिक मन कहता है कि कवि बनने के लिए फतकडाना मस्ती आवश्यक है। जिसमें मस्ती नहीं वह कवि बन ही नहीं सकता—

"जो कवि अनासक्त नहीं रह सका, जो फनकड़ नहीं बन सका, जो किये-कराये का लेखा-जोखा मिलाने में उलझ गया, वह भी क्या कवि है? कहते हैं कर्णाट-राज की प्रिया विजिजा देवी ने सर्वपूर्वक कहा था कि एक कवि ब्रह्मा थे, दूसरे वास्मीकि और तीसरे ध्याम। एक ने वेदों को दिया, दूसरे ने रामायण को और तीसरे ने महाभारत को। इनके अतिरिक्त और कोई यदि कवि होने का दावा करे तो मैं कर्णाट-राज की प्यारी रानी उनके सिर पर अपना बामा चरण रखती हूँ—'तेषां भूहिर्न दशमि बामचरणं कर्णाटराजप्रिया !'" में जानता हूँ कि इस उपासक से दुनिया का कोई कवि हारा नहीं है, पर इसका मतलब यह नहीं कि कोई सजाये नहीं तो उसे डाँटा भी न जाये। मैं कहता हूँ कि कवि बनना है मेरे दोस्तों, तो फनकड़ बनो। शिरीष की मस्ती की ओर देखो। लेकिन अनुभव ने भुँसे बताया है कि कोई किसी की मुनता नहीं। मरने दो !"³

'बुटज' में भी बौद्धिकता के प्रदर्शन होते हैं। भयानक गर्मी में पर्वत पर जो पौधे जी रहे हैं और हस रहे हैं, उन्हें वे बेहया मानकर अनायास ही कह उठते हैं—

"कभी-कभी जो लोग ऊपर से बेहया दिखते हैं, उनकी जड़ें काफी गहरे पंटी रहती हैं। ये भी पाषाण की छाती फाड़कर न जाने किस अतल गह्वर से अपना भोग्य

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 431

2. उपरिवत्-9, पृ० 23

3. उपरिवत्, पृ० 27

खीच लाते हैं।”¹

इसी प्रकार वे रूप और नाम की तुलना करते हैं। वृक्ष का नाम याद नहीं आता तो वे कहते हैं कि नाम के बिना रूप की पहचान अघूरी रह जाती है। वे कहते हैं कि—

“नाम इसलिए बड़ा नहीं है कि वह नाम है। वह इसलिए बड़ा होता है कि उसे सामाजिक स्वीकृति मिली होती है। रूप व्यक्ति-सत्य है, नाम समाज-सत्य। नाम उस पद को कहते हैं जिम पर समाज की मुहर लगी होती है, आधुनिक शिक्षित लोग जिसे ‘सोशल संवसन’ कहा करते हैं। मेरा मन नाम के लिए व्याकुल है, समाज द्वारा स्वीकृत, इतिहास द्वारा प्रमाणित, समाष्टि-मानव की चित्त-गमा मे स्नात !”²

इसी प्रकार आचार्य द्विवेदी ‘कुटज’ शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हैं। कुटज का अर्थ होता है जो घुट से पैदा हुआ। कुट घड़े को भी कहते हैं और घर को भी। अगस्त्य मुनि को भी घुटज कहा जाता था। वे अगस्त्य को घड़े से उत्पन्न स्वीकार नहीं करते। संस्कृत में दासी के लिए ‘कुटहारिका’, ‘कुटकारिका’, ‘कुटनी’ आदि कहा जाता है। वे दासी-पुत्र हो सकते थे? ‘कुटज’ वृक्ष के सम्बन्ध में तो यह भी सम्भव नहीं। वे अपने मन की बात बुद्धि की तराजू पर तौलते हुए कहते हैं कि—

“मुझे तो इसी में संदेह है कि यह आर्यभाषाओं का शब्द है भी या नहीं। एक भाषाशास्त्री किसी संस्कृत शब्द को एक से अधिक रूप में प्रचलित पाते थे तो तुरन्त उसकी कुलीनता पर शक कर बैठते थे। संस्कृत में ‘कुटज’ रूप भी मिलता है और ‘कुटव’ भी। मिलने को तो ‘कुटज’ भी मिल जाता है। तो यह शब्द किस जाति का है? आर्य जाति का तो नहीं जान पड़ता। सिलवां लेवी कह गये हैं कि संस्कृत भाषा में फूलों, वृक्षों और खेती-बागवानी के अधिकांश शब्द आग्नेय भाषा-परिवार के हैं।”³

आचार्य द्विवेदी के ललित निबन्धों में ‘देवदारु’ को सर्वश्रेष्ठ निबन्ध की संज्ञा दी जा सकती है। उममें तो बौद्धिकता का प्रयोगाधिक्य ही है। लेखक ने अर्थ की लय का विरोध करते हुए अर्थ की तुक के मिथ्यान्त की ही स्थापना कर दी। वे कहते हैं कि “मेरे अन्तर्दामी कहते हैं कि तुक तो अर्थ में रहता है, लय में नहीं रहता।”⁴ उनकी दृष्टि में जो सबको लगे, वही अर्थ है, वही तुक है—

“प्रत्येक व्यक्ति के मन में कुछ-न-कुछ लगता रहता है। मजेदार बात यह है कि व्यक्ति का लगना अलग-अलग होता है। ‘अ-लग’ अर्थात् जो न लगे। लगता है पर नहीं लगता, यह भी कोई तुक की बात हुई? तुक की बात तब होती जब ‘अलग’ लगना न होता। इसीलिए कहता हूँ कि तुक अर्थ में होता है।”⁵ “जो सबको लगे सो अर्थ, एक को लगे, बाकी को न लगे तो अनर्थ।”⁵

1. हजारोप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 29

2. उपरिबत्, पृ० 30

3. उपरिबत्, पृ० 31

4. उपरिबत्, पृ० 36

5. उपरिबत्, पृ० 37-38

अर्थ पर विचार करते-करते वे 'मिथक' पर विचार करने लगते हैं। 'मिथक' गप्पें हैं जो भाषा की अपूर्णता को भरने का प्रयास है—

“आदिकाल से मनुष्य गप्प रचता आ रहा है, अब भी रचे जा रहा है। आजकल हम लोग ऐतिहासिक युग में जीने का दावा करते हैं। पुराना मनुष्य 'मिथकीय युग' में रहता था, जहाँ वह भाषा के माध्यम को अपूर्ण समझता था वहाँ मिथकीय तत्वों से काम लेता था। मिथक गप्पें—भाषा की अपूर्णता को भरने का प्रयास है। आज भी क्या हम मिथकीय तत्वों से प्रभावित नहीं हैं? भाषा बुरी तरह अर्थ से बधी हुई है। उसमें स्वच्छन्द संचार की शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है। मिथक स्वच्छन्द विचरण करता है।”¹

इसी प्रकार द्विवेदीजी ने कवि, साधारणीकरण और महदय पर भी विचार किया है। कवि अपनी अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाने की क्षमता रखता है। किसी-न-किसी प्रकार वह अपने कथ्य को पाठक या श्रोता तक पहुँचाता है और जब पाठक या श्रोता कवि की अनुभूति के साथ तारतम्य बिठा लेता है तो सहृदय कहलाता है—

“जितने शक्ति होती है वह कवि कहलाता है। अनेक प्रकार के कोशल में वह इस बात को कहने का प्रयत्न करता है, फिर भी शब्दों का सहारा तो उसे लेना ही पड़ता है। शब्द सदा सामान्य अर्थ को प्रकट करते हैं, कवि विशिष्ट अर्थ देना चाहता है। वह छन्दों के सहारे, उपमान-योजना के बल पर, ध्वनि-साम्य के द्वारा विशिष्ट अर्थ का साधारणीकरण करता है। तो भी क्या सब उसके विशिष्ट अर्थ को समझ पाते हैं? बिल्कुल नहीं। कोई बड़भागी होता है जिसके दिल की धड़कन कवि के दिल की धड़कन के साथ सात मिला पाती है। कवि के हृदय के साथ जिसका हृदय मिल जाये उसे 'सहृदय' कहा जाता है।”²

सहृदय पर विचार करने के पश्चात् वे प्रेयणधर्मिता पर भी विचार करते हैं। मीमांसकों का मत था कि शब्द का अर्थ वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है। इसे वे विवक्षा कहते थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी मीमांसकों के इस मत का विरोध करते हैं। उनके अनुसार 'सुन्दर' शब्द से वह अर्थ ध्वनित नहीं हो पाता जो उनका हृदय कहना चाहता है। यही कारण है कि वे अपने निम्न निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हैं—

“नहीं, शब्द उतना ही बता पाता है जितना लोग समझते हैं। वक्ता जो कहना चाहता है उतना कहा बता पाता है वह? दुनिया में कवियों की जो कद्र है, वह इसलिए है कि जो अनुभव करते हैं उसे श्रोता के चित्त में प्रविष्ट भी करा सकते हैं। प्रेयणधर्मिता उनके कहे का एक प्रधान गुण है।”³

'आम फिर बीरा गये' में वे 'यातुधान' और 'नमाज' जैसे शब्दों पर विचार करने लगते हैं। 'भागवत पुराण' में वर्णित शम्बर असुर जिसका नाम शम्बर, साबर और

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 40

2. उपरिबत्, पृ० 41

3. उपरिबत्, पृ० 42

शाबर भी मिलता है, एक जादू विद्या का आचार्य था। इसी आधार पर वे 'यातुघान' शब्द पर विचार करते हैं—

“यह इन्द्रजाल या जादू विद्या का आचार्य माना जाता है अर्थात् 'यातुघान' है। यातु और जादू शब्द एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूप हैं। एक भारतवर्ष का है, दूसरा ईरान का। ऐसे अनेक शब्द हैं। ईरान में थोड़ा बदल गये हैं और हम लोग उन्हें विदेशी समझने लगे हैं। 'खुदा' शब्द असल में वैदिक 'स्वघा' शब्द का भाई है। 'नमाज' भी संस्कृत 'नमस्' का सगा-सम्बन्धी है। 'यातुघान' को ठीक-ठीक फारसी वेश में सजा दें तो 'जादू दा' हो जायेगा।”¹

आपने धात्र पर विचार करते-करते कामदेव पर विचार किया और फिर कन्दर्प शब्द के द्वारा गन्धर्वों पर विचार करने लगे। आर्य और अनार्य जातियों के संघर्ष पर विचार करते हुए आप कहते हैं कि—

“आर्यों को इस देश में सबसे अधिक संघर्ष असुरों से ही करना पड़ा था। दैत्यो, दानवों और राक्षसों से भी उनकी बर्बादी थी, पर असुरों में निपटने में उन्हें बड़ी शक्ति लगानी पड़ी थी। वे थे भी बहुत उन्नत। हर तरह से वे सम्य थे। उन्होंने बड़े-बड़े नगर बसाये थे। महल बनाये थे, जल-स्थल पर अधिकार जमा लिया था। गन्धर्वों, यक्षों और किन्नरों से आर्यों को कभी विशेष नहीं लगना पड़ा था। ये जातियाँ अधिक शांतिप्रिय थीं। बिलासिता की मात्रा इनमें कुछ अधिक थी। कामदेवता या कन्दर्प वस्तुतः गन्धर्व ही हैं। केवल उच्चारण बदल गया है। ये लोग आर्यों से मिल गये थे। असुरों ने इनसे बदला लिया था। पर अन्त तक असुर विजयी नहीं हुए। उनका संघर्ष असफल सिद्ध हुआ।”²

बृहो और ऋतुओ सम्बन्धी निबन्धों के अतिरिक्त लिखे गये निबन्धों में तो प्रौढ़ बौद्धिकता के दर्शन होते हैं। आचार्य द्विवेदीजी की बौद्धिकता का सौन्दर्य उनके मानवीय-कल्याण की भावना में छिपा हुआ है। वे मानव समानता, मानवीय जिजीविषा और मानव-कल्याण की गायन गाने वाले साहित्यकार हैं। उनके निबन्धों की यह आत्मा है। वे तो मानव धर्म के ही पक्षपाती हैं। 'मानव-धर्म' शीर्षक निबन्ध में वे स्पष्ट कहते हैं कि—

“संसार के श्रेष्ठ मनीषियों ने घोषणा की है कि मनुष्य एक है और इसीलिए मूल मानवधर्म भी एक ही है। यह इस युग की आवश्यकता नहीं है, किन्तु युग का अनुभूत सत्य है। पहले भी दीर्घ दृष्टि वाले मनीषियों ने इस बात को अपने-अपने ढंग से कहा था, परन्तु आज यह सत्य अधिक व्यापक होकर अनुभूत हुआ है। इसीलिए विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों में पाई जाने वाली संस्कृतियों में और धार्मिक सम्प्रदायों के विश्वासों में समन्वय करने की चर्चा चल पड़ी है।”³

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 46

2. उपरिचर्त, पृ० 46-47

3. उपरिचर्त, पृ० 382

साहित्यिक-सांस्कृतिक, राजनैतिक, राष्ट्रभाषा और ज्योतिष सम्बन्धी निबन्ध तो स्पष्टतः ही बौद्धिक निबन्ध हैं। इनकी बौद्धिकता समूह और समाज के लिए प्रतिबद्ध है। सामाजिक, राष्ट्रीय कल्याण से बड़ा कल्याण मानव-कल्याण है। यही उनकी बौद्धिकता का सौन्दर्य है और यही निबन्धों का साहित्य है।

कल्पना-तत्व में साहित्य

कल्पना-तत्व स्वयं में साहित्य होता है, उसमें रचना-धर्मिता होती है और अभिव्यक्ति पाकर वह साहित्य बन जाता है। आचार्य द्विवेदी ने अपने सलित निबन्धों में कल्पना-तत्व का विशेष सहारा लिया है। जब वे प्राचीन संस्कृति के अंधेरे कोने में झाकते हैं तो कल्पना के नेत्रों को खोलकर ही कुछ देख पाते हैं। 'आम फिर बीरा गये' में वे आम और बिच्छू के सम्बन्ध को लेकर विचलित हो उठते हैं। कहा जाता है कि आम्र-मजरी के आते ही उसे हथेली पर रगड़ लिया जाये तो वर्ष भर बिच्छू का डक काम नहीं करता। लेखक ने भी बचपन में अनेक बार उसे हथेली पर रगड़ा था। दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते हुए वे आर्यों और अनार्यों के अन्तिम युद्ध की कल्पना करते हैं। उस युद्ध में कामावतार प्रद्युम्न और श्रीकृष्ण की विजय हुई थी। वे कहते हैं कि—

“शिवजी की सेना प्रथम बार पराजित हुई। कैसे और कब प्रद्युम्न ने आम्र-कोरको का बाण सन्धान किया और बेचारा बिच्छू परास्त हुआ, यह कहानी इतिहास में दबी रह गयी। लेकिन लोग जान गये हैं और बच्चों की दुनिया को भी पता लग ही गया है।”¹

आचार्य द्विवेदी के निबन्धों की यह विशेषता है कि जब वे कल्पना की उड़ान भरते हैं तो उनका शब्द और वाक्य-सौन्दर्य की छटा अनुपम हो उठती है। तत्सम शब्दों के प्रयोग का बाहुल्य ही जाता है और वाक्य की लड़कियाँ मुक्ताहार की लड़कियों के समान बन जाती हैं। 'रे कवि एक बार सम्हाल' के आरम्भ में ही वे कल्पना की जो उड़ान भरना चाहते हैं, वह हमारे कथन की पुष्टि करने वाली है—

“आज मेरी कल्पने! उड़ चल पुनः उस देश में, जिसमें मलय-मकरन्द-वासित वायु के हिलोल से ही हिल रहे दुर्लभित काचन-पद्म, इठलाते नवीन मराल-दम्पति परम उत्सुकता सहित अर्द्धोपभुक्त मृगाल-कबलो से परस्पर को समादृत कर रहे, चिक्कन मसृण सुस्निग्ध वपु गजशाव लेकर मैं सुगन्धित बारि देता प्यार से ढरका करेणु-विलासिनी के गाल पर, उन्मद-घट्टल जल-कुक्कुटों की पाति नाना भाँति कल-कल्लोल से करती हृदय अभिभूत...”²

आचार्य द्विवेदी कालिदास के काव्य में अशोक के फूल को मिली गरिमा और उसके पश्चात् उसकी विस्मृति को देखकर कल्पना के लोक में खो जाना चाहते हैं। वे कहते हैं कि—

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी श्रृंखला-9, पृ० 48

2. उपरिचर, पृ० 234

“मेरा मन उमड़-धुमड़कर भारतीय रस साधना के पिछले हजारों वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भूलाने की चीज थी? सहृदयता क्या लुप्त हो गयी थी? कविता क्या सो गयी थी?”¹

शिवालिक की चर्चा करते हुए वे ‘कुटज’ में हिमालय की कल्पना शिव के जटा-जूट से करते हैं। हिमालय और समाधिस्थ शिव की क्षमता की कल्पना उन्होंने उचित ही की है—

“शिवालिक का क्या अर्थ है? ‘शिवालिक’ या शिव के जटाजूट का निचला हिस्सा तो नहीं है? लगता तो ऐसा ही है। शिव की सटियाती जटा ही इतनी सूखी, नीरस और कठोर हो सकती है। वैसे, अलकनन्दा का स्रोत यहा से काफी दूरी पर है, लेकिन शिव का अलक से दूर-दूर तक छितराया ही रहता होगा।”²

द्विवेदी जी ‘देवदारु’ में देवदारु के नाम पर विचार करते हुए उसे देवता का काठ मानते हैं। वे कल्पना करते हैं कि भगवान् शिव ने जब काम को भस्म किया होगा तब देवदारु निर्विकार रहा होगा, इसीलिए उसका नाम देवता के काठ के रूप में रखा गया होगा—

“महादेव ने आँखें मूढ़ ली थी, देवदारु ने खोल रखी थी। महादेव ने भी जब आँख खोल दी तो तुक त्रिगड़ गया, छन्दोभंग हो गया, त्रैलोक्य को मदविह्वल करने वाला देवता भस्म हो गया। उसका फूलों का तूणीर जल गया, रत्नजटित धनुष टूट गया। सब गड़बड़ हो गया। सोचता हूँ—उस समय देवदारु की क्या हालत हुई होगी? क्या इतनी ही फक्कड़ाना मस्ती से झूम रहा होगा? क्या ऐसा ही बेसोस खड़ा होगा? शायद हा, क्योंकि शिव की समाधि टूटी थी, देवदारु का ताण्डव रस भाव विवर्जित महानुत्त—नहीं टूटा था। देवता की तुलना में वह निर्विकार रहा—काठ बना हुआ। कौन जाने इसी कहानी को सुनकर किसी ने उसे ‘देवता का काठ’ (देवदारु) नाम दे दिया हो। फक्कड़ हो तो अपने लिए हो बाबा, मनुष्य के लिए तो निरे काठ हो, दया नहीं, माया नहीं, मोह नहीं, आसक्ति नहीं, निरे काठ। ऐसों से तो देवता ही भ्रसा! कहीं-न-कहीं उसमें दिल तो है। मगर यह भी कैसे कहा जाये। देवता के दिल होता तो साज-शरम भी होती, साज-शरम होती तो आँखों की पलकें भी झंपती। लेकिन देवता है कि ताकत रहता है, पलकें उसकी झंपती ही नहीं। एक क्षण के लिए उसने आँखें मूढ़ी कि अनर्प हुआ। बहुत सावधान, सदा जाग्रत।”³

आचार्य द्विवेदी ने जहाँ भी अवसर मिला है, कल्पना का सहारा लिया है। ‘पंडितों की पचायत’ में पहले वे अपने कल्पना के नेत्रों से महागणक आचार्य वराहमिहिर को न्यायासन की पीठ पर बैठे हुए देखते हैं और सूर्य-सिद्धान्त को सर्वथेष्ठ प्रमाणित करते हुए चित्रित करते हैं। उसके पश्चात् टीका-युग के भारत की कल्पना करते हैं—

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 20
2. उपरिवत्, पृ० 29
3. उपरिवत्, पृ० 36-37

“मुझे साफ दिखार्ई दिया, भारतवर्ष की पदध्वस्त संस्कृति हेमाद्रि के सामने धड़ी है, बेहरा उदास पड गया है, अशुशुब्ध-नयन कोटरजायी से दिख रहे हैं, बदन-कमल मुरझा गया है। हेमाद्रि का मुख-मण्डल गम्भीर है, भूदेश किंचित कुंचित हो गये हैं, विशाल सलाह पर चिन्ता की रेखाएँ उमड़ आयी हैं, अघरोष्ठ दातों के नीचे आ गया है—वे किसी सुदूर की वस्तु पर दृष्टि लगाये हैं।”¹

द्विवेदी जी का व्यंग्य

आचार्य द्विवेदी शोषण, अत्याचार, अन्याय और असमानता के विरोधी तथा मानवता के पक्षधर लेखक हैं, इसलिए वे व्यंग्य को एक अस्त्र के रूप में प्रयोग करते हैं। ‘कुटज’ में उन्होंने खुशामदी और चाटुकारों पर अच्छा व्यंग्य किया है—

“कुटज क्या केवल जी रहा है ? वह दूसरे के द्वार पर भीख मागने नहीं जाता, कोई निफट आ गया तो भय के मारे अघमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अपमानित करने के लिए प्रहो की खुशामद नहीं करता, आत्मोन्नति के हेतु नीलम नहीं धारण करता, अंगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दांत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झांकता।”²

‘देवदार’ में आपने भूतों की तेईस किस्म गिनायी जिनमें एक किस्म मुड़कट्टा भी है। उसके मूड नहीं होता, छाती पर मशाल की तरह जलती आखें होती हैं और वह धोड़े पर बैठकर चलता है। द्विवेदी जी बुद्धिहीन मानव की इस मुड़कुट्टे भूत से ही तुलना करने लगते हैं—

“आज देवदार के जंगल में बैठा हूँ। लाख-लाख मुड़कट्टों को गुलाम बना सकता हूँ। भूतों में जैसे मुड़कट्टे होते हैं, आदमियों में भी कुछ होते हैं। मस्तक नाम की चीज उनके पास होती ही नहीं, मस्तक ही नहीं तो मस्तिष्क कहा, सता ही कट गयी तो फूल की सभावना ही कहाँ रही—‘लताया पूर्वलूनाया प्रसूनस्योद्भवः कुहुः !’ क्या इन मुड़कट्टों की देवदार की लकड़ी से पराभूत किया जा सकता है ? करने का प्रयत्न ही तो कर रहा हूँ, परन्तु पड़ित जी के पास तो फक्फकी गायत्री थी, वह कहाँ पाऊँ ?”³

‘घरती भी’ शीर्षक निबन्ध में वे राजनैतिक दलों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि “घरती पर कुछ पाटियां गरज रही हैं, बरस नहीं पायेंगी, कुछ नहीं गरज रही हैं, वे भी नहीं बरसेंगी। जनता के लिए दोनों बराबर हैं। जैसे नागनाथ जैसे सापनाथ।” “भगवान् महाकाल का कुण्ठ नृत्य” में वे स्वतन्त्रता के पश्चात् उत्पन्न शत्रुओं के बारे में कहते हैं कि “कुछ तो ऐसे नंगे हैं कि राम-राम कहने के सिवा कुछ दूसरा सूझता ही नहीं।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 457

2. उपरिबत्, पृ० 33

3. उपरिबत्, पृ० 39

4. उपरिबत्, पृ० 77

कुछ ऐसे काइयां है कि बस मुंह में राम बगल में छुरी । इन सबके साथ निबटना है ।¹ जिसे धर्म-कर्म से कोई वास्ता नहीं, उससे उलझना हमारे लिए बड़ा कठिन होगा । रक्त में वेहपाई न हो तो उधार भागने से चोड़े ही मिलेगी ?² 'जबकि दिमाग खाली है' में हिन्दू और मुसलमान के रूप में बंटने और अपनी पुरानी परम्पराओं को भूलने पर सुन्दर व्यंग्य किया गया है, "इस अभावे देश में जो मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, वह हिन्दू होता है । वह पठान—युवक पाणिनि और यास्क का वंशज है, पर चूकि वह मुसलमान है, इसलिए वह हिन्दू नहीं ।"³

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का निबन्ध 'आपने मेरी रचना पठी?' शुद्ध हास्य-व्यंग्य का निबन्ध है । वे साहित्यकारों की गम्भीर मुखमुद्रा को देखकर और उसमें विनोद-प्रियता का अभाव पाकर कह उठते हैं कि—

"आप दुर्दान्त डाकू के दिस मे विनोद-प्रियता भर दीजिए, वह लोकतन्त्र का लीडर हो जायगा, आप समाज सुधारक के उत्साही कार्यकर्ता के हृदय मे किसी प्रकार विनोद का इन्जेक्शन दे दीजिए, वह अखबारनवीस हो जायेगा, और यद्यपि कठिन है, फिर भी किमी युक्ति से उदीयमान छायावादी कवि की नाडी में थोड़ा विनोद भर दीजिए, वह किसी फिल्म कम्पनी का अभिनेता हो जायेगा ।"⁴

वे व्यंग्य के स्वर को और अधिक भावे बढाते हैं । उन्हे गम्भीर मुखमुद्रा का साहित्यकार बनमानुष, जेब्रा, गँडा और गधे की श्रेणी का ही प्रतीत होता है । कलकत्ते के बिड़ियाघर मे बन्दी बनमानुष उन्हें सबसे अधिक गम्भीर और तत्त्व-चिन्तक प्रतीत होता है । वे कहते हैं कि—

"मैं कभी-कभी सोचता हूँ आदिम युग का मनुष्य जबकि वह वानरी योनि से मानवी योनि मे नया-नया आया था—कुछ इस कलकतिये बनमानुष की भांति गम्भीर रहा होगा । मगर यह भी कैसे कहूँ ? जेब्रा और गँडा भी मुझे कम गम्भीर नहीं लगते तथा गधे और ऊँट भी इस सूची से अलग नहीं किये जा सकते ।"⁴

आचार्य द्विवेदी गधा को उदास होने के कारण नकारात्मक मानते हैं किन्तु बनमानुष में तत्त्व-चिन्तक जैसी गम्भीरता है, इसलिए दोनों की समानता का प्रश्न ही नहीं उठता । उनकी दृष्टि मे आदिम मानव साम्यवादी था । पूंजी के संचय और साधन जुट जाने पर ही हंसना-हंसाना आरम्भ हुआ होगा, इसलिए हंसना-हंसाना पूंजीवादी मनोवृत्ति का परिचायक है । वे कहते हैं कि—

"इस युग के हिन्दी साहित्यिक जो हंसना-हंसाना नापसंद करते हैं, उसका कारण शायद यह है कि वे पूंजीवादी बुर्जुआ मनोवृत्ति को मन-ही-मन घृणा करने लगे हैं । उनकी मुक्ति शायद इस प्रकार है—चूकि संसार के सभी लोग हंस नहीं सकते, इसलिए हसी एक

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 159

2. उपरिवत्, पृ० 461

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 124

4. उपरिवत्, पृ० 125

गुनाह है और चूकि संसार के सभी लोग थोड़ा-बहुत रो सकते हैं, इसलिए रोना ही वास्तविक धर्म है। फिर भी अधिकांश साहित्यिक रोते नहीं, केवल रोगी मूरत बनाये रहते हैं। जिसे थोड़ा-सा भी गणित सिखाया गया हो, वह बहुत आसानी से उस आचरण की युक्तियुक्तता समझ सकता है। मैं समझ रहा हूँ।¹

आचार्य द्विवेदी साहित्य की दुनिया में केवल समालोचक को ही रहस्यवादी जीव मानते हैं। वे रहस्यवादी समालोचक की तुलना काशी के मर्दानी मुहल्ले की सड़क पर साधना करने वाले रहमत अली फकीर से करते हैं जो आकाश की ओर मुह उठाकर सात, मुक्के, धूसे का प्रहार करता है। वे कहते हैं कि—

“आसमान में निरन्तर मुक्का मारने में कम परिश्रम नहीं है और मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हसी-खेल नहीं है। पुस्तक को छुभा तक नहीं, और आलोचना ऐसी लिखी ब्रह्मोक्त विकम्पित ! यह बया कम साधना है।”²

व्यक्तित्व :

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व सांस्कृतिक कहा जा सकता है। “गंगा की अखिरत प्रवाहित धारा की भांति सदा पवित्र, मनुष्य की दुर्लभ जिजीविषा का यह आलेपक अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि, अतल स्पर्शी प्रतिभा, मार्मिक चिन्तन-उदार मन एव ध्यायक मानवतावादी भावना का ईश्वर है।”³ आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व भारत के प्राचीन और नवीन चिन्तन, साहित्य-भावना, सहृदयता, पाण्डित्य उदारता और मानवता का विराट समन्वय है। यही कारण है कि उनके निबन्धों में उनके इसी व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। उनकी यह निजी विशेषता है कि वे अपने निबन्धों में निजी विचार और निज की विशेषताओं की अभिव्यक्ति करके भी अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करते हैं।⁴

उनका चिन्तन, पाण्डित्य और प्राचीन संस्कृति का गहन ज्ञान तो सभी निबन्धों में अभिव्यक्ति पा सका है किन्तु व्यक्तिपरक निबन्धों में तो उनकी निजता पाठक के माथ सहज सादात्म्य स्थापित करने में समर्थ है। कहीं वे अपने बारे में बात करते प्रतीत होते हैं, कहीं पाठक से बात करते प्रतीत होते हैं, कहीं वे उसे चुपगुदाते हैं और कहीं भमतापूर्ण व्यवहार भी करते प्रतीत होते हैं। विभिन्न स्थितियों पर व्यंग्य के द्वारा भी उन्होंने अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की है।

निबन्ध की सबसे बड़ी विशेषता निबन्धकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही होती है। ‘अशोक के फूल’ में वे अशोक के फूल को देखकर उदास हो उठते हैं और इस प्रकार अपनी निजता की छाप छोड़ते हैं। उसके पश्चात् तो उनका पाण्डित्य और सांस्कृतिक व्यक्तित्व अभिव्यक्त होने लगता है। इतिहास-पूर्व की घटनाओं को चित्रित करते

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 126

2. उपरिचय, पृ० 127

3. डॉ० मु० ब० शहा, हिन्दी निबन्धों का शैलीगत अध्ययन, पृ० 473

4. डॉ० जयनाथ ‘नसिन’, हिन्दी निबन्ध के आलोचक शिखर, पृ० 190

हुए वे कह उठते हैं—

“कुछ बातें तो मेरे मस्तिष्क में बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं। यक्षों और गन्धर्वों के देवता—कृबेर, सोम, अप्सराएं—यद्यपि बाद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी स्वीकृत हैं, तथापि पुराने साहित्य में उपदेवता के रूप में ही मिलते हैं।”¹

‘शिरीष के फूल’ का तो आरम्भ ही वे व्यक्तिपरक ढंग से करते हैं। इस प्रकार के आरम्भ से निबन्धकार और पाठक के मध्य ममतामय सम्बन्ध स्थापित होता है।

“यहां बैठ के यह लेख लिख रहा हूं उसके आगे-पीछे, दायें-बायें, शिरीष के अनेक पेड़ हैं। जेठ की जलती धूप में, जबकि धरित्री निर्धूम अग्निकुण्ड बनी हुई थी, शिरीष नीचे से ऊपर तक फूलों से लद गया था। कम फूल इस प्रकार की गर्मी में फूल सकने की हिम्मत करते हैं। कणिकार और आरम्बध (अमलतास) की बात में भूल नहीं रहा हूं।”²

‘कुटज’ की जीवनी-शक्ति और सौन्दर्य की चर्चा करके वे अपने ही गरिमामय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करते हैं।

“यह जो मेरे सामने कुटज का सहाराता पौधा खड़ा है वह नाम और रूप दोनों में अपनी अपराजिय जीवनी-शक्ति की घोषणा कर रहा है। इसीलिए यह इतना आकर्षक है। नाम है कि हजारों वर्षों से जीता चला आ रहा है। कितने नाम आये और गये। दुनिया उनको भूल गयी, वे दुनिया को भूल गये। मगर कुटज है कि संस्कृत की निरन्तर स्फीयमान शब्द राशि में जो जन्म के बँटा सो बँटा ही है। और रूप की तो बात ही क्या है। बलिहारी है इस मादक शोभा की।”³

‘देवदार’ में तो आचार्य द्विवेदी का सर्वांग व्यक्तित्व ही मुखरित हुआ है। साहित्यिक और सांस्कृतिक चिन्तन की दृष्टि से तो यह निबन्ध सर्वश्रेष्ठ है ही, निजता की अभिव्यक्ति भी सार्थक और सफल ढंग से हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी पर्वत पर ही बैठकर निबन्ध लिख रहे हैं। उसके बाद वे अर्थ की ‘गुक’ के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी करते हैं—

‘जहाँ बैठकर लिख रहा हूं, वहाँ से ऊपर और नीचे पर्वत पृष्ठ पर देवदार वृक्षों की सोपान-परम्परा-सी दीख रही है। कौसी मोहक शोभा है। वृक्ष और भी है, लोगों ने नाम भी बताये हैं, पर सब छिप गये हैं। दिखते हैं आकाशचुम्बी देवदार। ऐसा लगता है कि ऊपर वाले देवदार वृक्षों की फुंगी पर से लुटका दिया जाऊँ तो फुंगियों पर ही सोटता हुआ हजारों फीट नीचे तक जा सकता हूँ, अनायास। पर ऐसा लगता ही भर है। भगवान् न करे कोई सचमुच लुटका दे। हड्डी-पसली चूर हो जायेगी। जो कुछ लगता है वह सचमुच हो जाये तो अनर्थ हो जाये। लगने में बहुत-सी बातें गलत लगती हैं। इसी-लिए कहता हूँ कि लगना अर्थ नहीं होता, कई बार अनर्थ होता है। अर्थ वास्तविकता है, वास्तविक जगत् की सचाई है; लगता है सो मन का विकल्प है, अन्तर्जगत की स्पृहा मात्र

1. हजारों प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 21

2. उपरिखत्, पृ० 37

3. उपरिखत्, पृ० 22

है, छन्द है। दोनों में कहीं ताल-तुक मिल जाता तो काम की बात होती। नहीं मिलता, यह सेद की बात है। ताल-तुक भिन्नता अर्थ है, न मिलना अनर्थ है।¹

'आम फिरबोरा गये' में द्विवेदी जी कहते हैं कि वसंतपंचमी के आगमन से पूर्व ही आम्न-मंजरी आ जाने पर उसे हथेली में रगड़ने से वर्ष भर बिच्छू के दश का प्रभाव नहीं रहता है। लेखक ने स्वयं बचपन में अनेक बार अपनी हथेली पर आम्न-मंजरी रगड़ी थी। गन वर्ष के सम्बन्ध में बात करते हुए वे कहते हैं कि—

"परसाल भी मैंने वसन्तपंचमी के पहले आम्नमुकुस देखे थे। पर बड़ी जल्दी वे मुरझा गये। उसी आम को दुबारा फूलना पड़ा। मुझे बड़ा अद्भुत लगा। आगे-आगे वर्षों फूलते हो बाबा, जरा रुकके ही फूलते। कौन ऐसी यात्रा बिगड़ी जाती थी। मेरे एक मित्र ने कहा था कि मुझे ऐसा लगता है कि नव बछू के समान यह बिचारी आम्नमंजरी जरा-सा झाने बाहर निकली और सामने हमारे जैसे मनहूसों को देखकर लजा गयी। वस्तुतः यह मेरे मित्र की कल्पना थी। अगर सच होती तो मैं कहीं मुंह दिखाने लायक न रहता। पर मुझे इतिहास की बात याद आ गयी। उससे मैं आश्चर्य हुआ, मनहूस कहाने की बदनामी से बच गया। वह इतिहास मनोरंजक है। सुनाता हूँ।"²

यहाँ लेखक पाठक से वार्तालाप करता प्रतीत होता है। अपने बारे में और आम्न-मंजरी के बारे में तो कहता ही है, वह आम के वृक्ष से भी बात करता है और पाठक से भी। लेखक के इतिहास-ज्ञान की सूचना भी मिल जाती है।

'महात्मा के महाप्रयाण के बाद' में लेखक पर गांधी चिन्तन का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। लेखक उस महान् शक्ति-पूज को अपने भीतर देख पाने में समर्थ है—

"मैं क्षण-भर के लिए कभी उसका साक्षात्कार पा जाता हूँ और उस पर से मेरा विश्वास हो गया है कि वह विशाल शक्ति-पूज मेरे भीतर है। जब-जब मैंने महारमाजी को विरोधों और उपहासों की उपेक्षा करके अपने मत पर स्थिर रहते देखा है, तब-तब सोच में पड़ जाता रहा हूँ। आखिरी दिनों में मैं समझने लगा था कि महात्मा जी निरपेक्ष उस महान् शक्ति-पूज को पकड़े रह सकते हैं और इसीलिए इतने महान् और तेजस्वी बने रहते हैं।"³

'लड़ाई खत्म हो गयी' का आरम्भ तो पूर्णतः ही वैयक्तिक है। अपनी अस्वस्थता के माध्यम से लेखक 1972 ई० के भारत-पाकिस्तान युद्ध और बंगला देश की स्वतंत्रता का वर्णन करता है।

"मार्च में मैं अस्वस्थ हो गया और मार्च में ही इतिहास की गति में तेजी आ गयी। न जाने भरे स्वास्थ्य और इतिहास में क्या संबंध है कि जब इतिहास जरा बेग पकड़ता है तभी मेरे शरीर के नामा जाति के कीटाणुओं में भी हलचल पैदा हो जाती है।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 37

2. उपरिचल, पृ० 43-44

3. उपरिचल, पृ० 411

1947 ई० में भी यही हुआ था और 1972 ई० में भी यही हुआ। सगता है कि जय इतिहास विधाता का रय जरा तेज होता है, तब उसकी घरघराहट मेरे रयन को प्रभावित अवश्य करती है। मेरे कृपातु चिकित्सक उस घड़कन को अनेक नामों में बताते हैं, पर मेरे अन्तर्यामी कहते रहते हैं—मह तुम्हारी घड़कन मही है। कही कुछ पट रहा है, कुछ पिट रहा है, कुछ पिट रहा है। हाय रे भाग्य, इतिहास-विधाता की सड़क क्या मेरी धमनियों में ही गुजरती है ?¹

भाषा

भाचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाषा दो प्रकार की है—एक तरसम प्रधान भाषा और दूसरी सामान्य बोलचाल के शब्दों से युक्त भाषा। सामान्यतः उनकी भाषा का झुकाव तरसम प्रधानता की ओर है।² उन्होंने स्वयं 'सहज भाषा का प्रश्न' शीर्षक निबन्ध में भाषा की सहजता पर विचार किया है। उनका दृष्टिकोण है कि सहज भाषा का अर्थ-सहज ही महान् बना देने वाली भाषा से होता है। वे बाजारू भाषा के साहित्य-प्रयोग के पक्षपाती नहीं थे। उनकी दृष्टि में "बाजार की भाषा को, मोटे प्रयोगों की भाषा को मैं छोटी नहीं कहता, परन्तु मनुष्य को उन्नत बनाने के लिए जो भाषा प्रयोग की जायेगी वह उसमें भिन्न होगी।"³ वे भाषा को तभी सहज मानते हैं, जब साहित्यकार भी सहज बन जाये, जिसके लिए बड़ी साधना की आवश्यकता होती है।

सरल भाषा का रूप

भाचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ललित निबन्धों में सरल भाषा का प्रयोग किया है। उन्होंने प्रचलित अरबी-फारसी के शब्दों को स्वीकार करने में किसी प्रकार की हिचक नहीं दिखायी है। 'कुटज' में वे रहीम की चर्चा करते समय इसी प्रकार के शब्द और वाक्यों का प्रयोग करते हैं।

'कुटज के ये सुन्दर फूल बहुत बुरे तो नहीं हैं। जो कालिदास के काम आया हो उसे ज्यादा इज्जत मिलनी चाहिए। मिली कम है। पर इज्जत तो नसीब की बात है। रहीम को मैं बड़े आदर के साथ स्मरण करता हूँ। दरियादिल आदमी थे, पाया सो मुटाया। लेकिन दुनिया है कि मतलब से मतलब है, रस चूस लेती है, छिलका और गुठली फेंक देती है। सुना है, रस चूस लेने के बाद रहीम को भी फेंक दिया गया था।'⁴

'बमन्त आ गमा' शीर्षक निबन्ध में भी उन्होंने सामान्य भाषा का प्रयोग किया है। प्रचलित शब्दावली का प्रयोग करते समय वे उसे हृदयंगम करते हैं और सहज रूप में सहज भाषा बनाकर उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। ऐसे समय उनकी भाषा का लालित्य

1. डॉ० जयनाथ 'नलिन', हिन्दी निबन्ध के आलोक शिखर, पृ० 193

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 271

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 30-31

4. उपरिचर, पृ० 431

अनुपम हो जाता है—

“पत्रता-लिखता हूँ। यही पेशा है। सौ दुनिया के बारे में पोलियो के सहारे ही थोड़ा-बहुत जानता हूँ। पढ़ा हूँ, हिन्दुस्तान के जवानों में कोई उमंग नहीं है, इत्यादि इत्यादि। इधर देखता हूँ कि पेड़-पौधे और भी बुरे हैं। सारी दुनिया में हल्ता हो गया कि बसन्त आ गया। पर इन कमबक्को को धरर हो नहीं।”¹

‘बरमो भी’ में भी इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत निबन्ध में तो द्विवेदी जी ने ‘प्रीशर’ तथा ‘बैस्ट’ जैसे अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग भी किया है—

“जानकार लोगो से पूछने पर दो कारण मालूम हुए। एक ने बताया कि ‘प्रीशर’ काम हो गया है। प्रेशर माने दबाव। सारी दुनिया को तो नहीं मालूम, पर इस देश में प्रेशर बिना कोई काम नहीं होता। आसमान में जो घट रहा है, वह धरती पर काफी अरसे में घट रहा है। आसमान क्या धरती से नहीं हिकमतें मीच रहा है, या वहाँ का भी यही चाल है? मुझे सन्देह नहीं कि इस विशेषज्ञ की बात ही ठीक है। पर आसमान पर कैसे प्रेशर डाला जाय! एक-दूतरे विशेषज्ञ ने बताया कि मानसून का बैस्ट अफ्रीका महाद्वीप की ओर खिसक गया है।”²

तत्सम प्रधान भाषा

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्यिक और सांस्कृतिक निबन्धों में तत्सम शब्द प्रधान भाषा का प्रयोग करते हैं। वे स्वयं इसी प्रकार की भाषा को ज्ञान की भाषा मानने के पक्षपाती हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

“यह सर्वभूत का आत्यन्तिक कल्याण साहित्य का चरम लक्ष्य है। जो साहित्य केवल कल्पना-विलास है, जो केवल समय काटने के लिए लिखा जाता है, वह बड़ी चीज नहीं है। बड़ी चीज वह है, जो मनुष्य आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठाता है। मनुष्य का शरीर दुर्लभ वस्तु है, इसे पाना ही कम तप का फल नहीं है, पर इसे महान् लक्ष्य की ओर उन्मुख करना और भी थोड़ा कार्य है।”³

काव्यात्मक भाषा

आचार्य द्विवेदी हृदय में कवि थे, इसलिए उनकी भाषा में काव्यात्मकता के दर्शन भी हो जाते हैं। वैयक्तिक निबन्धों में यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है। ‘रे कवि, एक बार सभाल’ शीर्षक निबन्ध तो पूर्णतः ही काव्यात्मक है। लेखक प्राचीन सौन्दर्य की कल्पना करते हुए लिखता है कि—

“मन में रमे हैं पूर्व युग के स्वर्ण—मणिमय सोध, मरकत खचित, फीदाशील, साक्षा-ललित कुट्टिम भूमि ककण-मुग्ध नवल मयूर, सित गजदन्तनीयशायि विपंचिका,

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रयागवली-10, पृ० 51

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 77

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 31

कुवलय मनोहर नयन, बाल मराल-मन्थर गमन, ककण-किकणी का ववणन, मृदुता, चास्ता, शालीनता का अति अपूर्व विधान,—बाँधें देखती हैं, ठठरियो के ठाठ, चियडो के घृणास्पद दूह, मन्दे रेयते शव मे ठिठुरते प्राण, रण-विशीर्ण मही कान्ति, मैं स्वयं निज प्रतिवाद, करती हैं हृदय मे भाव-धाराएं सुखाती हैं परस्पर को, कि मैं वन गमा घोबी के जुगसित जन्तु-सा घर-घाट से विच्छिन्न, मैं हू उभयतो विभ्रष्ट, अधर कलंक रंक विशंक।”¹

आचार्यं हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में ओज गुण, माधुर्य गुण और प्रसाद गुण का प्रयोग समुचित रूप से किया गया है। सामान्यतः प्रसाद गुण उनकी विशेषता है।

प्रसाद गुण—आपके साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा महान्-विभूतियों से सबधित निबन्ध प्रसाद गुण प्रधान हैं। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

“इन दिनों साहित्य की सबसे नयी प्रवृत्ति ‘प्रगतिवाद’ की है। ‘प्रगतिवाद’ वैसे तो सामान्य शब्द है और जिस किसी आगे बढ़ने वाली प्रवृत्ति को इस नाम से पुकारा जा सकता है। किन्तु फिर भी इसका प्रयोग एक निश्चित अर्थ में होने लगा है। ‘प्रगतिवादी साहित्य’ मार्क्स से प्रचारित तत्वदर्शन पर आधारित है।”²

माधुर्य गुण—आचार्य द्विवेदी मानव-जिजीविषा के गायक हैं, इसलिए उनके निबन्धों में माधुर्य गुण का प्रयोग कम ही किया गया है। कहीं-कहीं उन्होंने माधुर्य गुण के द्वारा अपनी भावनाओं को चित्रित किया है। ‘बशोक के फूल’ में कामदेव के धनुष के टूटकर गिरने में माधुर्य गुण ही है—

“जहाँ मूठ थी, वह स्थान खम-मणि से बना था, वह टूटकर धरती पर गिरा और खम्बे का फूल बन गया। हीरे का बना हुआ जो नाह-स्थान था, वह टूटकर गिरा और मौलमरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया ! अच्छा ही हुआ। इन्द्र नीलमणियों का बना हुआ कोटि-रेश भी टूट गया और सुन्दर पाटल-गुण्यो में परिवर्तित हो गया। यह भी घुरा नहीं हुआ। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकान्त-मणियों का बना हुआ मध्य देश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गयी, स्वर्ग को जीतने वाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया। स्वर्गीय धनुष धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होती।”³

ओज गुण—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानव-कल्याण, जिजीविषा के गायक हैं, इसलिए वे ओज गुण प्रधान भाषा का प्रयोग करते हैं। उनके अनेक निबन्धों में ओज गुण की दुर्दम जिजीविषा का वर्णन किया है। ‘बोसो, काव्य के मर्मज्ञ’ तो एक काव्य-मर्मज्ञ निबन्ध ही है। वे शक्ति और छिन्नमस्ता का आह्वान करते हुए कहते हैं कि—

“शक्ति आवे और कर दे घूर इन उन्मत्त रणबाके जवानों को, जाग उठे छिन्नमस्ता शक्ति ले देवत्व का हथियार, कुछ भीतर का उद्वार, कुछ

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 234

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी, भाग-10, पृ० 144

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 21

माधुयं-पारावार, कुछ भातृत्व का बरदान हो अवतार इस अद्भुत छबोली ज्योति का, जिसके बदन के तेज से झुलसे अहमिका और महिष समान निर्घन-क्रूर-वन्ध नरत्न मदमाते पिशाचों का, जगत हो शान्त, हो निर्घान्त, भारी का अमर बरदान जागे।”¹

शब्द-चयन और साहित्य :

भाचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने निबन्धों में शब्द-चयन के द्वारा साहित्य उत्पन्न करने की चेष्टा करते हैं। ‘दिवदार’ में तो प्रत्येक वृक्ष के व्यक्तित्व को भिन्न बताते हुए वे जो शब्दावली प्रयुक्त करते हैं, उसमें सहृदय पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते :—

“उनके लिए वह घुसट, वह पाघ, वह मूम, वह झिमोटा, झबरंला, वह चपर-गंगा, वह गदरोना, वह छिटछिटटा, वह झक्की, वह झुमरंला, वह छोकरा, वह नटखटा, वह चुनमुन, वह आकुरा, वह चौरंमी, सब समान हैं।”²

इसी प्रकार वे ‘कूटज’ में चूसकर, ‘रगडकर’, ‘चूमकर’, ‘झूमकर’, आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा भाषा में साहित्य उपस्थित करते हैं—

‘कठोर पापाण को भेदकर, पाताल की छाती घोरकर अपना भोग्य सप्रह करो, मायुमण्डल को चूसकर, झंडा-तूफान को रगडकर, अपना प्राप्य वसूल लो, आकाश को चूमकर, अवकाश की सहरो में झूमकर, उल्लास धीच सो।”³

भाचार्य द्विवेदी ने संस्कृत के अनेक तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तो वे संस्कृत के अनुसार विभक्तियों तक का प्रयोग करने में नहीं हिचकते। कुछ शब्द यहाँ प्रस्तुत हैं :—

‘कुञ्जटिकाच्छन्न’, ‘नगण्यात् नगण्यतर’, ‘अर्धशूद्राकृति’, ‘ततःकिम’, ‘कौलीन्य’, ‘भावामावनिनिर्मुक्त’, ‘वार्तावु’, ‘शोधूम’, ‘सद्य-दुदिग्ध’, ‘चिद्विषयक’, ‘इन्द्रियप्राप्त’, ‘अहमहमिका’, ‘यगनोपमावस्या’, ‘प्रभास्वर दुत्यभूता’, ‘आवतंतूत्य’, ‘येन-केन-प्रकारेण’, ‘पदक्षकारमात्रेण’ आदि।

इसी प्रकार आप अरबी फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं। कुछ प्रयुक्त शब्द इस प्रकार हैं—‘छूसट’, ‘कदर’, ‘कम्बक’, ‘दकियानूस’, ‘सस्तमत’, ‘मिजाजपुरी’, ‘हिदायत’, ‘यनतबयानी’, ‘जातिम’, ‘धुदयर्जी’, ‘जिन्दगी’, ‘दिमाग’, ‘निफाफा’, ‘बगावत’, ‘आदमोनूमा’, ‘खत’, ‘मजबून’ आदि।

आपने भाषा की सहजता के लिए देशज शब्दों का प्रयोग भी किया है—‘बेछाय’, ‘परमान’, ‘बेतुकी’, ‘अटन्तपन्चू’, ‘लंदरे’, ‘ठूठ’, ‘सिगार-पटार’, ‘झबेरा’ आदि।

द्विवेदी जी ने जोमचाल के अनेक अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी किया है। कुछ शब्द हैं—‘प्रिंटर’, ‘बैस्ट’, ‘एरिस्टोकेसी’, ‘कल्बर’, ‘टैबिल-टॉक’, ‘सन्जेक्टिव’,

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 236-237

2. उपरिखत्, पृ० 40-41

3. उपरिखत्, पृ० 32

'आब्जेक्टिव', 'पैरासाइट', 'भाडन', 'अपटूडेड', 'आटिस्ट', 'पॉजिटिव', 'लॉ एण्ड ऑर्डर', 'डेस्क्राइव', 'जुडीशियल', 'क्रिटिसिज्म' आदि।

शैली

आचार्य द्विवेदी जी ने प्रायः सभी शैलियों में निबन्धों की रचना की है। आपके निबन्ध-वैविध्य की चर्चा हम कर चुके हैं। उसी वैविध्य के कारण शैलीगत वैविध्य भी इनके निबन्धों की विशेषता बन गया है। भावात्मक, विचारात्मक, विवरणात्मक, वर्णनात्मक तथा हास्य व्यंग्यात्मक सभी शैलियों में आपने निबन्धों की रचना की है। एक निबन्ध तो उन्होंने वार्तालाप शैली में भी लिखा है।

भावात्मक शैली : आचार्य द्विवेदी जी ने भावात्मक शैली में अनेक निबन्धों की रचना की है जिनमें प्रमुख निबन्ध हैं—'अशोक के फूल', 'कूटज', 'आम फिर बीरा गये', 'वह चला गया', 'महापुरुष के प्रयाण के बाद', 'नाबून क्यों बढते है', 'जब दिमाग खाली है', 'मेरी जन्मभूमि', 'ठाकुर जी की बटोर', 'गतिशील चिन्तन', 'पढ़ितों की पंचायत', 'सरय का महसूल', 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी' आदि।

आचार्य द्विवेदी के भावात्मक शैली में लिखे गये निबन्धों पर विचार करते हुए डॉ० मु० ब० शाहा ने अपना मत प्रकट किया है कि "सेखक के मन की भुवत भटकन" इन निबन्धों में वह भाव-रस उड़ेल देती है जो हमारे हृदय और भस्तिष्क को केवल सुभा ही नहीं लेता, अनेक स्थानों पर सोच में डुबोकर छोड़ भी देता है। भावात्मकता के दो स्तर स्पष्ट रूप में इन निबन्धों में दिखाई देते हैं। एक वह, जिसमें प्रसाप एवं नाटकीयता है तथा दूसरी वह जो आवेगमयी है परन्तु अत्यन्त आकर्षक, संयत, उच्च स्तरीय एवं संदर्भमयी है।"¹

आचार्य द्विवेदी प्रसाप एवं नाटकीयता के द्वारा जब भावात्मक शैली का प्रयोग करते हैं तो 'हाय-हाय', 'घन्य-घन्य' जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। हिंदी के भावात्मक निबन्धों की यह प्राचीन परम्परा थी, जिसे डॉ० जयनाथ 'मलिन' ने 'भारतेन्दुकालीन बूढ़ी शैली'² का नाम दिया है। 'वह चला गया' शीर्षक निबन्ध में वे कहते हैं कि "हाय, जो महापुरुष चला गया उसने इस रहस्य को समझा था।"³ आगे जाकर तो वे 'घन्य' की रट ही लगा देने हैं—

"पर घन्य है वह देश, जिसने गांधी को पैदा किया, घन्य है वह भूमि जिसने गांधी को धारण किया, घन्य है वह जन-ममाज, जिसके लिए उसने अपने को निःशेष भाव से दे दिया।"⁴

आवेगमयी शैली में लिखे गये उनके भावात्मक निबन्ध उत्कृष्ट हैं। उनमें द्विवेदी जी

1. हिंदी निबन्धों का शैलीगत अध्ययन, पृ० 399
2. हिंदी निबन्ध के आलोचक शिखर, पृ० 124
3. हजारों प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 404
4. उपरिच्युत, पृ० 405

का व्यक्तित्व मुग्ररित होता है।" यह व्यक्तित्व 'अशोक के फूल' की तरह रागाकुल, शिरीष की तरह अवधूत, 'कुटज' की तरह बीहड़ मनमौजी और देवदारु की तरह धरोमकेष है। यह वसंत की अगवानी के लिए सबसे आगे जाने को आतुर है, वह त्रिपुर सुन्दरी के पद-संचार की आकांक्षा में पुलकित होने वाला है, वह निदाघ के ताप पर टटाकर हगता है, पर हल्की-सी दुर्भावना के स्पर्श से कुम्हसा जाता है, वह 'कठोर पापाण को भेद कर, पातान की छाती पीर कर अपना भोग्य सग्रह करता है', 'वायुमण्डल को चूसकर प्राण्य' बसूनता है, 'आकाश को चूमकर उत्सास सौच' लाता है, परन्तु इसके साथ ही वह चारुस्मिन् है, वह मेघ के लिए, आत्मदानों के लिए प्रथम अर्घ्य है, वह 'मुटमट्टो को पराभूत करने वाला' हिमात्म की गरिमा का साक्षी है, पर अपने व्यक्तित्व को प्रेयणीय बनाने के लोभ में समझौता करने की तनिक भी प्रस्तुत नहीं।¹²

वस्तुतः हजारी प्रसाद द्विवेदी फनकड़ाना प्रवृत्ति के अवधूत हैं। उनका शास्त्रीय ज्ञान जब बंगाली साहित्य से मिलकर इस प्रवृत्ति में डलता है, तभी भावात्मक निबन्धों की सृष्टि होती है। उनके मन में छिपा अवधूत ही अपने गांव जाते हुए समुद्रगुप्त के रथ में बैठकर जाने और सामंतवाद बनाम समाजवाद की कल्पना कर सकता है। गगनमया के रास्ता बदल देने में वह साम्यवाद खोज लेता है—

"मेरे दाहिनी ओर गंगा मैया लापरवाही से बह रही थी। कुछ महीने पहले ही इन्होंने भी साम्यवाद का प्रचार किया था। आमपास के गांवों के घनी-दरिद्र सबको एक समान भूमि पर ला खड़ा किया था। जब ये पिधान्त भाव से बह रही थी। मैंने उनकी अनजान में ही एक बार प्रणाम कर लिया। मेरे मन में उस समय एक अटूट निरवच्छिन्न परम्परा के प्रति एक कौमल भाव रहा होगा। उस समय मैं एक बार याद करता था उन लाख-लाख अनुदगत-यौवना पुमारी ससनाओं को, जिन्होंने अनाविधाल से अभिलषित बर की कामना से गंगा मैया के इस स्रोत में लाख-लाख मागत्य-शीघ्र बहा दिये होंगे। फिर याद आयी मुवितकाम महात्माओं की जिनके तपःभूत ललाट का असदृश प्रणिपात गंगा की प्रत्येक तरंग दोरी जा रही थी। अन्त में याद आयी गुप्तकाल की ससनाएं जिनके बदन-चन्द्र के लोघुरेणु से नित्य गंगा का जल पाण्डुरित हो जाता रहा होगा, जिनके चंचल लीला-विलास से बाह्य प्रकृति का हृदय चटुल भावों से भर जाना रहा होगा, गज-शावक उत्सुकता के साथ करेणुका को पकजरेणुमन्धी गण्डुपजल पिला दिया करता होगा, अडोपभुक्त मृणाल् घण्ड से ही चक्रवाक युवा प्रिया को संभावित करने लग जाता होगा, क्षण-भर के लिए सेकृतचारी हसामिथुन पीछे फिरकर स्तब्ध हो रहते होंगे।"¹²

विचाररत्मक-शैली : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विचाररत्मक शैली में अनेक निबन्धों की रचना की है। प्राचीन संस्कृत साहित्य और संस्कृति, नायों और निर्गुनियों का साहित्य, रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गांधी का जीवन-दर्शन उनके विचारों को प्रौढता प्रदान करने वाले तत्व हैं। वे जिस विषय पर भी विचार करते हैं, उस पर अत्यन्त

1. सं० शिवप्रसाद सिंह, शान्ति निकेतन से शिवाचिक तक, पृ० 344

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 432

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हैं। वे प्रत्यय विचारक भी हैं। उनके निबन्धों की यह विशेषता है कि "वह मनुष्य के हर अनुभव को छेड़ता है, उसकी हर सांस्कृतिक उपलब्धि के मर्म को गुदगुदाता है और प्रकृति के हर विवर्तन को कुरेदता है, और मनुष्य उसकी परम्परा और देशकाल को जोड़ने का जुगाड़ करना रहता है। द्विवेदी के निबन्धों का संयोजन तंत्र इसी व्यक्तित्व का ही सहज परिणाम है, इसीलिए वह सायास डला नहीं लगता, इसी के सहारे साधारण-सा बिम्ब जाने कितनी वस्तुओं को, कितनी विचार-धाराओं को जोड़ने का माध्यम बन जाता है।"¹

आचार्य द्विवेदी के साहित्यिक और सांस्कृतिक निबन्ध इसी कोटि के हैं। साहित्यिक निबन्ध भी दो प्रकार के हैं—(1) साहित्य की मान्यताओं सम्बन्धी, तथा (2) साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी। उनके साहित्य सम्बन्धी निबन्ध हैं—'मनुष्य की सर्वोत्तम कृति: साहित्य', 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है', 'साहित्य की साधना', 'साहित्य का प्रयोजन: लोक-कल्याण', 'साहित्य का नया कदम', 'साहित्य के नये मूल्य', 'आधुनिक साहित्य: नयी मान्यताएं', 'साहित्य में मौलिकता का प्रश्न', 'साहित्य में व्यक्ति और समाज', 'साहित्य की सम्प्रेषणीयता', 'साहित्यकारों का दायित्व', 'साहित्य का इतिहास', 'आलोचना का स्वतंत्र मान', 'काव्य कला', 'महिलाओं की लिखी कहानियाँ', 'चार हिन्दी कवि', 'कथाकार रेणु का बिलक्षण वैशिष्ट्य' आदि। इसी प्रकार सांस्कृतिक निबन्ध हैं—'सभ्यता और संस्कृति', 'भारतीय संस्कृति की देन', 'भारतीय संस्कृति का स्वरूप', 'संस्कृति और साहित्य' आदि।

आचार्य द्विवेदी मनुष्य को ही साहित्य का केन्द्र-बिन्दु मानते हैं और साहित्य को वे मानव की सर्वोत्तम कृति की संज्ञा प्रदान करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं—

"वास्तव में हमारे अध्ययन की सामग्री प्रत्यक्ष मनुष्य है। आपने इतिहास में इसी मनुष्य की धाराबाहिक जययात्रा की कहानी पढ़ी है, साहित्य में इसी के आवेगों, उद्वेगों और उल्लासों का स्पन्दन देखा है, राजनीति में इसकी लुका-छिपी के खेल का दर्शन किया है, अर्थशास्त्र में इसकी रीढ़ की शक्ति का अध्ययन किया है। यह मनुष्य ही वास्तविक लक्ष्य है।"²

आचार्य द्विवेदी अब 'साहित्य को केवल कल्पना-विलास की सामग्री मानने के पक्ष में नहीं हैं। यही कारण है कि वे साहित्य के प्रयोजन में लोक-कल्याण को प्रतिष्ठित करते हैं। मनुष्यता के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रयोजन उन्हें स्वीकार नहीं है। 'आधुनिक साहित्य: नयी मान्यताएं' शीर्षक निबन्ध में वे मानव-समानता को भावी कदम मानते हैं—

"अपनी मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर गड़ी होगी। इतिहास के अनुभव इसी की मिट्टि के साधन बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद हों मकने हैं। इस प्रकार हमारी चिन्तनगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुर और

1. स० शिवप्रसाद मिह, छाति निवेदन से शिवालिक, पृ० 346

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 34

बँट रहा है—व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव का प्राधान्य। परन्तु साथ ही उसने मनुष्य को अधिक व्यापक आदर्श और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया है। जब-जब ऐसे बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है तब-तब साहित्य नये काव्य रूपों की उद्भावना करता है, नये बाह्य आकारों को प्रकट करता है और जन-जीवन में नवीन आशा और विश्वास का संचार करता है।¹

भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक रही है। विदेशी आक्रमणकारियों से उसने बहुत कुछ ग्रहण किया और परम्परा का बहुत कुछ छोड़ा। आचार्य द्विवेदी 'संस्कृति और साहित्य' के आरंभ में विचारात्मक-शैली में अपनी बात प्रस्तुत करते हैं।

"वैदिक युग से लेकर ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी तक निरन्तर समन्वय की चेष्टा ही भारतीय संस्कृति का इतिहास है। कर्म-प्रधान वैदिक धर्म के साथ जब वैराग्य प्रधान अध्यात्मवादी आर्यसंन्यासियों का संघर्ष हुआ, तो इस संस्कृति ने बड़ी शीघ्रता के साथ मानव-जीवन को चार आयामों में बाँटकर समन्वय कर लिया।"²

आचार्य द्विवेदी ने अपने विचारात्मक निबन्धों में विभिन्न कथाओं, जनश्रुतियों और लोक-मान्यताओं का प्रयोग करके साहित्य बनाये रखा है। डॉ० मु० व० शहा के अनुसार "आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व की सहजता एवं उन्मुक्तता उनकी वैचारिक शैली में भी उतर आयी। अतः भाषा का एवं विचारों का सम्पूर्ण कसाव तथा गठन वहाँ अपेक्षाकृत कम मिलता है। विणुद्ध वैचारिक विषय स्थापना में भी साहित्य उनका साथ नहीं छोड़ता।"³

विवरणात्मक शैली : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विवरणात्मक निबन्धों की रचना बहुत कम की है। कोरे विवरण उनके व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं हैं। 'केतु दर्शन' में पुच्छल तारे का वर्णन उन्होंने इस शैली के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है—

"यह हस्त मध्यम उदित हुआ। पाँचों अंगुलियाँ साफ दिख रही हैं। इसके पास ही कुहाने-सा दिखायी दिया। धूमकेतु की यह पूँछ थी। हिन्दी में इसे पुच्छल तारा कहा जाता है, इसीलिए मैं भी इस श्लाघनुमा पताका को पूँछ कह रहा हूँ। असल में यह पूँछ नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने 'पुच्छल तारा' को केतु (पताका), धूमकेतु (धुएँ की पताका) और 'शिखी' (घोटी शाला) कहा है।"⁴

वर्णनात्मक शैली : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शुद्ध वर्णनात्मक निबन्ध कम ही लिखे हैं। उनके भावात्मक और वैयक्तिक निबन्धों में विभिन्न प्रकार के वर्णन हैं। यही कारण है कि 'शिरीष के फूल', 'आम फिर बोरा गये', 'ब्रह्माण्ड का विस्तार', 'बसंत भा गया', 'देवदार', 'अशोक के फूल' आदि निबन्धों को वर्णनात्मक निबन्धों की संज्ञा दे दी जाती है। 'अशोक के फूल' का आरम्भ ही वर्णनात्मक शैली में किया गया है—

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 81

2. उपरिवत्, भाग 9, पृ० 217

3. हिन्दी निबन्धों का शैलीगत अध्ययन, पृ० 421

4. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 123

“अशोक में फिर फूल आ गये हैं। इन छोटे-छोटे, लाल-लाल पुष्पो के मनोहर स्तम्भों में कैसा मोहन भाव है। बहुत सोच-समझकर कन्दर्प देवता ने लाखों मनोहर पुष्पो को छोड़कर सिर्फ पांच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था।”¹

‘शिरीष के फूल’ का आरम्भ भी इसी प्रकार का है। द्विवेदी जी शिरीष के पुष्पो का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ग्रीष्म में शिरीष ऊपर से लेकर नीचे तक पुष्पो से लद गया है। इसके पश्चात् वे इस छायादार वृक्ष का वर्णन करते हैं—

‘शिरीष के वृक्ष बड़े और छायादार होते हैं। पुराने भारत का रईस? जिन मंगलजनक वृक्षों को अपनी वृक्ष-वाटिका की चहारदीवारी के पास लगाया करता था, उनसे एक शिरीष भी (बृहत्संहिता, 55/3)। अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग और शिरीष के छायादार और घनमसृण हरीतिमा से परिवेष्टित वृक्ष-वाटिका जरूर बड़ी मनोहर दिखती होगी।”²

वस्तुतः वर्णनात्मक शैली में वैयक्तिक निबन्ध लिखे जाने के कारण विभिन्न शैलियों का मिश्रण हो गया है। वर्णनात्मक और भावात्मक शैलियों के समन्वय से उनके निबन्धों में जो साहित्य आया है, वह अनुपम है।

हास्य-व्यंग्यात्मक शैली : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यद्यपि हास्य-व्यंग्यात्मक शैली में ‘आपने मेरी रचना पढ़ी’ शीर्षक निबन्ध लिखा है किन्तु वे जहाँ भी अवसर पाते हैं, हास्य-व्यंग्य का सहारा लेने से नहीं चूकते। ‘देवदार’ में वे एक पंडित जी की कथा के द्वारा हास्य-व्यंग्य की उत्पत्ति करते हैं—

“हमारे गाँव में एक पंडित जी थे। अपने को महाविद्वान मानते थे। विद्या उनके मुँह से फषाफच निकला करती थी। शास्त्रार्थ में वे बड़े-बड़े दिग्गजों को हरा देते थे। विद्या के जोर से नहीं, फचफषाहट के आघात से। प्रतिपक्षी मुँह पोछता हुआ भागता था। अगर कुछ बँटे का हुआ तो दँहिक-बल से जय-पराजय का निश्चय होता था।”³

निष्कर्ष

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानव की उद्दाम जिजीविषा, मानव समानता, मानव के विकासगामी होने के उद्देश्य को लेकर चलने वाले निबन्धकार हैं। उनके साहित्य सिद्धान्त का केन्द्र-बिन्दु मानव के और इसलिए साहित्य संस्कृति तथा सभी प्रकार के निबन्धों का चरम उद्देश्य मानव कल्याण की भित्ति पर आधारित है। उनका मानव-कल्याण ही लोक-कल्याण है। यह लोक वह लोक है जहाँ केवल शुद्ध मानव निःशेष रह जाता है, वह न बिन्दु होता है न मुसलमान होता है, न ईसाई होता है। इन सबसे परे वह केवल मानव होता है और यह मानव ही उनके साहित्य साहित्य का केन्द्रीय बिन्दु है। इसी को प्रतिष्ठित कर वे कलाओं की प्रतिस्थापना को स्वीकृति प्रदान करते हैं।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9, पृ० 19

2. उपरिबत्, पृ० 26

3. उपरिबत्, पृ० 38-39

केन्द्रीय बिन्दु के मिट जाने पर परिधि स्वयं नष्ट हो जाती है इसलिए मानव को केन्द्रीय बिन्दु न मानने पर साहित्य और कलाओं की परिधि का अस्तित्व ही मिट जाता है। यह चिन्तन सहज मानव का ही हो सकता है और निश्चित रूप से हजारी प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व एक सहज मानव का था। वे सच्चे साधक, सच्चे रचना-कर्मी और सच्चे सहृदय थे। यही कारण है कि उनके निबन्ध एक ओर वैयक्तिक हैं तो दूसरी ओर विचारप्रधान। वर्णनात्मक निबन्धों में भावात्मक-शैली का प्रतना सुन्दर समन्वय अत्यन्त दुर्लभ है। उनके निबन्ध तो ललित हैं ही उनके व्यक्तित्व में भी साहित्य तत्व का पूर्ण समावेश है। वे सभी कलाओं के सच्चे सहृदय हैं।

तृतीय अध्याय

द्विवेदी जी के उपन्यासों में लालित्य-विधान

उपन्यासों में प्रयुक्त नारी-सौन्दर्य और लालित्य-विधान

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पर संस्कृत साहित्य का अत्यधिक प्रभाव था, इसलिए वे जब भी नारी-सौन्दर्य का वर्णन करते हैं, वह प्रभाव स्पष्ट रूप से ध्वनित होता है। अपने प्रथम उपन्यास में तो उन्होंने इस प्रकार के सौन्दर्य-वर्णन करते समय नीचे पाद-टिप्पणी भी दे दी जिससे वह वर्णन प्रामाणिक प्रतीत हो। सर्वप्रथम वे निउनिया का सौन्दर्य-वर्णन इसी पद्धति से करते हैं—

“उसका बायां हाथ कटिदेश पर न्यस्त था, ककण कलाई पर सरक आया था, दाहिना हाथ मिथिल श्यामा लता के समान झूल पड़ा था, उसकी कमनीय देह-लता मृत्यु-भग से जरा झुक गयी थी, मुखमण्डल श्रम-बिन्दुओं से परिपूर्ण था। मुझे ‘मानविकाग्निमित्र’ की मानविका याद आ गयी। मैंने हसते हुए कालिदास का वह श्लोक पढ़ दिया। निपुणिका संस्कृत नहीं जानती थी, उसने क्या जाने क्या समझा। उसके अधरो पर जरा-सी स्मित-रेखा प्रकट हो आयी और कुछ देर के लिए उसकी आँखें झुक गयीं। उन्ही समय उसके शिथिल कवरीबन्ध से एक मस्त्रिका-मुष्प गिर गया और इस अपराध का दण्ड उसे सुरस्त मिल गया। निपुणिका अपने पादगुच्छों से उसे इयर-उधर रगड़ने लगी।”¹

कालिदास के श्लोक को वे पाद-टिप्पणी में प्रस्तुत कर देते हैं। वह श्लोक इस प्रकार है—

“वामं सद्यस्तिमितवसयं न्यस्तहस्त्रं नितम्बे
कृत्वा श्यामा-विटपि-सदुशंसुम्नमुक्तं द्वितीयं ।
पादागुष्ठानुलितं कुसुमे कुट्टिमे पातियायं
मृत्यादस्याः स्थितमतिर रां कान्तमूञ्चायताशम् ॥”

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी नारी-देह को देव-मंदिर के समान पवित्र मानते हैं और बाणभट्ट भी उसे पवित्र ही मानते हैं। भट्टिनी ॥ सौन्दर्य-वर्णन में उन्ही पवित्रता के द्योतन होते हैं। बाणभट्ट उस सौन्दर्य को देखकर ही आरंभ में सोचता है कि वह सौन्दर्य

पापी व्यक्ति के मन में भी भक्ति का संचार कर सकने में समर्थ है। उसके पश्चात् शश, मुक्ता, मृणाल, चन्द्रकिरण, सुधाचूर्ण, रजत-रज, कुटज, कुन्द और सिन्धुवार के संयोजन को उपमान रूप में प्रस्तुत करता है—

“उसको देखकर अत्यन्त पतित व्यक्ति के हृदय में भी भक्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती। उसके सारे शरीर से स्वच्छ कान्ति प्रवाहित हो रही थी। अत्यन्त घबलत प्रभापुत्र से उसका शरीर एक प्रकार ढका हुआ-सा ही जान पड़ता था, मानो वह स्फटिकगृह में आवृद्ध हो, या दुग्ध-सलिल में निमग्न हो, या विमल चीनाशुक् से समादृत हो या दर्पण में प्रतिबिम्बित हो, या शरदकात्मीन मेघपुंज में अन्तरित चन्द्रकला हो। उसकी घबलत-कान्ति दशक के नयन-मार्ग से हृदय में प्रविष्ट होकर समस्त कलुष को ध्वस्त कर देती थी, मानो स्वर्मेन्द्राकिनी की घबलतधारा समस्त कलुष-कालिमा का क्षालन कर रही हो। मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता रहा कि इतनी पवित्र रूप-राशि किम प्रकार इन कलुष धरित्री में सम्भव हुई। निश्चय ही यह धर्म के हृदय से निकली हुई है। मानो विद्याता ने शंख से खोदकर, मुक्ता से खींचकर, मृणाल से सवार कर, चन्द्रकिरणों के कूचक से प्रक्षालित कर, सुधाचूर्ण से धोकर, रजत-रज से पोछकर, कुटज, कुन्द और सिन्धुवार पुष्पो की घबलत कान्ति से सजाकर ही उसका निर्माण किया था।”¹

आचार्य द्विवेदी ने उक्त वर्णन ‘कादम्बरी’ की महाश्वेता के सौन्दर्य-चित्रण के अनुरूप किया है और इस वर्णन पर पाद-टिप्पणी देकर स्वयं स्वीकार भी कर लिया है। द्विवेदी जी ने भट्टिनी के सौन्दर्य-चित्रण में ‘निषेधरूप तरङ्ग’ नारी का ही वर्णन किया है। वे नारी-सौन्दर्य को सम्मान का पात्र प्रतिष्ठित करते हैं। वह भोगरूपा नहीं है, वह पवित्र है। शोभा, कान्ति, सावध्य और माधुर्य के सम्मान की आवश्यकता का वे प्रतिपादन करते हैं तथा विभ्रम, विच्छति, हेला, विस्मोल आदि हावों के महत्व को अनुचित ठहराते हैं।² इस प्रकार नारी-सौन्दर्य के प्रति उनका दृष्टिकोण रीतिकाव्य के विपरीत ठहरता है।

शृंगार-रस के कवियों ने सद्यःस्नाता नायिका के अनुपम चित्र उपस्थित किये हैं किन्तु वे सभी उद्दीपन के निमित्त किये गये हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नारी के सावध्य और माधुर्य की अभिव्यक्ति के लिए ही भट्टिनी के सद्यःस्नाता रूप का वर्णन किया है। नाव पर भट्टिनी स्नान करने के पश्चात् वाणभट्ट के समदा आई है—

“प्रत्यक्ष स्नान ने उनकी कुंकुम-और कान्ति को निघार दिया था। उनका शिखर अंगुकांत (ओचल) मन्द-मन्द वायु के आश्रय से खचल हो रहा था। वे काठ की नौका में से सद्यःसमुपजात चल-निसलपवती मधुमालतीलता के समान फुल्ल कमनीय दिख रही थी। उनकी धुनी हुई कवरी के छितराये हुए सुवर्णाभ केश, कुसुम्भ की आभा से ऐसे मनोहर दिखायी दे रहे थे कि उन्हें देखकर सौवर्ण-शिरीष के मुकुमार तन्तुओं के

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 42

2. उपरिचर, पृ० 145

पराम-पिजर जाल का ध्यान हो जाता था।¹

बाणभट्ट भट्टिनी से जब यह कहता है कि यदि वह कवि होता तो ऐसे काव्य की रचना करता कि युग-युग तक नारी-सौन्दर्य की पूजा होती तो भट्टिनी प्रसन्न हो उठती है। उस समय का उसका सौन्दर्य-वर्णन माधुर्य की सृष्टि करता है—“स्मयमान मुख की कपोल-पालि विकसित हो गयी। नयन-कोरकों में बकिम आनन्द-रेखा विद्युत् की भाँति खेल गयी। ललाट-पट्ट की बलियाँ विलीन हो गयी और वह अष्टमी के चन्द्रमा के समान मनोहर हो गया। उनके अशोक-फ़िसनय के समान आताम्र अधरोष्ठ चंचल हो उठे।”²

भाचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी गणिका के सौन्दर्य का चित्रण भी मादक रूप में नहीं करते हैं। उसमें भी एक सौम्यता बनाये रखते हैं। नगर की प्रधान गणिका मदनश्री बाणभट्ट से मिलने गयी थी, उसकी स्मृति आने पर भट्ट जो वर्णन करता है, वह इसी प्रकार का है—“उसने कुलकन्या का-सा शील और कवि की-सी प्रतिभा थी। उसने अलकतक भी धारण किया था, यह मुझे खूब याद है, क्योंकि जब उसने कुट्टिम-भूमि पर पैर रखा, तो मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि उस पर प्रवालमणि की रसधारा-सी बह गयी, ऐसा जान पड़ा, मानो लाल-लाल लावण्य-स्रोत से सारा कुट्टिम प्लावित हो गया है। उसके चीनाशुक के किनारों पर एक हल्की साखी की लहर-सी डोल रही थी। नूपुरों की बवणन-ध्वनि ने उस तरंगामित अलकताभा को शोभामय बना दिया था। मैंने रत्नावली भाला को शायद लक्ष्य ही नहीं किया, पर उसके अशुकान्त (आँचल) से बाहर निकलने हुए बाहु-युगल को देखकर मृगाल-नाल का भ्रम हुआ था। उसकी पतली, छरहरी उगलियों की नख-प्रभा से वे बलवित जान पड़ते थे। मदनश्री नगर की प्रधान गणिका होने के योग्य ही थी। उसके प्रवाल के समान लाल अधर-युगल अनुराग-सागर की तरंगों के समान मोहन दिखायी दे रहे थे। उसके गण्डस्थल की रक्तावदात कान्ति देखकर मदिरा-रस से पूर्ण माणिक्य-शुक्ति के सम्पुट की याद आ जाती थी। उसकी बड़ी-बड़ी काली आँखें शतदल-विबद्ध भ्रमर की भाँति मनोहर थी। भ्रू—सताए मदमत्त यौवन-गजराज की मदनराजि की भाँति तरंगामित होती दिख रही थीं और ललाट-पट्ट पर मनःशिला का लाल बिन्दु अनुराग-प्रदीप की भाँति जल रहा था। उसने लोभरेणु से अंसस्थलों का संस्कार अवश्य किया होगा, क्योंकि माणिक्य मुण्डलों में उठके उड़े हुए चूर्ण लगे हुए थे और ऐसा जान पड़ता था कि कर्णोत्पल से छरित मधुधारा में वष-किजल्क-धूर्ण बहे जा रहे हों। ललाटमणि की लाल किरणों से धुले हुए उसके मेघक केशपाषाण संख्याकालीन मेघाच्छन्न की भाँति दर्शक को बरबस आकृष्ट कर रहे थे और ऐसा जान पड़ता था कि एक अद्भुत मधुधारा लोचन-जगत् को विह्वल कर रही है। उसकी हँसी में बालिका की-सी सरलता प्रकट हुई थी और दण-भर के लिए मेरा उद्विग्न चित्त भी उस शोभा की मनोहारिणी पद्मराग-पुत्तलिका को देखकर विश्राम पाने लगा था।”³

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी रत्नावली-1, पृ० 90

2. उपरिवत्, पृ० 106

3. उपरिवत्, पृ० 112

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जब नारी-सौन्दर्य के चित्र प्रस्तुत करने लगते हैं तो पुराने नख-शिख-पद्मति के अनुरूप सभी प्रमुख अंगों के उपमान खोज लाते हैं और प्रतीत होता है कि फिर भी उनका मन भरा नहीं है। अतुलित सौन्दर्य की धनी नारी भी द्विवेदी जी के नायक को मदमत्त नहीं करती, अपितु उसकी मनोहर छटा उसके मन को विधायक प्रदान करती है। द्विवेदी जी के सौन्दर्य-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता यही है।

आचार्य द्विवेदी ने नारी-सौन्दर्य के विभिन्न रूपों का चित्रण किया है। भट्टिनी गंगा में कूदकर अचेत हो जाती है। भट्ट अपनी पीठ पर सादकर किनारे लगाता है। उस समय चैतन्य होती भट्टिनी का चित्रण करते हुए वे कहते हैं कि—

“रक्तोत्पल के समान मयन-पद्म में थोड़ी हलचल हुई और आँखें खुल गयीं। वे निदाघ लपित जपा-पुष्प के समान साल होकर भी म्लान थी, संसा-विलोडित कांचनार के समान प्रफुल्ल होने पर भी बलान्त थी, घुसि-पटलित अशोक-कुमुद के समान मनोहर होकर भी घुसर थी।”¹

इसी प्रकार महाभारत की यह बात सुनकर कि भट्ट की विपत्ति तो अभी दूर नहीं हुई, शक्ति भट्टिनी का दृश्य बिम्ब प्रस्तुत किया गया है, “धन-कृष्ण केशपाश मुख-मण्डल पर विरलस्त हो गये थे, बड़ी-बड़ी फूली आँखें झुकी हुई थी, प्रवाल-ताम्र अधर-धुगल दृढ़ भाव से सम्पुटित थे, आपाण्डुर कपोलमण्डल पर रोमराशि उद्भिन्न हो भायी थी, आताम्र चिबुक रह-रहकर हिस उठते थे, वाम बाहु श्याम-सता की भाँति झूल रहा था और दाहिना हाथ कपोल-कर्कुर अंशुकान्त (आंचल) में छिपा हुआ था।”²

आचार्य द्विवेदी जी ने सुचरिता द्वारा अपनी कहानी सुनाते समय मन में उत्पन्न आकर्षण की धान पर सज्जित नारी के सौन्दर्य का बड़ा ही मोहक वर्णन किया है, “परंतु इस बार जो सावित्री उसके मनोहर मुख पर अनायास ही खेल गयी, उसे यह श्वेत आवरण भी नहीं छिपा सका। जाह्नवी की धारा में प्रतिफलित रक्तोत्पल की भाँति जल-चादर के भीतर से परिदृश्यमान दीपशिखा की भाँति, शरत्कालीन मेघों में अन्तरित बाल-सूर्य की प्रभा के समान वह सावित्री अधिकतर रमणीय होकर प्रकट हुई।”³

‘बाह्य चन्द्रलेख’ के प्रथम परिच्छेद में ही सातवाहन मृग को पकड़ने के अभियान के समय जिस नारी-रूप को देखता है, वह मनोहर, हृदयहारी है। आचार्य द्विवेदी ने यह वर्णन प्राचीन कवियों की परिपाटी पर ही किया है, उसमें विशेष नवीनता नहीं है—

‘कस्तूरी के समान काले केश, अंगुलियों के प्रयत्न के अभाव में कुछ अस्त-व्यस्त-से एक-दूसरे से उलझे हुए थे और उन पर सफेद जगली फूल आ गये थे। इन फूलों को झाड़कर हटा देने का प्रयास नहीं था। ऐसा जान पड़ता था कि दूध का कोई कटोरा रखा हुआ है, जिसे पीने के लिए सैंकड़ों विपधर नाम परस्पर एक-दूसरे को दबाकर आगे बढ़

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 123

2. उपरिचत्, पृ० 126

3. उपरिचत्, पृ० 185

जाने के प्रयास में लगे हुए हैं। इन केशों में एक विचित्र प्रकार की लहरदार गति थी, जो विपद्यर भुजंगों की जहरीली लहर के समान दिखायी दे रही थी। एक क्षण के लिए मन में आया कि मेरा मन क्या इसी विप के अभाव से लहरा उठा है? उन केशों के भीतर से सफेद मांग की लकीर साफ-साफ दिखायी दे रही थी। ऐसा लगता था कि किसी ने अंधेरी रात में राजमार्ग पर दीया जलाकर उसे उद्भासित कर रखा है। अभी भी उसे सिन्दूर का स्पर्श प्राप्त नहीं हुआ था। काले केशों के भीतर वह कुछ इस प्रकार जगमगा रहा था, मानो कसौटी पर कंचन की रेखा हो। घने काले मेघों के बीच बिजली की तरह प्रकाशित होकर यह मार्ग-दर्शक को कुछ नया देखने का अवसर देता था। क्या इस बारहबानी सोने के लिए किसी सुहाग की अपेक्षा है?"¹

इम वर्णन को पढ़कर अनायास ही मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावती के नख-शिव वर्णन की स्मृति हो आती है। यह पूर्णतः जायसी से प्रभावित होकर लिखा गया है।²

विद्याधर भट्ट द्वारा सूर्यदेवी या सोहाग देवी का रूप-वर्णन पद्मिनी जाति की नारी का है। प्राचीन भारतीय कवियों ने बत्तीस लक्षणों से युक्त पद्मिनी जाति की नारियों का सौन्दर्य-वर्णन किया है। रानी चन्द्रलेखा बत्तीस गुणों से युक्त पद्मिनी नारी है। विद्याधर भट्ट सूर्यदेवी का वर्णन करते हुए कहता है—

“उसकी शोभा वर्णनातीत थी। यद्यपि वह साधारण वस्त्रों को धारण किये थी, परन्तु उसके अग-अग से प्रभा निकलकर उसे एक अपूर्व प्रभामण्डल से आच्छादित किये हुए थी। उसके शरीर से पद्म की भीनी-भीनी सुगन्धि आ रही थी। कान तक फैले हुए उसके नेत्र पद्म-पलाश की भांति मनोहर दिखायी दे रहे थे। उसके कपोल यद्यपि दरिद्रता के कारण अधिक उमरे हुए नहीं थे, तथापि वे बड़े ही मनोहर और सुडौल जान पड़ते थे।”³

नागनाथ तो रानी चन्द्रलेखा के साक्षात् त्रिपुरसुन्दरी ही मानता है और उनके दर्शन को अपनी साधना का फल कहता है—

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 271-72

2. “बरनी मांग सीस उपराही। सेंदुर अबहि चढा जेहि नाही ॥

बिनु सेंदुर आज जानहु दीआ। उजियर पद्म रंजिमहं कीआ ॥

कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन मह दामिनि परगसी ॥

सूरज किरन जनु गगन बिसेखी। जमुना माहें सुरसती देखी ॥

खाहें धार रुहिर जनु भरा। करवत लेइ बेनी पर धरा ॥

तेहि पर पूरि घरे जो मोती। जमुना माझ गंग के सोती ॥

करवत तपा लेहि होइ चूरू। मकु सो रुहिर लेइ देइ सेंदुरू ॥

कनक दुवादस बर्गन होइ चहं सोहाग वह मांग ॥

सेवा करहि नखत सब उबे गगन जस गग ॥—पद्मावत,

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 291

"शास्त्र में जिस त्रिजगन्मनोज्ञा त्रिपुर सुन्दरी का ध्यान पढ़ा था, वे आज किस प्रकार प्रत्यक्ष दिखाई दे रही हैं। अन्तःकरण को अपनी सम्मोहनकारिणी दृष्टि से गनाती हुई, कारुण्य धारा से सेचन करती हुई, सुधा-लेप से स्निग्ध बनाती हुई मधुर मनोहरा मूर्ति। धन्य हूँ देवि आज मैं कृतार्थ हूँ, आज मेरा जन्म सार्थक है।"¹

विद्याधर रानी चन्द्रलेखा के जन्म से संबंधित कहानी सुनाते समय महाप्रतापी परमर्षिदेव की हृदय-निन्दिनी राजकुमारी चन्द्रप्रभा का सौन्दर्य वर्णन करता है, "क्षणभर में हमारे सामने एक परम सुन्दरी किशोरी शिविका से बाहर निकली, जैसे उदयगिरि तटान्त से जलय-पटल को भेदकर चन्द्र-मण्डल उदित हुआ हो। उनका सारा शरीर बस्त्रों से आपाद-मस्तक ढका हुआ था। जैसे हल्के महीन जलद-जाल के भीतर से चन्द्रमा की प्रभा निकलती रहती है और अग्धकार को दूर करती है, उसी प्रकार उस किशोरी के चारों ओर बस्त्रों के आवरण को भेदकर भी प्रभा-मण्डल फैल गया था।"² विद्याधर से अपने जन्म की कथा सुनकर रानी चन्द्रलेखा की जो स्थिति हो जाती है, उससे उनका सौन्दर्य और भी मनोहर हो उठता है। द्विवेदी जी ने बड़ा ही रमणीय वर्णन किया है—

"रह-रहकर उनकी अंगघण्टि से और कपोल-प्राप्ति से रोमांच की उद्वेगामिनी लहरें ललाट से भी ऊपर जाकर उनके घन-कुचित मसृण केशों को स्पन्दित कर देती थी। परन्तु कोई और बाहरी चेष्टा उनमें नहीं दिखायी पड़ रही थी। रोमांच की लहरें बटा रही थी कि वे विचित्र आवेग-तरंगों में स्नान कर रही है। वे आविष्ट-सी, समाधिस्थ-सी अन्तर्लीन-सी, निष्ठा-निष्कम्प दीपशिखा-सी दिखामी दे रही थी।"³

मैना उर्फ मैनासिंह की माता का सौन्दर्य-वर्णन करते समय उन्हें साक्षात् भक्ति-स्वरूपा और भगवद्-अनुकम्पा के विग्रह रूप में ही प्रस्तुत किया गया है 'क्योंकि वे उस समय पूजा करके ही उठी है।'⁴ नाटी माता का वर्णन अगले परिच्छेद में भी किया जाता है। महाराज चन्द्रकिरणों के प्रकाश में उन्हें ध्यान से देखते हैं—

"उनकी अवस्था पचास के आसपास रही होगी, परन्तु मुखमण्डल विकच पुण्डरीक के समान शमक आभा से जगमगा रहा था, कहीं भी कोई शिकन नहीं थी। युवा-वस्था में वे निस्सदेह सुन्दरियों की किरोटमणि के समान सम्मान्य रही होंगी। शुभ कीशेय वस्त्र से आच्छादित होने पर भी उनके शरीर की आभा झलक रही थी, मातो जल-बादर के भीतर से दीपशिखा जगमगा रही हो, मानो शरत्कालीन निरम्बु मेघ के आवरण के अन्तराल से चन्द्रमा की स्निग्ध मनोरम छटा छिटक रही हो, जैसे कमकमूत्र के जाल से चन्द्रमल्लिका की आभा बिखर रही हो। उनका सारा शरीर छन्दो से बना जेन पड़ता था। मानो अनुप्रासो से कसकर, संगीत से ढालकर, यमकों से सवार कर, उपमानों से

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली 1, पृ० 313

2. उपरिचत्, पृ० 323-324

3. उपरिचत्, पृ० 327

4. उपरिचत्, पृ० 392

निखारकर, तालो से वांछकर, यतियों से शासित कर इस मनोरम आकर्षक शरीर को स्वयं छन्दोदेवता ने बनाया हो। उनके प्रत्येक पदविक्षेप में ताल चरण चूमते थे, प्रत्येक पादोत्थान में धारियाँ निछावर जाती थी—जितना ही गठित उतना ही संयत।”¹

नाटी माता के सौन्दर्य-वर्णन में संगीत और काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों को उपमान रूप में प्रस्तुत करके जो मनोहर रूप चित्रित किया गया है, उसकी कोमलता और मधुरता अत्यन्त पावन हो गयी है। अनुप्रास, संगीत, यमक, उपमान, ताल, यति, छन्द को उपमान के रूप में प्रस्तुत करना सौन्दर्य की कमनीयता और कोमलता को प्रस्तुत करता है। नाटी माता के सौन्दर्य में द्विवेदी जी का मन विशेष रूप से रमा है क्योंकि वे नाटी माता को साक्षात् भगवद्-अनुकम्पा के विग्रह रूप में ही प्रस्तुत कर रहे हैं। जिस रूप की देखकर मात्र श्रद्धा-भाव जागे, वह रूप ऐसा ही होगा। पावनता मनोहरता, लावण्य और माधुर्य और कँसा हो सकता है ?

राजा सातवाहन नाटी माता के बुलाने पर जब रानी से मिलता है तो रानी चन्द्रलेखा को देखकर वह हतप्रभ ही रह जाता है। ‘हाय, प्रथम दर्शन में जो आँखें भेरे सारे अस्तित्व को झकझोर सकी थी, वे आज कँसी हो गयी हैं। सफेद शंखवराटिका के समान वे उज्ज्वल होकर भी राग-शून्य थी, पाण्डुर अगस्त पुष्प के समान वे बकिम होकर भी चाँचल्यरहित थी, अनावृत्त शुक्ति-पटल के समान वे चमकदार होकर भी आभाहीन थी। केशों में कुरी तरह लट्टें पड़ गयी थी। भ्रूयुगल में असंयत वृद्धि हुई थी, ललाट देश पर काली-रेखाएँ उमड़ आयी थी, कपोल-ग्रान्त पर श्यामल बिबर स्पष्ट हो उठे थे, अधरों पर शुष्क आड़ी रेखाएँ निखर आयी थी, पर चेहरे पर आपात मनोहर पाण्डुर प्रभामण्डल भी भ्रालोकित हो रहा था।”²

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नृत्य को देवताओं का चाक्षुष-यज्ञ की संज्ञा प्रदान की है। वे नृत्य-कला के सुधी सहृदय हैं। उन्होंने ‘बाण भट्ट की आत्मकथा’, ‘चारुचन्द्रलेख’ और ‘पुनर्नवा’ में नृत्य के चित्र प्रस्तुत किये हैं। ‘बाण भट्ट की आत्मकथा’ में ग्रामीण नारियों के नृत्य के साथ ही भट्ट की नाटक-मंडली की सदस्या निउनिया के नृत्य का वर्णन है तो ‘चारुचन्द्रलेख’ में नाटी माता के नृत्य की मनोहरता चित्रित है। ‘पुनर्नवा’ में आरंभ में ही मञ्जुषा के सौन्दर्य और नृत्यकला का वर्णन साथ-साथ ही मिलता है। राज दरवार में उसे नृत्य करते हुए देवरात देख रहे हैं और उस समय की अनुभूति का बड़ा ही मनाहारी वर्णन हुआ है :—

“उस दिन उसकी सम्पूर्ण देहलता किसी निपुण कवि द्वारा निबद्ध छन्दोधारा की भाँति लहरा रही थी, द्रुत मन्थर गति अनायास विविध भावों को इस प्रकार अभिव्यक्त कर रही थी, मानो किमी कुशल चित्रकार द्वारा चित्रित कल्पवल्ली ही सजीव होकर पिरक उठी हो, उसकी बड़ी-बड़ी काली आँखें कटाक्ष-विशेष की धूर्णमान परंपराओं का इस प्रकार निर्माण कर रही थी जैसे नील कमलों का अन्धवात ही चंचल हो उठा हो,

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 394

2. उपरिबत्, पृ० 407

भारतकालीन चन्द्रमा के समान उसका मुखमण्डल चारियों के वेग से इस प्रकार घूम रहा था कि जान पड़ता था, शत-शत चन्द्रमण्डल ही आराधक प्रदीपों की अराल-माल में गुथकर जगर-मगर दीप्ति उत्पन्न कर रहे हों। उसकी नृत्य-भंगिमा से नाना-स्थिति की भाव-मुद्राएँ अनायास निखर उठी थी। उसके कंधे के नीचे मृणाल कीमल युगल सुकुमार-सप्रथित द्विपदीषण्ड के समान भाव परम्परा में बलपित हो उठते थे। वस्तुतः पूर्वानिल के झोको से झूमती हुई शतावरी-सता के समान उसकी सम्पूर्ण देह-वत्सरी ही भावोत्साह की तरंग से ही सीलायित हो उठी थी। ऐसा सगता था, वह छन्दों से ही बनी है, रागों से ही पल्लवित हुई है, तानों से सवारी गई है, और तापों से ही कसी गई है।¹

आचार्य द्विवेदी ने मञ्जुला का सौन्दर्य-वर्णन करने के लिए विभिन्न उपवाक्यों का प्रयोग किया है। उसकी नृत्य-भंगिमा का चित्रण बड़ा मधुर और मनोहारी है। 'मृणाल कीमल', 'शतावरीसता' जैसे उपमानों का प्रयोग करके उसकी कीमलता का वर्णन किया गया है तथा 'छन्द', 'राग' और 'तानों' के द्वारा उसकी नृत्य-निपुणता को संकेतित किया गया है।

गणिका मञ्जुला राजा के क्रोध से मुक्ति पाने के लिए आचार्य देवरात के आश्रम में जाती है। उस समय उसने गणिका के समान शृंगार नहीं किया, अपितु सादगी को अपनाया। उसकी कमनीयता और मधुरता को व्यक्त करने में उन्हें पूर्ण सफलता मिली है—

"उसके पहिनावे में सिर्फ एक स्वच्छ साड़ी थी, आभूषण के नाम पर केवल एक हाथ में सोने की धूँडी थी और गले में केवल एक सूत्र का हेमहार था। उसके पैरों में उपातह भी नहीं थे। ऐसा जान पड़ता था कि शोभा ने ही वैराग्य धारण किया है, काम्ति ने ही व्रतोत्थापन किया है, चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्स्ना ही धरती पर उतर आई है, पद्मवन की चारुता ने ही धूल पर चलने का सकल्य लिया है और रति ने ही उदास भाव ग्रहण करके धरती की धन्य किया है। निःसन्देह वह इस देश में भी मनोहर लग रही थी। शैवाल-जाल से अनुविद्ध होकर भी कमल पुष्प की शोभा कमनीय होती है, मेघों से आवृत चन्द्रमण्डल की शोभा भी रमणीय जान पड़ती है, मधुर आकृतियों के लिए सब-कुछ मण्डन द्रव्य ही धन जाता है।"²

प्रस्तुत कथन में आचार्य द्विवेदी जी ने मञ्जुला की शोभा, कांति, कीमलता, शीतलता और लावण्य की अभिव्यक्ति के लिए 'चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्स्ना', 'पद्मवन की चारुता', 'रति' आदि उपमानों का प्रयोग किया है।

गोपाल आर्यक तीन वर्षों के पश्चात् मृणाल मञ्जरी को देखता है तो उसे प्रतीत होता है कि वह काफी बढ गयी है—“उसके अग-अग में लावण्य की छटा छलक रही थी। आर्यक को देखकर उसके मुरझाये हुए मुख पर आनन्द की आभा दमक आयी थी।

1. पुनर्नवा पृ० 12

2. उपरिवत्, पृ० 20

उसकी दुग्ध-मुग्ध मुखश्री में इस प्रकार का उफान आया था जैसे अचानक दुग्ध भाण्ड को अप्रत्याशित ताप मिल गया हो।¹ वीरक चन्द्रा के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए शाबिलक से कहता है कि 'लेकिन भैया, तुम मानो या न मानो, ऐसा सुन्दर रूप मैंने नहीं देखा था। लोग स्त्रियों के मुख को पूर्णिमा के चांद-जैसा कहते हैं। मगर मैंने पहली बार सचमुच पूर्णिमा के चांद जैसा मुख देखा।'²

छवीला पंडित अपनी प्रिया मांदा की स्मृति करता है तो उसकी हसी उसे मेघक लगती है, हृदय की मध देने वाली प्रभापूर्ण।

"और फिर वह हंसी भी क्या थी, जैसे क्षण-भर के लिए कुहरे के घने आवरण को भेदकर उपा की किरणें दिख गयी हों, जैसे बादलों की परत फोड़कर चन्द्रमरीचियां चमक उठी हों। श्यामरूप उस मन्दस्मित को नहीं भूल सकता। वह उसे निरन्तर मग रहा है। कब तक मगता रहेगा? हाय, विद्रुम पात्र में रखे मोती उस लाल-लाल अधरों में पिरक गयी मुसकान के सामने फीके हैं, प्रवाल मणि के पुष्पाधान में हंसते हुए मल्लिका-कुसुम भी उसके सामने निष्प्रभ हैं। एक क्षण में श्यामरूप ने क्या पाया, क्या खोया?"³

आर्यक द्वारा हलडोप की विजय कर लेने पर अनेक उत्सव हुए किन्तु मृगाल-मंजरी उन उत्सवों में उपस्थित नहीं हुई। स्वयं, गोपाल आर्यक उससे मिलने गया। उस समय उसने अपनी प्रिया पत्नी का जो रूप देखा, वह कर्णा को अप्रति करने वाला था—

"मुह पीसा पड़ गया था। केश सटियाकर एक वेणी बन गये थे, हिरण की आंखों से प्रतिद्विद्धता करने वाली आंखें भीतर घंस गयी थी। वह एक मलिन श्वेत साड़ी पहने हुए थी।"⁴

मृगाल-मंजरी के वियोग-ताप और प्रियतम के प्रति आसका के कारण मलिन रूप का चित्रण अन्यत्र भी हुआ है। गोपाल आर्यक के सेनापति पद को छोड़कर भाग जाने के पश्चात् सुमेर काका उससे मिलने जाते हैं, उस समय का वर्णन किसी भी कवि द्वारा किये गये विरहिणी के वर्णन के समान है—

"निःसन्देह उसकी परिपाण्डु दुर्बल देहवल्लरी हेमन्त की दुर्बल वायु से परिम्लान पत्रहोन सता के समान कर्ण हो गयी थी, पर आंखों में एक प्रकार की विशिष्ट पयोति भी आ गयी थी, जैसे सानर्षित मणि हों, शरत्कालीन कमलिनी के उतफूल पद्म हों।"⁵

इसी प्रकार का वर्णन चन्द्रा का भी किया गया है। अनायास ही चन्द्रा सुमेर

1. पुनर्नवा, पृ० 50

2. उपरिवत्, पृ० 83

3. उपरिवत्, पृ० 90

4. उपरिवत्, पृ० 108

5. उपरिवत्, पृ० 118

काका को प्रणाम करती है। सुमेर काका आशीर्वाद देकर उसे वहाँ से घते जाने को कहते हैं किन्तु वह मुणाल के घर को अपना ही घर बताती है। सुमेर काका पुत्र: उसको ओर देखते हैं।

“चन्द्रा एक बहुत साधारण हल्की नीली साड़ी पहने थी। उसका सुन्दर मुख सूखा-मूत्रा दिखायी दे रहा था। अधरोष्ठ काने पड़ गये थे। अलंकार के नाम पर एक सोने का कगन हाथों में इस प्रकार झूल रहा था, मानो अब गिरा, अब गिरा। गोल, गोरे मुख के ऊपर केश सटिया गये थे, पर सिन्दूर की मोटी रेखा सावधानी से अंकित दिखायी दे रही थी। चन्द्रा ही तो है। नील परिधान की छाया से उसका चन्द्रमा के समान मुखनीलाभ उज्योति से तिलमिला रहा था।”¹

‘पुनर्नवा’ में भी एक वृद्धा तपस्विनी के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। शारिलक उज्जयिनी से भागता है तो भागता ही चला जाता है और वह एक पहाड़ी के दूसरी ओर छोटे-से मंदिर में पड़चता है तो मन्दिर से बाहर आती वृद्धा तपस्विनी को वह देखता है—

“इस वृद्धावस्था में भी उनके मुखमण्डल से दीप्ति-सी झड़ रही थी। ललाट दर्पण के समान चमक रहा था। सम्पूर्ण शरीर से शालीनता बिखर रही थी। क्या पार्वती भी वृद्ध होती हैं? साक्षात् पार्वती ही तो है। क्या शोभा ने वैराग्य धारण किया है, क्या तपस्या भी तप करती है, क्या कान्ति भी शरीर धारण करती है, दीप्ति को भी बाह्यव्य का बाना धारण करना पड़ता है?”²

यहाँ पार्वती, शोभा, तपस्या, कान्ति और दीप्ति को उपमान बनाकर सौन्दर्य के प्रति भक्ति-भाव को प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार उज्जयिनी में घूसा भावी का विचित्र मातृत्व की आभा के रूप में किया गया है—

“केवल हाथ खुला हुआ था और मुह भी अवगुण्डन में से निकल आया था। सारा घर एक अपूर्व दीप्ति से जगमगर कर रहा था। आर्यक की समझ में आ गया कि भाभी के मुख और हाथ की सुनहरी आभा से ही चादी की दर्बों सोने का रंग पा सकी थी। आर्यक मुग्ध भाव में देख रहा था। अरे वातुस कवियों, तुमने प्रिया के बक्ष:स्थल पर सुगोभित मुक्तामाल को सुवर्णमाल समझने के काल्पनिक आनंद को ही देखा, यहाँ देखो, मातृत्व की आभा से दीप्ति सन्धी सुवर्ण दर्बों।”³ यहाँ प्राचीन परम्परा से नारी के स्वर्णिम वर्ण के प्रतिबिम्ब द्वारा चादी को सोने जैसा दिखाने का सफल प्रयास हुआ है। अन्तर यह है कि प्रिया के स्थान पर मातृत्व भाव का प्रस्तुतीकरण है।

‘अनामदास का पोषा’ का नायक रैव मुनि अत्यन्त भोला है। उसने जाबाला के दर्शन से पूर्व किसी नारी को नहीं देखा था। अचेत जाबाला के नेत्रों को देखकर उसे मृग के नेत्रों का भ्रम हो जाता है। यह भ्रम बड़ा मोहक और मृग्यकारी है—

1. पुनर्नवा, पृ० 124

2. उपरिचत्, पृ० 159

3. उपरिचत्, पृ० 212

‘ऐसी आँखें तो मनुष्य की नहीं होती। ये तो बिल्कुल मृग की आँखें हैं। अवश्य ही इस प्राणी ने कहीं से मृग की आँखें लेकर अपने चेहरे पर बँठा ली हैं। वे धीरे-धीरे आँखों के चारों ओर उंगली फिराकर देखने लगे कि कहीं जोड़ के चिह्न हैं या नहीं।’¹

प्रस्तुत उपन्यास में परम्परागत सौन्दर्य-वर्णन का अभाव दिखायी पड़ता है। कहीं-कहीं लज्जा के कारण जाबाला के मुखमण्डल पर आरवत आभा का चित्रण हुआ है। रैव उसे ‘शूलोक की दिव्य किरण के समान पवित्र, उषा के समान कान्तिमती, साक्षात् वामदेवता के समान बुद्धिमती’² कहता है। कहीं-कहीं कुछ अन्य उपमानों का प्रयोग भी किया गया है, यथा-‘घूमाम्घ्न-सा’। जटिल मुनि एक बूढ़ा माता के प्रभावकारी सौन्दर्य का वर्णन अवश्य करते हैं—

‘उनका सारा शरीर तेज से ही बना लग रहा था। आँखों में करुणा का अपार सागर लहरा रहा था। उनके बल्कल-समादृत देह के अंग-अंग से प्रकाश की किरणें फूट रही थी।’³

वस्तुतः आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों का केन्द्रीयबिन्दु प्रेम है, इसलिए उनके उपन्यासों से नारी-सौन्दर्य के अनेक चित्र उपलब्ध हैं। आचार्य द्विवेदी नारी-देह को देव-मंदिर मानते हैं तथा काम-भाव को पाप और प्रेम को दिव्य रूप में प्रस्तुत करते हैं, इसलिए उनके सौन्दर्य-चित्रण में थड़ा उत्पन्न करने वाला प्रभाव होता है। उन्होंने नक्ष-शिख परम्परा के साथ-साथ प्रभाववादी दृष्टि से सौन्दर्य-चित्र उकेरे हैं। उनकी नारी गणिका होकर भी महान् होती है क्योंकि वे गणिका को समाज-व्यवस्था की देन मानते हैं। यही कारण है कि गणिका के सौन्दर्य-वर्णन में भी वे ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं कि पाठक के मन में काम-भाव के स्थान पर थड़ा का भाव ही उत्पन्न होता है। यही कारण है कि उनका सौन्दर्य-वर्णन मनोहारी होने के साथ-साथ अन्तस्तल की गहराइयों का स्पर्श करने वाला होता है। उन्होंने युवती नारी के साथ-साथ बूढ़ नारियों का सौन्दर्य भी अंकित किया है। वे माता के सौन्दर्य में जो आभा, दीप्ति और कांति के रंग भरते हैं, वे निश्चित रूप से अनुपम हैं।

प्रेम के त्रिकोण

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यासों में निमूढ और अदृष्ट प्रेम की स्थापना की है। वे सौन्दर्य के प्रति दृष्ट और काम-भावना के आकर्षण को पाप-भावना की संज्ञा देते हैं तथा सर्वस्व लुटा देने की भावना वाले प्रेम को ईश्वरीय तत्त्व मानते हैं। प्रथम प्रकार काम का है और द्वितीय प्रेम का। बाणभट्ट की आत्मकथा में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बाणभट्ट के माध्यम से काम-भस्म की कहानी द्वारा इन स्पष्ट किया है।

1. अनामदाम का पीषा, पृ० 30

2. उपरिबत्, पृ० 125

3. उपरिबत्, पृ० 169

‘कालिदास ने प्रेम के देवता को वैराग्य की नयनाग्नि से भस्म नहीं कराया है, बल्कि उसे तपस्या के भीतर से सौन्दर्य के हाथों प्रतिष्ठित कराया है। पार्वती की तपस्या से सच्चे प्रेम के देवता आविर्भूत हुए थे। जो भस्म हुआ, वह आहार-निद्रा के समान जड़ शरीर का विकार्य धर्म-मात्र था। वह दुर्बल था, परन्तु देवता नहीं था। देवता दुर्बल नहीं होता देवि, विभज्य वचनीय है तुम्हारा प्रश्न।’¹ इसी प्रकार ‘अनामदास का पोषा’ में जटिल मुनि रंजय को काम और प्रेम का अन्तर समझाते हुए कहते हैं कि—

“मेरी माताजी ने बताया था कि किमी तरणी की ओर आकृष्ट होना ‘काम’ है। परन्तु उसके लिए अपने-आपको निष्ठावर कर देने की भावना ‘प्रेम’ कही जाती है। माता जी ने कहा था कि तुम कभी काम-भावना से किमी तरणी की ओर आकृष्ट न होना, परन्तु यदि कभी तेरे चित्त में प्रेम का उद्रेक हो तो उसे पाप न समझना। काम आध्यात्मिक विकास का बाधक है जबकि प्रेम उसका उन्नायक है।”²

आचार्य द्विवेदी ने ‘वाणभट्ट की आत्मकथा’ में प्रेम की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा कि “नर-लोक से किन्नर-लोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय का सन्धान पाना बाकी है।”³ वस्तुतः साधना की सफलता और एक ही रागात्मक हृदय का सन्धान पाने की लालसा से ही द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासों में प्रेम की ओर प्रेम के त्रिकोण की अभिव्यक्ति की है। ‘वाणभट्ट की आत्मकथा’ का त्रिकोण वाणभट्ट, निउनिया और मट्टिनी का है। इस त्रिकोण के पीछे बाह्य भावना ‘रत्नावली’ की वासवदत्ता की है जो दो विरोधी दिशाओं में जाने वाले प्रेम को एक रागात्मक सूत्र में बांधने में सफल होती है। निउनिया स्पष्ट शब्दों में कहती है—“भट्ट, तुम नहीं देखते कि वासवदत्ता ने किस प्रकार दो विरोधी दिशाओं में जाने वाले प्रेम को एक सूत्र दिया है। प्रेम, एक और, अविभाज्य है। उसे केवल ईर्ष्या और भ्रूया ही विभाजित करके छोटा कर देते हैं।”⁴

भट्ट एक नाटक मडली का सूत्रधार होता है और निउनिया एक अभिनेत्री। निउनिया भट्ट से प्रेम करती है और भट्ट न केवल उसके अभिनाय भाव को जानता है अपितु उससे प्रेम भी करता है किन्तु प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं करता। निउनिया के मन में सर्वस्व गुंटा देने के साथ-साथ प्राप्त की कामना भी होती है, इसलिए एक दिन वाणभट्ट की हवी को वह उपेक्षा मानकर भाग जाती है। भट्ट नाटक मडली तोड़ देता है। वयो के पश्चात् पुनः मिलन होने पर निउनिया स्पष्ट शब्दों में कहती है—

‘हां भट्ट, मेरे भाग आने के कारण तुम्हीं हो, परन्तु दोष तुम्हारा नहीं है। दोष मेरा ही है। तुम्हारे ऊपर मुझे मोह था। उस अभिनय की रात को मुझे एक क्षण के लिए ऐसा लगा था कि मेरी जीत होने वाली है, परन्तु दूसरे ही क्षण तुमने मेरी आशा को चूर कर दिया। निंद्य, तुमने बहुत बार बताया था कि तुम नारी-देह को देव-मन्दिर के समान

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1 पृ० 185
2. अनामदास का पोषा, पृ० 174
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 254
4. उपरिबत्, पृ० 249-250

पवित्र मानते हों, पर एक बार तुमने समझा होता कि यह मन्दिर हाठ-मास का है, दंठ-चूने का नहीं।”¹

यह मोह ही काम है जो गृहित है, आध्यात्मिक विकास में बाधक है और भटकाने वाला है। समय के अन्तराल से ही निरनिया काम और प्रेम का अन्तर समझ पाती है। वह स्वयं कहती है कि “छः वर्षों तक इस कुटिल दुनिया में असहाय मारी-मारी फिगी और मेरा मोह भक्ति के रूप में बदल गया है।”²

निरनिया भट्ट को नारी में देव-मन्दिर दिखाने के लिए सखी के वेश में स्थाण्वीश्वर के छोटे राजकुल में ले जाती है। उसका उद्देश्य कीचड़ में से उस मन्दिर का उद्धार करने का है और भट्ट इस कार्य में सहयोग देने के लिए सहर्ष तत्पर हो जाता है। निरनिया और भट्ट मिलकर भट्टिनी का उद्धार करते हैं। भट्ट और भट्टिनी दोनों एक दूसरे को देख कर परस्पर प्रेम करने लगते हैं। भट्ट बाबा के समक्ष स्वीकार करता है कि भट्टिनी को वह पवित्रता की मूर्ति मानता है और अपने प्राण देकर भी भट्टिनी को बचायेगा। भट्टिनी महामाया को बताती है कि भट्ट के प्रथम सम्भाषण से ही उसे अपने जीवन की सार्थकता का आभास हो गया था। वह कहती है कि—

“मातः, भट्ट ने चकित भृगु-शिषु के समान मेरी ओर देखा, मानो उन्होंने कोई नवीन प्रकाश, कोई अभिनव ज्योति देखी हों। उनके दीप्त सलाह-पट्ट पर भक्ति की शुभ्र किरण विराजमान थी। उनके विमल-विशाल नयनों में उज्ज्वल प्रकाश इस प्रकार फूट रहा था, मानो दो ज्वलन्त शुभ्रग्रह धमक रहे हों। उनकी कोमल-मधुर वाणी में एक अद्भुत मिठास थी। भट्ट ने अत्यन्त स्पष्ट, सकांच-रहित और अर्थपूर्ण वाणी में जो दो-चार वाक्य कहे, वे सामान के समान पवित्र थे, परन्तु उनका माहात्म्य उससे अधिक था। राजभवन में अपने सौन्दर्य की चाटुविज्ञाँ मैंने बहुत सुनी थी, किन्तु सत्य वाणी मैंने पहली बार सुनी। मैंने प्रथम बार अनुभव किया कि मेरे भीतर एक देवता है जो आराधक के अभाव में मुरमाया हुआ छिपा बैठा है। मैंने प्रथम बार अनुभव किया कि भगवान् ने नारी बनाकर मुझे धन्य किया है, मैं अपनी सार्थकता पहचान गयी।”³

उपन्यास के अन्त में पहुँचकर निरनिया वासवदत्ता का अभिनय करते समय मामो रत्नावली के रूप में भट्टिनी का हाथ ही भट्ट के हाथों में सौंपती है और अपनी जीवन-यात्रा का समापन कर देती है, इस प्रकार असूया आदि भावों की स्थिति ही नहीं बन पाती। निरनिया का विचलित होना ही उसके मन के अशूया आदि भाव की अभिव्यक्ति करना है। “अन्तिम दृश्य में जब वह रत्नावली का हाथ मेरे हाथ में देने लगी तो सचमुच विचलित हो गयी। यह मिर से पैर तक सिहर गयी। उसके शरीर की एक-एक शिरा तिलिह हो गयी।”⁴

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 32

2. उपरिचत्, पृ० 32

3. उपरिचत्, पृ० 128

4. उपरिचत्, पृ० 250

यस्तुतः आचार्य द्विवेदी काम को तिरस्कृत और अदृष्ट प्रेम को एक ही रागात्मक हृदय के सन्धान का माध्यम बताते हैं। यही कारण है कि उनके प्रेम के त्रिकोण का प्रतीक स्पष्ट होने लगता है। भट्ट, निउनिया और भट्टिनी इच्छा, क्रिया और ज्ञान के प्रतीक बन जाते हैं। भट्ट इच्छा है, निउनिया क्रिया है और भट्टिनी ज्ञान है। निउनिया के बिना भट्ट अपनी नाटक-मडली तोड़ देता है क्योंकि क्रिया के बिना इच्छा का महत्व नहीं होता। तीनों का समन्वयात्मक रूप ही साधक को परमानन्द तक पहुँचाता है। यही कारण है कि इस रूपक को कुण्डलिनी, इड़ा और पिगला का रूपक भी कहा जा सकता है। भट्ट की कुल कुण्डलिनी जाग्रत है। इड़ा पिगला के साथ एकमेक होती है। निउनिया रत्नावली के रूप में भट्टिनी का हाथ सौंपते समय अपने अस्मिरक की ही विसर्जित कर देती है।

प्रेम का दूसरा त्रिकोण मौखरि नरेश ग्रहवर्मा, महामाया और अघोर भैरव का है। महामाया का वाकदान अघोर भैरव के साथ हुआ था किन्तु ग्रहवर्मा ने उसे अपहृत कर लिया। महामाया ग्रहवर्मा को कभी पति नहीं मान सकी। अघोर भैरव ने विकट तपस्या की और वशीकरण के द्वारा यह स्थिति उत्पन्न की कि महामाया राजमहल छोड़ कर अघोर भैरव के साथ आ गयी।

‘षाठ चन्द्रलेख’ के त्रिकोण स्पष्ट हैं। रानी चन्द्रमेधा, राजा सातवाहन और गुरु नागनाथ का एक त्रिकोण बनता है क्योंकि रानी तपस्वी नागनाथ के लिए अपने मन में कुछ बचा कर रखती है और राजा के प्रति पूर्ण समर्पण नहीं कर पाती। यह मैना की बताती है कि भगवती विष्णु पिया ने जब उसके ललाट का स्पर्श किया तो वह स्वयं की अनामृत रूप में देव सकी—

“नागनाथ की कठोर तपस्या से द्रवीभूत अपने चित्त को मैंने प्रत्यक्ष देखा। वह डरकर नागनाथ के हृदय में गिर जाना चाहता था। नागनाथ के हृदय के सब द्वार बन्द थे। फिर मैंने उमी द्रवित चित्त को महाराज के हृदय-गह्वर में गिरते देखा। वहाँ सब रास्ते खुले थे। सारा द्रवित चित्त उसमें समाप्त हो जाता तो भी वह अगाध गिरि-गह्वर जैसा हृदय उफनता नहीं, पर मैंने थोड़ा-सा बचा लिया। मुझे आज्ञा थी कि किसी दिन नागनाथ का हृदय-द्वार खुलेगा और उसमें देने लायक मेरे पास कुछ रहना चाहिए। मेरा हृदय पूरा नहीं दिया जा सकता था। राजा से स्वतन्त्र भाव से रहने की माग इसी अज्ञात आकांक्षा का वाङ्मय रूप था। मैं लज्जा से बड़-सी गई मैना, मैंने अपना ऐसा पिनोना रूप नहीं समझा था।”²

यह त्रिकोण इसलिए पूर्ण नहीं हो सका क्योंकि नागनाथ असीम की खोज में थे। वे सिद्ध कौटिलेयी रस की कामना से ही रानी की सहायता ले रहे थे। नागनाथ ने सीमा की उपेक्षा करके रानी को गुरु रूप में वरण करके अपनी कुण्डा समाप्त करनी चाही किन्तु वरण एकतरफा नहीं होता, इसी कारण रानी की शिराओं में गाँठ पड़ गयी। भगवती विष्णुपिया इसी तथ्य को समझाती है—

“अमीम की खोज में लगा चित्त प्रायः सीमा की उपेक्षा कर जाता है। यह सीमा

हे कि उसे मौका पाते ही दबोच लेती है। नागनाथ भुस ही गए कि बत्तीस लक्षणों से सम्पन्न सती केवल सीमा का विस्फूर्जित विलास है। उसे वे छू नहीं सकते, देख नहीं सकते। क्या ही अच्छा होता कि वे भेद दूढ़ होने के पूर्व ही चन्द्रलेखा की सहायता पा जाते। सीमा भेद को बराबर दूढ़ करती है। चन्द्रलेखा की मनोगमा नाडियो में कठिन गाँठें पड़ गयी थी। उन्होंने गुरु रूप में चन्द्रलेखा को बरण करके कुण्ठा को समाप्त करना चाहा, पर बरण क्या एकतरफा होता है, नाटी? चन्द्रलेखा की गाँठें निरन्तर दूढ़ से दूढ़-तर होती गयी और नागनाथ निस्सहाम-से होकर सिद्धि-सोपान से सुदृक गये।¹

इस प्रकार प्रेम का यह त्रिकोण बनते हुए भी बन नहीं पाया। अचेतन मन में रह-कर ही यह समाप्त हो गया। इसी प्रकार का दूसरा त्रिकोण राजा, रानी और मैना का कहा जा सकता है। मैना राजा के लिए अपना सर्वस्व अर्पित करने को तत्पर है। वह प्राणों की बाजी लगाकर राजा की रक्षा करती है। वह अपने आपको उरसर्ग कर देना चाहती है। राजा के सो जाने पर वह उनके चरण दबाती है। वह बोधा प्रधान से स्पष्ट शब्दों में कहती है—

"जानते हो प्रधान, जब पहले-पहल महाराज को मैंने देखा था तो रक्त के प्रत्येक ऋण से ध्वनि निकलती जान पड़ी थी—यह मेरी चरितार्थता है? तदुत्स-सहस्र जन्मों में मटकती हुई तू इसी निधि की खोज में थी। ऐसा जान पड़ा जैसे समूचा अस्तित्व विगलित हो उठा है। ऐसा क्यों हुआ? यह क्या तमोगुण का प्रभाव था? सच मानो, यदि यह तमोगुण है तो संसार में सत्त्वगुण नाम का पदार्थ कहीं है ही नहीं।"² शैरव ने बोधा प्रधान को बताया था कि महाराज मैना की ओर आकृष्ट होकर तमोगुण की ओर बढ़ रहे हैं। मैना बोधा से कहती है कि ये उसके मन का विकार है जिसे तांत्रिक ने पड़ लिया है। वह कहती है कि राजा को देखकर उसके मन में कुछ प्राप्त करने की नहीं अपितु अपने को निःशेष भाव से उडेलकर दे देने की भावना थी। वह नारी और पुरुष के दान के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहती है कि—

"तुमने भी अपने को दे दिया, पर तुम्हें भगवान् ने पुरुष विग्रह दिया है। तुम्हारा दान अनायास सात्विक हो जाता है, उसमें विग्रह बाधक नहीं है। मैं देती हूँ तो विग्रह भी ढरक जाना चाहता है। तुम्हारा अर्घ्य शुद्ध गंगाजल की धार है। मेरे गंगाजल में फूल भी तैरता रहता है। देना चाहती हूँ गंगाजल की धार, आगे उतराकर बह जाना चाहता है फूल। यही अन्तर है। पर दान, दान है। शपथपूर्वक कह सकती हूँ, इसमें केवल सत्वोद्रेक है। फूल को रोकना चाहते हो तो रोक लो, हाथ लगाओ, मेरे दोनों हाथ फंसे हैं। दोड़ों के घन पर मैं कभी लोभ कर सकती हूँ प्रधान? पर साचारी इस विग्रह की है। तुमसे कातर प्रार्थना करती हूँ प्रधान, मेरी सेवा को निर्मल बनाओ। इसे राजस दोष से मुक्त करो।"³

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 100

2. उपरिचत्, पृ० 554

3. उपरिचत्, पृ० 556-557

मैना बोधा प्रधान को भगवती नीलतारा के मन्दिर में ले जाकर इस त्रिकोण को समाप्त कर देती है और बोधा प्रधान मैना के साथ महाराज के पास जाकर आज्ञा मागते हैं—'पुरुषोत्तम क्षेत्र में प्राप्त, देवता के अयाचित प्रसाद को शिरसा स्वीकार करने की अनुज्ञा हो घर्मावतार।'¹

महाराज दोनों को आशीर्वाद प्रदान करते हैं किन्तु वे मैना के चित्र को हृदय से मिटा नहीं सकते—

“आखें उनकी ऊपर नहीं उठी। मैंने दोनों के सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया, परन्तु मैना का वह श्रीझा-मनोहर मुख जो हृदय-क्षेत्र पर आया सो चिपक ही गया। रण-झका बज गया है, उत्तर से दक्षिण तक भयकर घमासान में त्रिजली की भाँति चमक रहा हूँ, पर वह मूर्ति जो चिपकी है वह जम ही गयी है। पीडा होनी है। चाहता हूँ वहाँ से हटा दूँ। न मूर्ति ही हटा पाया हूँ और न पीडा से मुक्ति ही मिली है। कुछ पीड़ाएँ बेहिस्ताब मीठी होती हैं।”²

इस प्रकार राजा को लेकर एक तीसरा त्रिकोण बन जाता है। राजा, मैना और बोधा प्रधान। मैना और बोधा के विवाह से यह त्रिकोण भग्न होता है।

वस्तुतः राजा, रानी और मैना के त्रिकोण में उपन्यासकार के मन का वही बीज—इच्छा, ज्ञान और क्रिया का है। एकस्रोतसे परिच्छेद के आरम्भ में ही उपन्यासकार लिखता है कि “इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति का द्वन्द्व तैजो से चल पडा है।”³ इसी प्रकार मैना और बोधा को आशीर्वाद देने के पश्चात् राजा मन-ही-मन में मैना के दृढ सकल्प पर विचार करता है और अन्ततः जो निष्कर्ष देता है, वह इसी रूपक को स्पष्ट करने वाला है, “ज्ञानवती इच्छा निःसन्देह अकर्मण्य होती है। ज्ञान इच्छा को रोकता है।”⁴ इस प्रकार राजा, रानी और मैना इच्छा, ज्ञान और क्रिया के प्रतीक बन जाते हैं।

‘पुनर्नवा’ का मूल उद्देश्य तो प्रेम की प्राण-प्रतिष्ठा ही करना है। द्विवेदी जी ने स्पष्ट कहा है कि प्रेम सम्बन्धी व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होगा तो व्यवस्थाएँ तो टूटेंगी ही, वे धर्म को भी तोड़ देंगी।⁵ यही कारण है कि प्रस्तुत उपन्यास में प्रेम के तीन त्रिकोण उपलब्ध होते हैं—(i) आचार्य देवरात, शर्मिष्ठा और मजुला, (ii) गोपाल आर्यक, मृगाल मजरी और चन्द्रा तथा (iii) आर्य चारुदत्त, धूला और वसंत सेना। इन त्रिकोणों के अतिरिक्त छबीला पंडित और माँदी का प्रेम, चन्द्रमौलि और राजदुहिता के प्रेम का चित्रण भी है।

(i) प्रथम त्रिकोण आचार्य देवरात, शर्मिष्ठा और मजुला का है किन्तु इसमें त्रिकोणात्मक संघर्ष की स्थिति ही नहीं है क्योंकि शर्मिष्ठा देवरान की सौतेली माँ द्वारा

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1 पृ० 568

2. उपरिवत्, पृ० 568

3. उपरिवत्, पृ० 567

4. उपरिवत् 568

5. पुनर्नवा पृ० 173

उसके मारे जाने का झूठा समाचार दिये जाने के कारण पहले ही सती हो चुकी है। आर्य देवरात शमिष्ठा के बिना राजमहल में नहीं रह सके और इसलिए साधु वेश धारण करके भटकने लगे। हलद्वीप की गणिका मंजुला में उन्हें शमिष्ठा का रूप दिखाई पड़ा, इसलिए वे हलद्वीप में ही रुक गए। छठे परिच्छेद में मृगाल मजरी के विवाह के अवसर पर जब वे मंजुला का पत्र पढ़ते हैं तो आचार्य देवरात की पुरानी स्मृतिया जागती हैं, उस समय उपन्यासकार इसका वर्णन करता है—

“हुआ यह कि जब राजा का आमंत्रण स्वीकार कर देवरात प्रथम बार राजसभा में गये तो मंजुला भी आयी हुई थी। उसके नृत्य का उस दिन आयोजन था। देवरात ने मंजुला को देखा और आश्चर्य से ठकू हो गये। उन्हें ऐसा लगा कि शमिष्ठा ही स्वर्ग से उतरकर आ गयी है। वही रूप, वही रंग, वही कांति, वही हंसी, मंजुला का कद जरूर जो-भर छोटा था, पर उससे कोई विशेष अन्तर नहीं आता था। उनके हृदय में टीस अनुभूत हुई, पर साप ही सन्तोष भी हुआ। जिस रूप को देखने के लिए उनका हृदय व्याकुल था, वह अब भी देखने को मिल सकता है। यह नहीं कि वे शमिष्ठा और मंजुला के अन्तर को नहीं समझ सकें। भिन्न है, पर फिर भी उसका हल्का आभास मिल रहा है।”¹

राज-दरबार में मंजुला के गीत-नृत्यादि के अवसर पर आचार्य देवरात जो टिप्पणियाँ क्रिया करते थे, उससे मंजुला उनमें द्वेष-भाव ही देखती थी। एक दिन उसने विशुद्ध कलाकार की दृष्टि से देवरात पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया। उसे विजय मिली भी किन्तु उस विजय में वह स्वयं ही परास्त हो गयी। वह उनकी भाव मूर्ति की ही उपासना करने लगी। मृत्यु के पश्चात् भी उसे मुक्ति नहीं मिल सकी क्योंकि वह देवरात के अभिनाय के बन्धन में बधी थी। उसकी आत्मा उज्जयिनी में देवरात से कहती है—

“भूल गये आर्य, महाभाव का चरका इस अभाजन को लगाकर स्वयं भूल गए। उठो आर्य, हम अनुधरी ने यदि कुछ अनुचित कहा हो तो क्षमा करना। जीते-जी तुम्हारी भाव-भाषना की सगिनी नहीं बन सकी। महाभाव-साधना की सगिनी तो बना लो आर्य ! इस लालसा ने मुझे बहुत भरमाया है प्रभो। तुम्हारे अभिनाय के बन्धन में बधी हुई हूँ। बार-बार लौटकर आती हूँ। मुक्ति नहीं पा रही हूँ। जिन पर तुम्हारा ध्यान केन्द्रित होता है उनकी कल्याण-कामना के लिए भरमती फिरती हूँ। महाभाव सामने आ-आकर बिसक जाता है। संसार जोर से खींचता है। बुरी तरह खींचता है। पुनर्नवा बनना पड़ता है। पर आर्य, यह तो मेरा सहज धर्म नहीं है।”²

आचार्य देवरात अपने मोह को चन्द्रमौलि से भेंट होने के पश्चात् समझ पाने में समर्थ होते हैं। वे सोचते हैं कि ‘हाय’ विधाता की बनायी शमिष्ठा तो कब की समाप्त हो गयी, पर उन्होंने अपने हृदय में जो कमनीय मूर्ति गढी है, वह तो अब भी ज्यों-की-त्यों है। देवरात ने सीमा के इस माहात्म्य को अभी तक नहीं समझा था। युवा कवि वरवस उन्हें

1. पुनर्नवा, पृ० 59

2. उपरिवत, 246

समझने को प्रेरित कर रहा है। सीमा की भी अपनी महिमा है।¹

दूसरा त्रिकोण पूर्णतः स्पष्ट है। नायक गोपाल आर्यक से सम्बन्धित होने के कारण उसका महत्व भी अधिक है और वह उपन्यास का केन्द्रीय बिन्दु भी है। गोपाल आर्यक का विवाह आचार्य देवरात की पालित पुत्री मृणाल मंजरी से होता है। गोपाल आर्यक और मृणाल मंजरी बचपन से ही साथ खेले-कूदे थे, इसलिए उनके मन में परस्पर आकर्षण का भाव भी था। उसी भाव की चन्द्रा का विवाह एक ऐसे व्यक्ति से हुआ था जो सच्चे अर्थों में पुरुष ही नहीं था। चन्द्रा के मन में गोपाल आर्यक के प्रति अभिलाषा भाव था। वह गोपाल आर्यक को आकर्षित करने के लिए विभिन्न प्रकार के कार्य करती थी। वह प्रेम-पत्र भी लिखती थी जिन्हें गोपाल आर्यक अपनी पत्नी मृणाल मंजरी को सौंप देता था। एक रात को एक बाटिका में किसी नारी का करण-श्रन्दन सुनकर गोपाल आर्यक वीरक के साथ वहाँ पहुँचा तो पाया कि चन्द्रा उसे आकर्षित करने के लिए अभिनय ही कर रही है। वीरक चन्द्रा को उसके घर पहुँचाने जाता है किन्तु चन्द्रा का पति उसे मार-पीटकर घर से बाहर निकाल देता है। चन्द्रा गोपाल आर्यक के घर जाती है तो गोपाल आर्यक घर छोड़कर भाग लेता है। आगे-आगे गोपाल आर्यक और पीछे-पीछे चन्द्रा। इस प्रकार गोपाल आर्यक हलद्वीप छोड़ जाता है। उसकी मुलाकात समुद्रगुप्त से होती है और समुद्रगुप्त उसे अपना सेनापति बना लेता है। एक बार जब गोपाल आर्यक युद्ध-क्षेत्र में चला जाता है तो समुद्रगुप्त को चन्द्रा से पता चलता है कि वह उसकी विवाहिता पत्नी नहीं है अपितु मृणाल-मंजरी उसकी विवाहिता पत्नी है जो हलद्वीप में उसके वियोग में पीड़ित है। समुद्रगुप्त अपने सेनापति के इस व्यवहार से असन्तुष्ट होकर एक कड़ा पत्र लिखता है जिसके कारण गोपाल आर्यक सेनापति का पद भटकों को सौंपकर भाग लेता है। चन्द्रा हलद्वीप आकर मैना के साथ रहने लगती है। सुमेर काका के साथ मैना और चन्द्रा मथुरा की ओर अग्रसर होती हैं। वे बटेश्वर महादेव पर चकते हैं। गोपाल आर्यक अकेले ही उज्जयिनी में विजय प्राप्त करता है। घूटा भाभी और भटकों के समझाने पर तथा समुद्रगुप्त का सन्देश पाकर वह मथुरा की ओर रवाना होता है। समुद्रगुप्त के कहने पर बटेश्वर जाता है जहाँ चन्द्रा और मैना से मिलन होता है।

इस त्रिकोण में चन्द्रा के एकांतिक प्रेम को सामाजिक सेवा में परिणित कराया गया है। बाबा उमे समझाते हुए कहते हैं कि—

“ना रे ना! तुझे नारी-विग्रह न देती तो मेरे जैसे कोटि-कोटि बालक अनाथ न हों जाते? विकार घुरी बात थोड़े ही है? उन्हें उन्नीचकर महाप्रेमिक को दे देना मा। जानती है मां, सेवा को क्यों इतना महत्व दिया जाता है? सचराचर विश्व-रूप भगवन्त को पाने का यही एक साधन है। और साधनाएं व्यक्ति-परक हैं या निर्व्ययनितक। सेवा ही ऐसी साधना है जो व्यक्ति के माध्यम से अग-जग व्यापी विश्वात्मा की प्राप्ति कराती है। नारी माता होकर इस साधना का अनायास अवसर पा जाती है। ऐकान्तिक प्रेम उसका सोपान मात्र है। तू उसे पार कर चुकी है। अब तुझे प्रेमी को माध्यम बनाकर विश्वात्मा को प्राप्त

करने का अवसर मिला है।"¹

चन्द्रा और मृणाल दोनों प्रेमपूर्वक साथ रहीं। उनमें कोई झगड़ा नहीं हुआ। उपन्यासकार ने इसका प्रमुख कारण यह बताया है कि मृणाल मान, ईर्ष्या, असूया आदि को जानती ही नहीं और चन्द्रा मात्र सेवकमयी है। माता जी ने धूता भाभी को जो बताया वह और भी अधिक प्रासंगिक है—

“बेटी एक ही जाति या श्रेणी की नहीं होती। चन्द्रा की जिस उद्दाम मौन-सालसा से आर्यक घबरा गया है वह उसका आरम्भिक रूप है। वह इतने ही प्रबल वास्तव्य-भाव का केवल पूर्व रूप था। चन्द्रा को उस वास्तव्य का आश्रय मृणाल के रूप में मिल गया है। वह सिर से पैर तक मातृत्व के उज्ज्वल आलोक से दीप्त शिखा की तरह ऊर्ध्वमुखी हो गयी है। चन्द्रा का प्रेम अप्रतिम है। अग्निशिखा की तीव्र आंच को देखकर उसकी पवित्रता पर शंका नहीं करनी चाहिए। आर्यक से कह दे कि चन्द्रा ने उसके प्रेम के लिए जो त्याग किया है वह संसार की शायद ही कोई कुलांगना कर सकी हो। वह अधर्मेय नहीं, नमस्य है।”²

आचार्य द्विवेदी ने मृणाल और चन्द्रा का मन्तर दूसरे स्तर पर भी किया है। बाबा के माध्यम से उन्होंने बताया है कि मैना त्रिपुर सुन्दरी का रूप है और चन्द्रा त्रिपुर भँरकी का। चन्द्रा ने कई बार स्वयं मृत्यु के मुख में जाकर गोपाल आर्यक के प्राण बचाये।

आचार्य द्विवेदी ने इस त्रिकोण में चन्द्रा को सेवा-भाव की ओर आकृष्ट करके समस्या का समाधान करने का प्रयास किया है किन्तु तीसरे त्रिकोण में तो ऐसा प्रयास भी नहीं है। आर्य चारदत्त नगर-गणिका वसन्त सेना से प्रेम करते हैं। उनकी पत्नी धूता सुलक्षणा, शीलवान और पतिव्रता है। माता जी से जब धूता को अपने पति के प्रेम का ज्ञान होता है तो वह स्वयं वसन्त सेना को अपने घर बुलाती है और उसके प्रति अपना प्रेम प्रकट करती है। इस प्रकार वह समस्या समाप्त हो जाती है।

गोपाल आर्यक, मैना और चन्द्रा के त्रिकोण में कभी-कभी अनुभूति होती है कि आचार्य द्विवेदी इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप को प्रस्तुत करना चाहते हैं किन्तु स्पष्ट रूप से कर नहीं सके हैं। चन्द्रा इच्छा और क्रिया दोनों रूप में प्रस्तुत हो गयी है। स्वयं द्विवेदी जी इस तथ्य को समझ गये थे, इसलिए उपन्यास के अन्तिम परिच्छेद में बाबा के माध्यम में वे कहते हैं कि—

“हेरी इच्छा शक्ति प्रबल है, उठनी ही प्रबल है हेरी क्रिया-शक्ति। दोनों को दूने दो कोठी में ढालकर बन्द कर दिया है। ऐसा कर कि दोनों साथ-साथ ताल मिलाकर चल सकें।”³

‘अनामदास का पोषा’ में प्रेम का त्रिकोण नहीं है। एक क्षण को त्रिकोण का

1. पुनर्नवा, पृ० 311
2. उपरिचत्, पृ० 273
3. उपरिचत्, पृ० 311

आभास होता है क्योंकि आचार्य औदुम्बरायण जाबाला का विवाह आश्वलायन से निश्चित करा देते हैं किन्तु जैसे ही आश्वलायन को यह ज्ञात होता है कि रैव की गुभा जाबाला ही है, अन्य कोई नहीं, वह तुरन्त ही एक पत्र आचार्य औदुम्बरायण को लिखकर अपनी स्वीकृति वापस ले लेता है और उन्हे यह भी सूचित कर देता है कि जाबाला का मनो-मुकूल वर रैव है।¹

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विभिन्न उपन्यासों में जो प्रेम के त्रिकोण दिये हैं, उसका प्रमुख कारण अदृष्ट प्रेम की स्थापना करने के साथ-साथ सेवा-भाव को महत्व प्रदान करना है। प्रेम की एकान्तिकता के स्थान पर उसके सामाजिक पक्ष को वे महत्व प्रदान करते हैं। अपने आपको पूर्णतः उलौचकर, दलित द्राक्षा की तरह सम्पूर्ण को समर्पित करके ही प्रेम को समझा जा सकता है। नारी पुरुष के रूप में प्रेम का जो माध्यम पाती है, वह तो उसके प्रेम का आरम्भ होता है, उसका अन्त तो उस महाप्रेमिक के समक्ष पूर्ण समर्पण में ही है।

विरह--विरह प्रेम का प्राण तत्व है। विरह से ही प्रेम पुष्ट होता है और उसी से प्रेम का ज्ञान होता है। यही कारण है कि सभी प्रेम-कवियों ने विरह के गीत गये हैं। जीवन में प्रेम के तो दो-चार क्षण ही होते हैं जबकि विरह के तो अपार कल्प होते हैं। विरह में काया ही कृषा होती है, नेत्रों की ज्योति तो और भी तीव्र हो उठती है। विरह यदि घटिया चीज होती तो कोई उससे पीड़ित नहीं होता अपितु सब पल्ला झाड़कर अलग हो गये होते।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी अपने उपन्यासों में आवश्यकतानुसार विरह का चित्रण किया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में निपुणिका के भाग जाने पर बाणभट्ट अपनी नाटक-मण्डली को तोड़ देता है और अपने लिखे प्रकरण को क्षिप्रा की चंचल लहरो को समर्पित कर देता है। छः वर्ष के पश्चात् जब उसे वह मिलती है तो वह सोचता है कि जो प्रमत्त हसी छः वर्षों से मेरा हृदय कुरेद रही है, उसका प्रायश्चित आज आसुओं से करना होगा।²

निउनिया बाणभट्ट को देवता मानती है और उसे उज्जयिनी की मदनश्री की कहानी सुनाती है जो भट्ट की परीक्षा लेने गयी थी और उसमें भट्ट के सपन के कारण निउनिया की विजय हुई थी। निउनिया अपना विरह तो नहीं कहती किन्तु एक ही वाक्य में वह सब कुछ कह देती है, "तुम्हारे लिए कोई मूल्य नहीं है इस कहानी का, पर मेरा तो यही सर्वस्व है। गले तक पाप-पक में डूबी हुई निउनिया के पास और धन है ही क्या, "भट्ट?"³

बाणभट्ट विरतिवच के विरह का वर्णन करते हुए सुचरिता से कहता है कि "वहाँ गुरु का सारा उपदेश भूलकर वे लिखित की भाँति, उत्कीर्ण की भाँति, स्तम्भित की नाईं,

1. अनामदास का पाँचा, पृ० 143-144

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 31

3. उपरिबद्ध, पृ० 113

उपरत के समान, प्रमुप्त की तरह, योग-समाधिस्थ की भांति निश्चल होकर भी व्रत से चलित हो गये होंगे।”¹ वस्तुतः बाणभट्ट विरतिवचन के वियोग की कल्पना कर रहे हैं। उस कल्पना को अग्रसर करते हुए वे और स्पष्ट शब्दों में कहते हैं, “हृदय निवासिनी प्रिया को देखने के लिए उनकी समस्त इन्द्रियां इस प्रकार अन्तःप्रविष्ट हुई होंगी, मानो असह्य विरह-सन्ताप से वेचने का उद्योग कर रही हों। इस प्रकार उनका समूचा शरीर विराट् शून्य का आकार धारण कर चुका होगा, निस्पन्द-निमीलित नयनों में हृदयदाही प्रेमाम्नि का धुआं भीतर लग रहा होगा और उससे अजल वारि-धारा झड़ रही होगी, दीर्घ निःश्वास-वायु से सता, कुसुम कांप उठे होंगे और उनके कुसुम-रेणु दिङ् मण्डल में विकीर्ण हो रहे होंगे।”²

महामाया के वियोग में अघोर भँवर की विकट साधना का चित्रण विरह का अद्भुत और आध्यात्मिक रूप है, “मूर्ति के सामने एक ककाल-शेष मनुष्य निणत-निष्कम्प प्रदीप की भांति ध्यानमग्न बैठा था। उमने शायद वर्षों से स्नान नहीं किया था। भोजन भी उसे कभी मिला था या नहीं, कौन जाने।”³

‘चाव चन्द्रनेख’ में रानी के घसे जाने पर राजा के उबास और हृत्दर्प रूप का चित्रण अवश्य हुआ है किन्तु विरह में रोते रहने की स्थितियां नहीं हैं। रानी का पत्र पढ़कर तो राजा अचेत ही नहीं हो जाता है अपितु मृतप्रायः स्थिति में पहुँच जाता है। सिद्ध-योगिनी रानी के बारे में सोचते हुए राजा की मनःस्थिति का सुन्दर वर्णन हुआ है—
“हाय, क्या पिञ्छा और चिडिया दोनों से वचित होने जा रहा हूँ ? मुझे रानी की एक-एक चेष्टा प्रत्यक्ष देखने लगी। उनका आनन्दोल्लसित भ्रूमण्डल, तरग-कुटिल अलकराजि, स्मयमान, अधरप्रान्त, काली-काली मसृण, भ्रू-सताएं, आवर्ण प्रसारित नयन-कोरक, पवित्र स्निग्ध दुग्धिलास, अमृत-मुखी वाणी—हाय, मैंने रानी को असत्य प्रपत्न से विरत क्यों नहीं किया।”⁴

‘पुनर्नवा’ में आचार्य देवरात, गोपाल आर्यक, मीना और चन्द्रा सभी का विरह-वर्णन किया गया है किन्तु यह रीतिकालीन-शैली पर नहीं है। आचार्य देवरात शमिष्ठा की स्मृति में ही रत रहते हैं। उसी के कारण वे साधु बने, उसी के कारण वे हलद्वीप में रुक गये और उसी के कारण वे अन्त तक भटकते रहे। उसी कारण से वे मंजुला को बासी पाष हराने के लिए साधुवाद देते हैं।

गोपाल आर्यक समुद्रगुप्त का पत्र पाकर भटार्क को सेनापति का कार्य सौंपकर उज्जयिनी की तरफ भाग लेता है। उसे सेवा और सतीत्व की मर्यादा मृगाल-मजरी की स्मृति आती है और वह दुःखी हो उठता है—

“आर्यक बलान्त था, शरीर और मन दोनों से अवसन्न। कहां आ गया है वह !

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 189

2. उपरिखत्, पृ० 189-190

3. उपरिखत्, पृ० 244

4. उपरिखत्, पृ० 383

वह बुरी तरह उद्विग्न था। बिजली की तरह उसके मन में एक बात चमक उठी। यही क्यों सोचा जाये कि लोग क्या सोचेंगे। यह भी तो मन में प्रश्न उठना चाहिए कि मृगाल क्या सोचेगी?"¹

मृगाल मजरी गोपाल आर्यक के भाग जाने के समाचार को सुनकर अत्यन्त दुःखी हो उठती है। विरह से कातर अवश्य है किन्तु वे गोवर्धनधारी की सेवा में लगकर उस दुःख को कम करने का प्रयास करती है—

“मृगाल मजरी अकेली पड़ गयी। आर्यक के अचानक भाग जाने के समाचार से हलदीप और भासपास के क्षेत्रों में किम्बदन्तियों की बाढ़ आ गयी। जिमने सुना उसी ने कुछ जोड़-घटाकर अपने मन के अनुकूल बनाकर उसका प्रचार किया। मृगाल मजरी सुनती और सिर धुनती। उसे आर्यक की बीरता और साहस पर अखण्ड विश्वास था, पर कुछ समझ नहीं पा रही थी कि आर्यक ने सेना छोड़ी तो क्यों छोड़ी? उसे लग रहा था कि अगर वह साथ होती तो आर्यक को बल मिलता। वह ऐसा कुछ न करता। लेकिन वह अब क्या करे। निराश होकर वह गोवर्धनधारी वासकृष्ण की मूर्ति की ओर देखती और कातर भाव से प्रार्थना करती, प्रभो, आर्यक को किसी प्रकार मिला दो ताकि मैं उसके अभाव को भर सकूँ। वह अन्य कार्यों से मन हटाकर गोवर्धनधारी की सेवा में लग गयी। ...ग्राम-सहजिया मृगाल के मनोरंजन के जो भी उपाय करती उनका प्रभाव उलटा ही पड़ता।”²

मृगाल मजरी इसलिए व्यथित नहीं है कि उसके बिना वह स्वयं अभाव की मनु-भूति कर रही है अपितु वह इसलिए व्यथित है कि वह गोपाल आर्यक का अभाव नहीं भर पा रही है। सार्विक प्रेम का विरह इसी प्रकार का हो सकता है।

गोपाल आर्यक के भाग जाने पर चन्द्रा के चेहरे पर मलिनता आ गयी थी। गुमेर काका जब उसे देखते हैं तो सोचते हैं कि “अवश्य कोई निवारण अन्तर्वेदना की ज्वाला उसके भीतर दीर्घकाल से सुलग रही है।”³ चन्द्रा मृगाल मजरी और शोभन को पाकर सेवा-भाव में लग जाती है और सेवा-भाव का प्रेम विरह-व्यथा की रीतिकालीन पद्धति से जानता ही नहीं है।

‘अनामदास का पोथा’ में रैक्व मुनि जाबाला को देखकर प्रेम करने लगे हैं। उन्होंने उसकी अपनी पीठ पर बिठाना चाहा था, तब से पीठ में चुनली होती है। समाधि में शुभा अर्थात् जाबाला ही दिखाई पड़ती है।

“देवो, मैं शुभा को किसी परम या चरम सत्य का माध्यम नहीं बना सकता। तुमने उस मोहन रूप को देखा ही नहीं। तुम मेरी बात कैसे समझ सकते हो? देखो मेरे ज्ञानी मित्र, मेरे ध्यान का एकमात्र लक्ष्य वही हो जाती है। उसके उस मोहन रूप के परे

1. पुनर्नवा, पृ० 110

2. उपरिवत्, पृ० 117

3. उपरिवत्, पृ० 124

में कुछ भी नहीं देख पाता। नहीं देख पाऊंगा, यह पक्का है।"¹

जाबाला रैव से प्रेम करने लगती है। उसके मन में बार-बार रैव की स्मृति आती है—

"उसे कहीं छिपने को कहकर वह घर लौट आयी। घर लौट आने पर भी मन चंचल ही बना रहा। कहा गया होगा वह? क्या सोचता होगा? दिव्य लोक के प्राणी के विछुड़ने पर क्या मानसिक अवस्था उसकी हुई होगी? रुचोट जाती नहीं, हृदय मसोस उठता है। हाय, विचारा बड़ा ही भोला है। कहता है, सब कुछ वायु से ही निकला है, उसी में विलीन हो जायेगा।"²

जैसे ही जाबाला को रैव के बारे में सूचना मिलती है, उसके हृदय में विरह-व्यथा तीव्र हो उठती है। वह अपना दुःख किसी से व्यक्त भी तो नहीं कर पाती—

"जाबाला कह नहीं पा रही है मगर उसके हृदय में भारी उपल-पुषल है। उस ऋषिकुमार ने अपना नाम रैव ही तो बताया था। वह तो जीवित अवश्य है पर कहां? हाय, उसने दूर जाकर छिप जाने को कह दिया और स्वयं चली आयी। भाकर क्या उसने उसे खोजा नहीं होगा? क्या वह विक्षिप्त की भांति 'शुभे-शुभे' कहकर घिस्लाया नहीं होगा? क्या बीती होगी उस भोले तापसकुमार पर? वह अपनी व्याधा किसी से कह नहीं रही थी। भीतर-ही-भीतर वह अपने ताप से आप ही जलने लगी।"³

जाबाला का विरह उसे इतना उत्सप्त करता है कि राजा उसे दण्ड समझकर बंधों की बुलाता है। बंधों को रोग का पता नहीं चल पाता। वह दिन पर दिन मूखती जाती है। उसकी स्वस्था करने के लिए आचार्य भी चिन्तित थे। वे जड़ी-बूटियों से लेकर मन्त्र-जप और यहां तक कि टोटकों का भी प्रयोग करते। अन्त में कोहलीयों के मनोदेवता की आराधना का आयोजन भी किया जाता है। कोहलीय नृत्य-नाटक के द्वारा मन्धर्व का उपासना करते थे। वस्तुतः यह उपासना कामदेव की ही थी।

पुरुष-सौन्दर्य और लालित्य

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने केवल नारी-सौन्दर्य का ही चित्रण नहीं किया है, अपितु पुरुष-सौन्दर्य को भी अंकित किया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आचार्य सुगतभद्र, अवधूत, अघोर भैरव, विरतिवज्र, तरुण तापस आदि का वर्णन मनोहारी है।

बाणभट्ट बौद्ध आचार्य सुगतभद्र से मिलने जाता है। वह आचार्यपाद को देखता है—"आचार्यपाद बहुत बृद्ध थे। उनका मस्तक मुण्डित था, परन्तु कानों के गह्वर में दो-चार मूकन केश फिर भी दिखाई देते थे और वे बता रहे थे कि वादंश्य ने आचार्य को किम प्रकार प्रभावित किया है। उनकी आंखें बहुत स्निग्ध और कर्णाम्बु थीं। उनकी वाणी

1. अनामदास का पोथा, पृ० 138

2. उपरिखत्, पृ० 36

3. उपरिखत्, पृ० 41

दृढ़ और मधुर थी।”¹

कुमार कृष्णवर्धन राज्य के महासन्धि-विग्रहक हैं। बाणभट्ट जब उनसे मिलने जाता है तो उनके सौन्दर्य को देखकर प्रभावित होता है :

“उनकी आँखें प्रेमरस से परिपूर्ण थीं, पर उनकी भ्रुकुटि में से आतंक धार रहा था। यद्यपि वे इस समय विहारोचित वेश में थे, परन्तु राजकीय गरिमा सहज ही उनके मुखमण्डल से प्रकट हो रही थी, जैसे अन्तर्मंदावस्थ कोई तरुण बजराम हो। यद्यपि उनके हाथ में उस समय कोई शस्त्र नहीं था, पर एक सहज तेज से वे वलयित थे और विपश्चर-वेष्टित बाल चन्दन-तरु के समान भीषण-मनोरम दिखायी दे रहे थे। अवस्था बहुत कम थी, पर मुखमण्डल पर अनाविल बुद्धि और द्रुत-विवेचना-शक्ति स्पष्ट दिखायी दे रही थी।”²

आचार्य द्विवेदी व्यक्ति के चरित्र के अनुसार ही उसके सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। महासन्धि-विग्रहक में आतंक, राजकीय गरिमा और तेज का चित्रण हुआ है। क्षत्रियों का वर्णन भीषण-मनोरम रूप में ही होता है। दूसरी ओर अवधूत अधोर भैरव का चित्रण बिल्कुल ही भिन्न प्रकार का है :

“वे व्याघ्र-चर्म पर अर्द्धशायित-अवस्था में बैठे हुए थे। उनके शरीर से एक प्रकार का तेज निकल रहा था। सिर पर केश नहीं के समान थे, पर कान की शङ्कुलियाँ श्वेत केशों से आच्छादित थीं। सनाट-मण्डल की सहज बलियाँ कूर्च प्रदेश तक व्याप्त हो गयी थीं। आँखों के ऊपर की दोनों भ्रू-लताएँ मिला गयी थीं और सारा मुख-मण्डल छोटे-छोटे मधु-सोमो से परिब्याप्त था। उनकी आँखें बहुत ही आकर्षक थीं। उन्हें देखकर बड़ी-बड़ी समुद्री कौटियों का भ्रम होता था। ऐसा जान पड़ता था कि वे आँखें पूरी-पूरी कभी खुली ही नहीं थीं। सदा आधी ही खुली रहने के कारण उनके नीचे मास-खण्ड फूल उठे थे और कानों में एक प्रकार की स्थायी सिकुड़न आ गयी थी। उनके वेश में कोई विशेष साम्प्रदायिक चिह्न नहीं था, केवल दाहिनी ओर रखा हुआ पात्र-पात्र देखकर अनुमान होता था कि वे कोई वाममार्थी अवधूत होंगे। उनके पहनावे में एक छोटा-सा वस्त्र-खण्ड था, जो लाल नहीं था और तन ढकने के लिए पर्याप्त तो किसी प्रकार नहीं था। उनकी तोड़ कुछ ज्यादा निकली दिखती थी, यद्यपि वह उतनी अधिक निकली हुई थी नहीं।”³

अवधूत का वर्णन करते हुए भी द्विवेदी जी का मन खूब रमा है। पुरुष-सौन्दर्य में भी द्विवेदी जी सक्षेप में वर्णन करने से तृप्त नहीं होते हैं। नारी-सौन्दर्य के समान उपमानी की झडी तो नहीं लगाते किन्तु चरित्र को स्पष्ट कर पाने में समर्थ होते हैं। विरतिवज्र के आकर्षक व्यक्तित्व का चित्रण इस प्रकार हुआ है—“विरतिवज्र की अवस्था पच्चीस के नीचे ही जान पड़ती थी। उनका मुखमण्डल स्वच्छ, मोहनीय और आकर्षक था। उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के समान चीवर धारण किया था, पर चीवर का रंग पीला न होकर लाल

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 55

2. उपरिक्त, पृ० 66

3. उपरिक्त, पृ० 75

था।¹ चक्र में बैठे हुए विरतिवज्र का रूप-वर्णन अधिक प्रभावकारी ढंग से हुआ है :

“अहा, कैसा कमनीय मुख है ! क्षण-भर के लिए लाल जीवर से लिपटे विरतिवज्र को देखकर मेरे मन में धूर्जटि की नयनाग्निशिखा में बलवित मदन देवता का स्मरण हो आया। अस्थान में वैराग्य का उदय हुआ है। विद्युल्लता में चन्द्रमण्डल उलझ गया है। सान्द्रप्रकिरणों में पुण्डरीक पुष्प फंस गया है। उप-कालीन आकाश-मण्डल में शुक्र ग्रह स्थिर हो गया है। मदन-शोक से व्याकुल वसन्त ने वैराग्य ग्रहण किया है।”²

विरतिवज्र के सौन्दर्य-वर्णन में विभिन्न उपमानों का चित्रण किया गया है। आचार्य द्विवेदी ने महाराजा के सौन्दर्य-वर्णन में तो विराट-ऐश्वर्य को ही प्रस्तुत कर दिया है—

“राजसभा में प्रवेश करके मैंने देखा कि महाराजाधिराज चन्द्रकान्त मणियों से बने हुए एक सुन्दर पर्यंक पर बैठे हुए इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे, जैसे वज्र के डर से पुञ्जित कुलपर्वणों के बीच में सुमेरु आसोन हो। नाना भाति के रत्नमय आभरणों की किरणों से उनका शरीर इस प्रकार अनुरञ्जित हो रहा था, मानो सहस्र-सहस्र इन्द्रधनुषों से आच्छादित व्योम मंडल में सरस अलधर सुशोभित हो रहा हो। उनके आसन पर्यंक के ऊपर एक पट्ट वस्त्र का श्वेत चन्द्रातप तना हुआ था, जिसमें बड़े-बड़े मुक्ताओं की झालरें सटक रही थीं। चारों कोनों में चार मणिमय दण्डों में सोने की शृङ्खला (जंजीरो) से यह चन्द्रातप बाध दिया गया था। सुवर्णदण्ड में बधे हुए चामर-कलाप झले जा रहे थे। एक स्फटिक मणि के गोल पाद पीठ पर महाराज वाम चरण रखे हुए थे। नीलमणि से बने हुए कुट्टिम से नीली ज्योति-रेखा निकलकर सभामण्डप को ईपत् नील वर्ण से रग-सी रही थी। महाराज अमृतफेन के समान शुभ्रवर्ण के दो टुकूल धारण किये हुए थे, जिनके आंचलों में गौरोचना से हंस के जोड़े आक दिये गये थे। अति सुगन्धित घवल चन्दन से उपलिप्त होने के कारण उनका विशाल वक्षस्थल श्वेत दिखायी दे रहा था। उस चन्दन के उपवेप के ऊपर कमल के आकार का कुकुम उपलिप्त था जिसे देखकर नवोदित सूर्य-किरणों से अन्तरालवर्ती कैलास पर्वत का भ्रम होता था। गजमुक्ताओं से बना एक हार राजाधिराज के वक्ष-स्थल को घेरकर विराजित हो रहा था। दोनो भुजमूलों में इन्द्रनील मणि द्वारा खचित केयूर बधे हुए थे, जो चन्दन की सुगन्धि से विच आये हुए बलवित भुजंग-से शोभित हो रहे थे। कानों के ईपदालम्बित उत्पला अत्यन्त मनोहर दिख रहे थे। अष्टमी के चांद के समान विशाल ललाट-पट्ट से दीप्ति निकल रही थी तथा शिरोदेश की बूडानिहित बकुल माला की सुगन्धि से राजसभा आमोदमग्न हो रही थी।”³

सुचरिता ने तरुण तापस के सौन्दर्य को जो वर्णन किया है, वह अनुपम है। तरुण तापस और विरतिवज्र में अभेद है। इससे पहले विरतिवज्र के सौन्दर्य का वर्णन बाणभट्ट के माध्यम से किया जा चुका है किन्तु वह एक पुरुष की दृष्टि से था। सुचरिता एक नारी

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 80

2. उपरिचत्, पृ० 81

3. उपरिचत्, पृ० 155

है, विरतिवध की पत्नी है किन्तु जिस समय उसने उसे देखा, वह इस तथ्य से अपरिचित थी। वह माणभट्ट को बताती है—

“शिव के तृतीय नेत्र की वह्नि-शिखा में अपने मित्र को भस्म होते देख वसन्त ने ही वैराग्य ग्रहण किया, या फिर महादेव के शिर-स्थित चन्द्र ने ही अपना मण्डल पूर्ण करने के लिए तपस्या करना शुरू किया है, या स्वयं कामदेवता ने शिव को प्रसन्न करने के उपरान्त अपने पाप के प्रायश्चित्त में यह कठोर चर्या आरम्भ की है। अत्यन्त तेजस्विता के कारण उस मुनिकुमार को देखकर ऐसा लग रहा था, मानो वे चंचल विद्युत्पुंज के भीतर विराजमान हों, या ग्रीष्मकालीन सूर्य-मण्डल के भीतर प्रविष्ट हो, या अग्नि-शिखा के मध्य शोभामय हो। प्रदीप के प्रकाश के समान विंगल वर्ण की घन-तरल देह-प्रभा द्वारा वे सम्पूर्ण तन को विंगलवर्ण की छटा से उद्भासित कर रहे थे। उनके दीर्घ नयनों को देखकर ऐसा लग रहा था कि वन के सभी हरिणों ने मिलकर उन्हें अपनी नयन-शोभा दान कर दी है। उनके केशविहीन मुण्डित मस्तक के नीचे वैराग्य के विजय-केतन के समान तीन आड़ी रेखाएं तरल देहछटा के भीतर से सहराती-सी दिख रही थी। उन्होंने लाल कौशेय वस्त्र का एक विचित्र चीवर धारण किया था, जिसे देखकर मुझे ऐसा लगा, मानो मलयौवन का राग हृदय में नहीं अँट सका है, इसीलिए वह वस्त्रों तक फूट आया है, उनके उत्तरोष्ठों पर ईपत् काली मसि-रेखा धीन रही थी, जो मुख-पद्म के मधु के लोभ से बँठी हुई भ्रमराबली की भाँति मन मोह रही थी। उनके एक हाथ में वृत्तसमन्वित बकुल-कल के आकार का कमण्डलु था और दूसरे में लाल-लाल छोटी-सी जयमाला थी, जो मदन-दाह के शोक से व्याकुल रतिदेवी के मन्दिर से उपलिप्त-सी दिख रही थी।”¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी विभिन्न सम्प्रदायों के योगियों का रूप-विधान प्रस्तुत करने में विशेष रूचि रखते हैं। ‘शरद-चन्द्रलेख’ में उन्होंने सीदी मौला, नागनाथ और गुरु गोरखनाथ का सौन्दर्य-वर्णन किया है। सीदी मौला मस्त फकीर है, इसलिए उनका वर्णन भी इसी प्रकार का है—

“इसके चेहरे पर केशों की दो लट्टें, कौड़ी-सी दो छोटी-छोटी आँखें और जरा-सी घपटी नाक के नीचे मूँछ के दस-पन्द्रह बाल थे। मुँह पर वह भस्म पोतता था, लेकिन लाल रेशम के मुन्दर चोगे से भी उसे परहेज नहीं था।”²

नागनाथ रानी चन्द्रलेखा का गुरु है। चन्द्रलेखा ने जब उसे देखा था, तभी से वह प्रभावित थी। वह राजा को बताती है कि “चन्द्रलेखा ने पहले-पहल देखा तो उसे भ्रम हुआ कि मदन-शोक से व्याकुल वसन्त ने वैराग्य तो नहीं धारण कर लिया? कौंसी अपूर्ण चाकता उनके अंग-अंग से छलक रही थी। ब्रह्मचर्य का समस्त तेज उनके भीतर पूँजीभूत हो गया था, वैराग्य की समस्त शान्ति उनमें घनीभूत हो गयी थी और ज्ञान की उज्ज्वल आभा से तो उनकी एक-एक शिरा उद्भासित थी। वह भस्मावृत तनुलता सजल

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 183

2. उपरिवत्, पृ० 294

जलधर में आबद्ध विद्युत्सत्ता की भांति दर्शक के हृदय में सम्भ्रम और औत्सुक्य जगा देती थी।”¹

गुरु गोरखनाथ का वर्णन अत्यन्त आकर्षक और मनोहारी है, “मानो अग्नि-शिखा से छानकर, मुक्ता-शलाकाओं से बांधकर, विद्युत-शिलाओं को धराद कर और सूर्यकान्त मणियों को गलाकर ही यह अपूर्व ज्योतिर्मण्डल तैयार किया गया है।”² गुरु गोरखनाथ के ध्यनितत्व से द्विवेदी जी इतने विभोर और अभिभूत हैं कि वे आगे कहते हैं कि—

“चन्द्रलेखा ने अपने को धन्य समझा, जो इस ब्रह्मचर्य के उत्स को, तपस्या के उद्गम को—तेज के आधार को और दर्प के मूर्तिमान विग्रह को देख सकी। उसे ऐसा लगा मानो विश्व ने ही मानव रूप धारण किया है, पार्वती के मनोरम हास्य ने ही मोहन-वेश में अवतार लिया है, गंगा की पवित्र तरंगों ने ही अचक्षुष शोभा धारण की है, महा-दुर्गा के तृप्त अवलोकन ने ही नवीन विग्रह धारण किया है। चन्द्रलेखा ने इस तपस्या के विग्रह को, तेज के भण्डार को, ब्रह्मचर्य के विजय के तन को, वैराग्य के मनोहर रूप को मन-ही-मन प्रणाम किया।”³

‘पुनर्नवा’ के आरम्भ में ही आचार्य देवरात के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। उपन्यासकार स्वयं अपनी ओर से कहता है, “उनके गौर शरीर, प्रयास ललाट, दीर्घ नेत्र, कपाट के समान वल्लःस्थल, आजानु विलम्बित बाहुओं को देखकर इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता था कि वे किसी उच्च कुल में उत्पन्न हुए हैं। उनके शरीर में पुरुषोचित तेज और शौर्य दमकता रहता था और मन में अद्भुत औदार्य और करुणा की भावना थी।”⁴

आचार्य द्विवेदी ने उपन्यास के नायक गोपाल आर्यक का चित्रण नापकोचित रूप में ही किया है। आचार्य देवरात के आश्रम से सीट जाने के पश्चात् तीन वर्ष बाद वे गोपाल आर्यक को देखते हैं तो उनका मन प्रफुल्लित हो उठता है—

“तीन वर्ष के भीतर आर्यक अब सिंह किशोर की भांति पराक्रमी दीख रहा था। उसकी चौड़ी छाती, विशाल बाहु और कसा हुआ शरीर बरबस आंखों को आकृष्ट करते थे। उसकी गति में अन्तर्मंदावस्थ भजराज की भांति मस्ती थी और आंखों में तरुण शार्दूल के समान अक्रुतोभय भाव लहरा रहे थे। उसके अंग-अंग में प्रच्छन्न तेज की दीप्ति दमक रही थी।”⁵

आचार्य द्विवेदी ने मादव्य और चन्द्रमौलि के सौन्दर्य का वर्णन क्रमशः किया है जिससे मादव्य तो हास्य का आलम्बन बन ही जाता है और चन्द्रमौलि की कोमल

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 344-345

2. उपरिवत्, पृ० 349

3. उपरिवत्, पृ० 378

4. पुनर्नवा, पृ० 9

5. उपरिवत्, पृ० 34

कमनीयता और भी अधिक बड़ जाती है। माडव्य शर्मा का वर्णन इस प्रकार है—

“उसके शरीर पर यज्ञोपवीत इस प्रकार दिखायी दे रहा था, जैसे किसी बबूल के पेड़ पर मालती की माला बाड़ी करके डाल दी गयी हो। उसके दाहिने कंधे पर एक पीला उत्तरीय था और कमर में पचकक्ष अधोवस्त्र बंधा हुआ था। एक हाथ में एक छोटी-सी पोतली थी जिसमें पत्ता नहीं क्या-क्या बंधा था। लेकिन गाँठों के बन्धन की उपेक्षा करके एक लाल रंग का कनटोप दूर से ही दिखायी दे जाता था। उसके हाथ में दाँस की एक साठी थी, जो ऊबड़-छाबड़ और टेढ़ी थी। जान पड़ता था कि रास्ता चलने में सहारा देना उसका मुख्य उद्देश्य नहीं था। उसके ललाट पर त्रिपुण्ड की धबल रेखाएं पसीने से बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गयी थीं। ऐसा जान पड़ता था कि अकाल-वृष्टि के कारण कोई मरुभूमि अचानक छोटे-छोटे नालों में सिक्का हो गयी है। उसके होंठ मोटे-मोटे और नाक चपटी थी। छोटी-छोटी आँखें बिस्वफल में चिपकायी हुई कौड़ियों की तरह आकर्षक दीख रही थी। सिर घुटा हुआ था, किन्तु पीछे की ओर एक मोटी-सी खोटी भी लटक रही थी। जब चलता था तो उसके पैर नाचने-से लगते थे।”¹

इसके साथ ही चन्द्रमौलि का वर्णन आरम्भ होता है। चन्द्रमौलि कामिदास का ही एक नाम है। उसका वर्णन करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि—

“उसके साथ चलने वाला व्यक्ति बहुत ही सौम्य प्रकृति का जान पड़ता था। उसका कद लम्बा था, शरीर गौर वर्ण था और पहनावे में कौशेय उत्तरीय और कौशेय अधोवस्त्र भी थे। इस आदमी को फूलों का शौक जान पड़ता था। शिखा में, गले में और बाहुमूल में उसने मालती की माला धारण कर रही थी। उसके हाथ में एक वेनयट्टि थी, जो किसी समय निश्चिन्त ही सुखचिपूर्ण रही होगी, परन्तु अब घृति-धू-र हो गयी थी।” उसका ललाट प्रशस्त था, आँखें हरिण की आँखों की तरह मनोहर थी, कान लम्बे और नाक किञ्चित् शुक-सुण्ड की तरह से आगे की ओर झुकी हुई थी। यद्यपि मार्ग की क्लान्ति के कारण उसके होंठ सूख गये थे, तथापि उनकी साल-साल कान्ति स्पष्ट ही उद्भासित हो रही थी। सारा मुखमण्डल आतप-म्लान कमल-मुष्प के समान आह्लाद और श्यामा दोनों ही प्रकट कर रहा था।”²

‘अनामदास का पोसा’ में पुरुष-सौन्दर्य का चित्रण नहीं हुआ है। कहीं-कहीं एकाध विशेषण प्रस्तुत करके ही काम चला लिया गया है। उसमें शान-धर्मा का ही अधिक अवसर था, इसलिए पुरुष-सौन्दर्य की उपेक्षा की गयी है।

आचार्य द्विवेदी ने सामंतीय युग के पुरुष का भव्य चित्रण किया है। राजा और साधु के सौन्दर्य-चित्रण में उनका मन विशेष रूप से रमा है। साधुओं के वर्णन में तो उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के साधुओं का वर्णन करते समय अपने हृदय को ही निकालकर रख दिया है। ‘माणमट्ट की आत्मकथा’ और ‘चारु-चन्द्रलेख’ में अनेक साधुओं का वर्णन प्राप्त होता है। ‘पुनर्नवा’ में सिद्ध बाबा एक चमत्कारी साधु हैं किन्तु उनका सौन्दर्य-वर्णन

1. पुनर्नवा, पृ० 95

2. उपरिबत्, पृ० 95

नहीं किया गया है। सम्भवतः 'चारुचन्द्रलेख' तक आते-जाते द्विवेदी जी अपनी विभोरता को पूर्ण अभिव्यक्ति दे चुके थे, इसलिए उन्होंने सौन्दर्य-वर्णन करने की आवश्यकता ही नहीं समझी। 'अनामदास का पोषा' में तो उनका संकोच और भी आगे बढ़ गया और पुरुष पात्रों की उपस्थिति होते हुए भी उनका सौन्दर्य अभिव्यक्त करने की आवश्यकता ही नहीं समझी गयी। सम्भवतः उपनिषद् काल का चित्रण होने के कारण ही ऐसा हुआ हो।

शीर्षक

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यासों का नामकरण करते समय इस तथ्य को विशेष रूप से ध्यान में रखा है कि वह उत्सुकता, कौतूहल जैसे तत्त्वों से युक्त हो। उनका प्रथम उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' है जिसमें यह भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास किया गया कि यह उपन्यास न होकर आत्मकथा है। उन्होंने यह कार्य अपनी रचना को प्रामाणिकता का भ्रम देने के लिए किया है। इस भ्रम को पुष्ट करने के लिए उन्होंने ब्राह्मिण्या के एक सम्प्रदाय परिवार की कन्या मिस कैथराइन की कथा 'कथामुख' में प्रस्तुत की है। यही स्थिति दूसरे उपन्यास की भी है। 'चारुचन्द्रलेख' में भी कथामुख दिया गया है। इसमें चन्द्र गृह में लिखे गये लेख को ही उन्होंने 'चारुचन्द्रलेख' की संज्ञा प्रदान की है। तृतीय उपन्यास 'पुनर्नवा' है। 'पुनर्नवा' में किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास नहीं हुआ है। 'पुनर्नवा' नाम ही कौतूहल-वर्द्धक है—अर्थात् जो पुनः-पुनः नवीन बना सके। इसकी सार्थकता सर्वप्रथम मंजूसा की उद्भावना से होती है जो आचार्य देवराज की पत्नी शर्मिष्ठा का ही प्रतिरूप प्रतीत होती है, इसलिए उसे देखकर आचार्य देवराज का बासो धाव ताजा हो जाता है। दूसरी ओर प्रमुख सार्थकता है निरन्तर व्यवस्थाओं के संस्कार और परिमार्जन की आवश्यकता की जिससे धर्म की स्थापना बनी रहे। परिस्थितियों के बदलने से भाव-लोक में नवीन संस्कार आते हैं और जो भाव-लोक में आ जाता है, एक दिन वह व्यवहार-लोक में भी आता है। यदि व्यवस्थाओं में संस्कार और परिमार्जन के द्वारा धर्म को नवीनता नहीं दी जायेगी तो एक दिन धर्म भी टूट जायेगा। इस प्रकार उपन्यास का नामकरण सार्थक हुआ। आचार्य द्विवेदी का चतुर्थ उपन्यास 'अनामदास का पोषा अथ रेवक आश्रम' में भी एक भूमिका दी गयी है जिसमें उपन्यासकार के एक मित्र जिसका नाम उपन्यासकार को ज्ञात नहीं है, उन्हें एक पोषा दे जाते हैं। नाम ज्ञान न होने के कारण उन्होंने उसे 'अनामदास का पोषा' की संज्ञा प्रदान की और रेवक मुनि की कथा होने के कारण उसे 'अथ रेवक आश्रम' कहा।

दस्तुनः आचार्य द्विवेदी के उपन्यासों के शीर्षक सार्थक, सटीक तथा कथानक से सम्बद्ध हैं। उनमें साहित्यिकता, नवीनता एवं आकर्षण के गुण विद्यमान हैं।

कथावस्तु के गठन में साहित्य-योजना

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कुल चार उपन्यासों की रचना की—'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946), 'चारुचन्द्रलेख' (1963), 'पुनर्नवा' (1973) तथा 'अनामदास'।

का पोथा' (1976)। उनके चारो उपन्यास ऐतिहासिक पौराणिक कथानकों पर आधारित हैं जिनकी कथावस्तु सुसंगठित है। प्रथम दो उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये हैं।

बाणभट्ट की आत्मकथा : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हर्षकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की रचना की। इसमें अधिकांश घटनाएँ काल्पनिक हैं किन्तु सामाजिक स्थिति का चित्रण ऐतिहासिक है। डॉ० रामदरश मिश्र की भी यही मान्यता है, "स्थान तो सभी ऐतिहासिक हैं किन्तु कार्य और घटनाएँ काल्पनिक हैं। घटनाएँ काल्पनिक होते हुए भी उस युग और समाज के अनुरूप हैं। लेखक ने तत्कालीन ग्रन्थों के आधार पर ही किसी स्थान, घटना या त्योहार का चित्र खींचा है।"¹

आचार्य द्विवेदी ने उपन्यास के आरंभ से पूर्व कथामूल में आस्ट्रिया के सम्भ्रान्त परिवार की मिस कैथरिइन को प्रस्तुत किया है, जिन्होंने उन्हें एक पाहुल्लिपि दी और बाद में प्रकाशित करने की अनुमति भी। उसी पाहुल्लिपि को उन्होंने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' कहा। यह ध्रम उपन्यास की प्रामाणिकता प्रस्तुत करने के लिए उत्पन्न किया गया।

प्रस्तुत उपन्यास की आधिपारिक कथावस्तु एक अपहृत नारी-नुवुरमिलिन्द की कन्या भट्टिनी को मुक्त कराने में सवधित है। मुख्य पात्र बाणभट्ट है। उसका जन्म वात्स्यायन वंश में हुआ था। बचपन में ही उसकी माता की मृत्यु हो गयी थी तथा जब वह 14 वर्ष की आयु का था तो पिता की मृत्यु हो गयी। वह जन्म का आचारा, गप्पी, अस्थिरचित्त तथा घुमवकड़ था। एक बार जब वह घर से भागा तो गाव के अन्य छोकरो को भी ले गया, इसलिए उसका नाम बण्ड (पूछ कटा बँल) पड़ गया। यह नाम इस पर ही पडा कि, "बण्ड आप-आप गये, साथ में नौ हाथ का पगहा भी लेते गये।" कभी वह नट बना, कभी पुतलियों का नाच दिखाने का कार्य किया, कभी नाटक-मण्डली का संचालन करता, कभी पुराणवाचक बनता और कभी ज्योतिषी बन जाता। बण्ड का संस्कृतीकरण कर उसने अपना नाम बाण कर लिया था।

एक बार जब वह स्याण्णीश्वर पहुँचा तो उसे ज्ञात हुआ कि महाराजाधिराज थी हर्षदेव के भाई कुमार कृष्णवर्द्धन के घर पुत्र का नामकरण संस्कार है। जब वह बघाई देने के उद्देश्य से राजमहल की ओर जा रहा था तो उसकी नाटक-मण्डली में कार्य करने वाली निउनिया जो पान की दुकान पर बैठी थी, ने उसे आवाज लगायी। वह उससे प्रेम करती थी और यह समझकर कि बाण उससे प्रेम नहीं करता है, वह भाग गयी थी। बाण ने उसके बाद ही नाटक-मण्डली तोड़ दी थी। छ. वर्ष के पश्चात् वह उससे मिली थी। वह उसे अपने घर ले जाकर प्रार्थना करती है कि देव-मंदिर के समान एक नारी मोक्षरि वंश के छोटे महाराज के घर अपनी इच्छा के विरुद्ध आवद्ध है, उसकी मुक्ति में उसे सहयोगी बनना चाहिए। बाणभट्ट अपनी स्वीकृति दे देता है और नारी-वेश में निउनिया के साथ राजग्रह में प्रवेश करता है। भट्टिनी की मुक्ति के पश्चात् उसे यह ज्ञान

होता है कि वह महासगर विजयी तुवुर मिलिन्द की कन्या है। बाणभट्ट सुगतभद्र नामक बौद्ध आचार्य के माध्यम से कुमार कृष्णवर्द्धन की सहायता प्राप्त करता है। भट्टिनी राजवंश का आश्रय नहीं चाहती, इसलिए कृष्णवर्द्धन एक नौका का प्रबन्ध करके दस मौखरि क्षत्रियों का रक्षार्थ प्रबन्ध कर देते हैं। नौका मगध की ओर चलती है।

चरणार्द्र दुर्ग से आगे निकलते ही आभीर सामन्त ईश्वरसेन के सैनिक नौका को घेर लेते हैं। भट्टिनी गंगा में कूद जाती है। उसे बचाने के लिए निउनिया और पुन. भट्ट भी कूद पड़ता है। वह भट्टिनी को तो बचा लेता है किन्तु निउनिया का पता नहीं चलता। भट्टिनी के आराध्यदेव महावराह की मूर्ति से भार बढ़ जाने के कारण उसे गंगा में ही समर्पित कर देता है। किनारे से हटकर शाल्मली वृक्ष के नीचे पहुँचने पर उसे महामाया मिलती है, भट्टिनी को वह उनके आश्रय में छोड़कर निउनिया को खोजने निकलता है। निउनिया के न मिलने पर वह वज्रतीर्थ के दर्शन करने जाता है जहाँ अघोर षण्ड और चण्डमडिनी उसे कराला देवी के समक्ष बलि बढ़ाने की तैयारी करते हैं। निउनिया बाधा पढ़ाकर उसके प्राणों की रक्षा करती है। महामाया उसे अवधूत अघोर भैरव के पास ले जाती है। वह तीन दिन तक अचेत रहता है।

भर्तृ शर्मा का यह पत्र सर्वत्र वितरित किया जाता है जिसमें तुवुरमिलिन्द की कन्या को खोजने की प्रार्थना की गयी है। भट्ट स्वाप्तीश्वर रवाना होता है। वहाँ उसे राजकवि के सम्मान से सम्मानित किया जाता है। भट्टिनी को स्वाप्तीश्वर बुलाया जाता है। भट्ट भट्टिनी और निउनिया को लेकर स्वाप्तीश्वर पढ़ता है तथा हर्ष द्वारा रचित 'रत्नावली' नाटिका का मंचन करता है। निउनिया वासवदत्ता की भूमिका में रत्नावली का हाथ बाण के हाथ में देकर मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। बाण को पुरूपपुर जाने का आदेश होता है।

प्रासंगिक कथाओं में महामाया की कथा प्रमुख है। महामाया को मौखरि-नरेश ने अपहृत कर उसके साथ विवाह किया था। महामाया का वाकदान अघोर भैरव के साथ हुआ था। अघोर भैरव घोर तपस्या करके बशीकरण करता है! राजा को यह ज्ञात होने पर कि महामाया को राजमहल में रोकना मौखरि वश के विनाश का कारण बनेगा, उसे मुक्ति दे दी जाती है। महामाया अवधूत अघोर भैरव की साधना की सगिनी बनती है। बाद में वे देश के मुवकों का उद्बोधन करती हैं।

दूसरी महत्वपूर्ण कथा सुचरिता की है। उसका विवाह बचपन में ही हो गया था। उसका पति सन्यासी हो गया। उसकी सास उसे बहुत अच्छे ढंग से रखती थी। एक बार वह एक सन्यासी के प्रति आकृष्ट हुई। उसकी सास ने बताया कि वही उसका पति है। साँ के आग्रह पर वह गुरु से अनुमति लेने जाता है। गुरु उसे अवधूत अघोर भैरव के पास भेज देता है। उसकी भक्ति-साधना के रूप को देखकर उसके विरट्ट मूठा-अभियोग सगाकर बन्दी बना लिया जाता है। महामाया के विद्रोह के कारण उसे मुक्त कर दिया जाता है।

प्रस्तुत उपन्यास अपने अन्त में अधूरा प्रतीत होता है। प्रत्येक आत्मकथा अधूरी ही होती है। उसमें पर्व, त्योहार आदि का वर्णन भी प्रचुर मात्रा में किया गया है, इसलिए

डॉ० गोपीनाथ तिवारी को यह दोष प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि 'आत्मकथा' की बड़ी निर्वलता है इसका कथानक। आत्मकथा में कहानी की गति तीव्र नहीं है। उपन्यास की यह विशेषता उसे उपन्यास नाम देती है। 'आत्मकथा' की वर्णन-प्रचुरता कहानी— "कामिनी का गला इधर-उधर दबोच बैठती है। पृष्ठ 131 से 134 तक चार पृष्ठों में समाज का ही वर्णन है। नृत्य का अवसर आया तो कहानी लगडाकर बैठ गयी। द्विवेदीजी का मन कथा से अधिक वर्णनों पर आसक्त है। ठीक भी है। द्विवेदीजी कहानीकार हैं भी नहीं, इस कारण जहाँ भी वर्णन का अवसर प्राप्त हुआ है वे जमकर बैठ जाते हैं।"¹ यही आरोप कथा की अपूर्णता पर डॉ० देबराज ने लगाया, "कथा अपूर्ण रह जाती है, अपनी परिणति की ओर नहीं बढ़ पाती, इसका एक कारण लेखक का अनावश्यक नैतिक संग्रह अथवा साहित्यिक साहसहीनता है।"²

वस्तुतः आचार्य द्विवेदी ने हर्षकालीन भारतीय सस्कृति का प्रामाणिक दस्तावेज प्रस्तुत करने के लिए, प्रामाणिकता की अभिव्यक्ति और साहित्य-विधान के कारण 'आत्मकथा' को अधूरा छोड़ा तथा उसमें पर्व, त्योहार, नृत्यदि का प्रचुर वर्णन किया। तत्कालीन भक्ति, उपासना, तंत्र आदि का प्रस्तुतीकरण भी इसी कारण से हुआ है। इसलिए उसे दोष मानना हमें उचित प्रतीत नहीं होता। हमें तो डॉ० लक्ष्मीसागर वाष्ण्य का यह मत ही उचित प्रतीत होता है कि, "बाणभट्ट की आत्मकथा में एक ओर सामन्ती भूल्यों की अस्वीकृति है, तो दूसरी ओर सामान्य मानवीय विशिष्टताओं की प्रतिष्ठापना। धार्मिक सहिष्णुता, समानता एवं नारी की गौरवपूर्ण मर्यादा जहाँ स्थापित करने की चेष्टा हुई है, वहीं मानव सहृदयता एवं सवेदना का विराट अंकन भी। इसमें जहाँ मध्यकालीन सांस्कृतिक परम्पराओं को स्थापित किया गया, वहीं उसका सामंजस्य आधुनिकता के बोध में भी बिठाया गया है और यही इस उपन्यास की महत्ता है।"³ डॉ० जगदीश गुप्त ने भी उसे वास्तविक सौन्दर्य की सजा प्रदान की है—

"उसका वास्तविक सौन्दर्य कथा की सत्यता प्रमाणित करने के साहित्यिक बल और कथानक के प्रति लेखक की आत्मीयता में निहित है।"⁴

वस्तुतः 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की वस्तु का साहित्य उसके रूमाणी और क्लासिक होने में है। इसका पैटर्न काव्यात्मक ही कहा जा सकता है। डॉ० बक्षन सिंह ने इसे क्लासिकल रोमांटिक उपन्यास मानते हुए कहा कि "अपने अश चित्रण-वर्णन-शिल्प शैली में यह क्लासिकल है और प्राणगत उष्मा में रोमांटिक। ये दोनों तत्त्व एक-दूसरे से मिलकर एक अविभाज्य टेक्सचर बन जाते हैं। इस क्लासिकल विन्यास में अपेक्षित रोमांटिक सूत्रों की कमी नहीं है और रोमांटिक आवेग को क्लासिकल समय बाधे हुए है। क्लासिक में एक ओर औदात्य होता है तो दूसरी ओर जहना। औदात्य तत्त्व

1. ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार, पृ० 106

2. आधुनिक समीक्षा, पृ० 144

3. हिन्दी उपन्यास : उपलब्धिया, पृ० 54

4. आलोचना (उपन्यास अंक), पृ० 179

को लेते हुए रोमांस के सन्निवेश द्वारा जड़त्व का लेखक ने सहज ही परिहार कर लिया है। एक जड़त्व जीवन और परिवेश के स्तर पर भी है। लेखक उस पर गहरा प्रहार करता है और समस्त उपन्यास में स्पन्द चेतना का नवोन्मेष फूट पड़ता है।¹

यह क्लासिकल रोमैटिक भाव ही इसे काव्यात्मक बनाने में सक्षम है। इसमें जड़त्व पर प्रहार कर स्पन्द चेतना को उभारा गया है। "इस स्पन्द चेतना को जिस काव्यात्मक पैटर्न पर प्रस्तुत किया गया है वह अद्वितीय है। यह अद्वितीय वस्तु रूप दोनों में है क्योंकि जो वस्तु है वही रूप है, जो व्यक्ति है वही परिवेश है। इस प्रकार की अवयवगत सम्पूर्णता काव्य में ही सम्भव है। इसीलिए इसके पैटर्न को मैंने काव्यात्मक कहा है। काव्य का अनुवाद नहीं हो सकता, इसीलिए 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का भी अनुवाद नहीं हो सकता। इसके एक तार को छू देने पर समस्त तार एक साथ झंकृत हो उठते हैं। झंकृति ही स्पन्द चेतना है।"²

चार चन्द्रलेख—'चार चन्द्रलेख' में मध्ययुग के तंत्र-भंज, सिद्धि आदि के घातावरण के मध्य तत्कालीन राजनैतिक स्थिति का चित्रण किया गया है। तांत्रिक साधनाओं का मनोवैज्ञानिक विवेचन करने का प्रयास किया गया है। कुछ का विवेचन आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी किया गया है, इसलिए यह कहना उचित ही है कि 'चार चन्द्रलेख' भावात्मक इतिहास के कथ्यात्मक अथवा वैज्ञानिक सृजनात्मक पुनरवलोकन की दृष्टि से विरल प्रयास है।³

'चार चन्द्रलेख' की कथा की बत्तीस उच्छ्वासों में विभक्त किया गया है। एक धुइसवार राजा जिसे चन्द्रलेखा सातवाहन की सजा से अभिसिक्त करती है, इसका नायक है। राजा को एक मृग का शिकार करते समय वह ग्रामीण बालिका मिलती है। ग्रामीण बालिका के हाथ में एक थाल है जिसमें एक युवा योगी नागनाथ के लिए भोजन है। वह राजा से उस योगी को ढूँढ़ने की प्रार्थना करती है। साथ ही वह रानी बनने का प्रस्ताव भी रखती है किन्तु स्वतन्त्रता की एक शर्त भी स्वीकार करा लेती है। बाद में वह राजा को बताती है कि एक ज्योतिषी ने बताया था कि वह रानी बनेगी। वह राजा से यह भी कहती है कि उसने उसे रानी बनाकर जोखिम उठाया है। बत्तीस लक्षणों से युक्त रानी को देखकर विद्याधर प्रसन्न हो जाते हैं।

सीमा पर शत्रुओं के आक्रमण की सूचना मिलती है। रानी जनता का उद्बोधन करती है जिससे दिल्ली के मुलतान के सेनापति लौट जाते हैं। उसी समय नागनाथ को पता चलता है कि पार्वनाथ के पादमूल में बैठकर पारा और अन्नक घोटकर कोटिवेधी रस की प्राप्ति हो सकती है। इस कार्य के लिए वह बत्तीस लक्षणों से युक्त रानी चन्द्रलेखा की सहायता मागता है। संसार के दुःख, शोक, रोग आदि को दूर करने के लिए रानी

1. शातिनिकेतन से शिवात्मिक, पृ० 268

2. उपरिवत्, पृ० 268

3. बाबूलाल आच्छा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास : इतिहास—
संक्षिप्त अध्याय, पृ० 76

चन्द्रलेखा राजा से अनुमति ले लेती है। रसमर्दन के आरम्भ में कुछ बाधाएं आती हैं किन्तु उसके गुरु द्वारा वे मिटा दी जाती हैं। जैसे ही रस सिद्ध होता है उसके दोनों पुत्र आकर एक कुश की लकड़ी से नागनाथ के मस्तक पर प्रहार करते हैं। नागनाथ वहीं डेर हो गये। उसके पुत्रों के पीछे सेठ आभड़ या और उसके पीछे अनेक सशस्त्र सैनिक थे। वह कूदकर नागनाथ के शव को अपनी भुजाओं में भर लेती हैं। एक क्षण को वह सोचती है कि यदि वह उड़ सकती तो नागनाथ के शव को लेकर उड़ जाती। तत्काल ही जान जाती है कि उसमें उड़ने की शक्ति आ गयी है। आभड़ पारश्वनाथ की वेदी पर पहुंचता है। उड़ते हुए रानी देखती है कि पारश्वनाथ की मूर्ति अठारह हाथ नीचे धस गयी और उसी के साथ कोटिवेद्यो रस भी विलुप्त हो गया।

दूसरी ओर धीरशर्मा यह समाचार बताता है कि उसके भग्न स्वर्ग सिंघार गये हैं तथा दिल्ली के सुलतान की सेना गोपाद्रि के निकट निरीह जनता को प्रताड़ित कर रही है। उसी ओर यह समाचार भी मिलता है कि घुडकेश्वर ने ही नागनाथ की हत्या की है। राजा मैनसिंह से प्राप्त रानी के पत्र को पढ़कर इतना व्याकुल होता है कि अचेत हो जाता है। वह रानी से मिलने के लिए मैनसिंह के साथ पैदल ही नाटी माता के पास जाता है। राजा-रानी की बातें छिपकर सुनता है और उसे पता चल जाता है कि मैनसिंह मीना ही है। उसी समय घुडकेश्वर की सेना राजा और रानी को पकड़ने के लिए आक्रमण कर देती है। मीना अपनी सेना को बुलाकर पहाड़ों से पर्यटन-वर्षा कराती है। इस युद्ध में रानी भी भाग लेती है।

राजा को पता चलता है कि उसके दोनों भतीजों को तो घुडकेश्वर के जाल से बचा लिया गया है किन्तु बृद्ध धीरशर्मा का कुछ पता नहीं चल रहा है। मीना राजा से कहती है कि सीधे दिल्ली पर ही आक्रमण कर दिया जाए। उसी समय सीदी मौला को गुप्तचर समझकर पकड़े जाने का समाचार मिलता है। राजा सीदी मौला को ससम्मान बुलाकर उनसे बात करते हैं। सीदी मौला बताता है कि घुडकेश्वर ने उसे मृत समझकर फेंक दिया किन्तु धीरशर्मा की बलि दी जाने वाली है। मैनसिंह आकर कहता है कि निठल्ले और बकबादी सिद्धों के बचकर मे पकड़ने की आवश्यकता नहीं है। धीरशर्मा को वह मुक्त कराने की जिम्मेदारी लेता है तथा राजा से राष्ट्र-रक्षा के लिए सब कुछ होम देने की प्रेरक बात कहता है। सीदी मौला की दशा तो विचित्र ही हो जाती है।

राजा नाना गोसाईं के मठ की ओर जाता है। तीन सैनिक नाना गोसाईं को कंधे पर से आते हैं। राजा अलहना के साथ रात को जंगल में भटक जाता है। राजा खड्ड के पास पहुंचकर रुक जाता है। ऊपर मीना के साथी राजा सातवाहन की जय बोलते हुए जाते हैं तो अलहना चित्लाकर उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है। ऊपर से मैनसिंह राजा को देखकर पहाड़ी से उतरता है तो अचानक वह गिर पड़ता है। राजा उसे गिरते देखकर स्वयं भी छानाग लगा देता है। मैनसिंह रस्मी कं सहारे से राजा को निकालकर लाता है। मीना ने धीरशर्मा को छुड़ा लिया है किन्तु घायल हो गयी है।

भगवती किष्णु प्रिया के आश्रम में राजा रानी से मिलने जाता है। भगवती रानी से कहती है कि उसी के तप से राजा सातवाहन को विजय होगी। उसी समय उन पर

आक्रमण होता है। घायल मैना दरबाजा तोड़कर निकल आती है। वह जलती हुई पगड़ी, वास और सरकण्डे शत्रु पर फेंककर शत्रुओं को भगा देती है। राजा सज्ञाशून्य हो जाता है और रानी का पता नहीं चलता। घुड़कों में फूट डलवा दी जाती है। राजा के स्वास्थ्य के लिए भैरव-पूजा की जाती है। बलि के लिए मैनसिंह अपना नाम दे देता है। नाटी माता इस पूजा को रुकवा देती है। वे कहती हैं कि राष्ट्र के लिए सच्चे बलिदान का समय आ रहा है। भदन्त अमोघवज्र कहते हैं कि सिद्धियों के पीछे पागल लोगो ने देश को निस्तेज कर दिया है।

राजा एक महीने से पूर्व दिशा की ओर बढ़ता है। राजा अमोघवज्र के कहने पर अशोक चल्ल के साथ ब्यूह-रचना करने जाता है जिससे उत्तर की ओर से आक्रमण किया जा सके। अशोक चल्ल शृंगालियों के माध्यम से मा भगवती का आदेश पाकर ही सहायता देना चाहता है। बीच में ही शृंगालिया भग जाती हैं। अशोक चल्ल निराश हो जाता है। अक्षोभ्य भैरव आविष्ट होकर कहता है कि वह लोभ और मोह छोड़कर अपना सब कुछ राजा सातवाहन को भेंट कर दे।

यहां आकर एक नया प्रसंग जुड़ जाता है—किसी सुर्क सेनापति के जाल से भद्रकाली भैरवी के उद्धार करने के वचन सम्बन्धी। मैनसिंह सुसतान के विकट जठर से शाह के परिवार को निकाल लाता है किन्तु जैसे ही पता चलता है कि शाह की पत्नी ही अक्षोभ्य भैरव द्वारा बतायी भद्रकाली भैरवी है, मैनसिंह शाह की हत्या कर देता है। मैना को जैसे ही पता चलता है कि उससे कुछ अनुचित हो गया, वह अपने भाले को स्वयं ही मार लेती है। उसी समय रानी चन्द्रलेखा वहां आकर बिल्लाती है—बचाओ।

‘चार चन्द्रलेख’ में अनेक प्रासंगिक कथाएँ हैं। चन्द्रवरदा के पुत्र जल्हण की कथा इसी प्रकार की है। जल्हण के माध्यम से पृथ्वीराज के विषय में ज्ञात होता है। दूसरी कथा सूहव देवी की है जो राजा जयचन्द की पत्नी बनती है और मुहम्मद गोरी को आमंत्रित करके काग्यकुब्ज पर आक्रमण कराती है। सीदी मौला, घुडकेश्वर आदि की कथाएँ भी प्रासंगिक कथाएँ हैं।

पूरे उपन्यास में सिद्धि की साधनाओं और युद्धों का ही चित्रण है किन्तु न तो साधनाओं का ही विस्तृत विवेचन हो पाया है और न युद्धों का ही।¹ “महापण्डित राहुल सास्त्रकृत्यायन ने मध्ययुग को सिद्ध सामन्त युग कहा है। उपन्यास ने मध्ययुग की इन दो विशेषताओं के आधार पर व्यापक आयामों में चार चन्द्रलेख को लोक-रचना का परिवेश दिया है।”²

प्रस्तुत उपन्यास में स्वयं उपन्यासकार ने राजा सातवाहन, बत्तीस लक्षणों से युक्त रानी चन्द्रकला तथा उसकी सखी मैना को प्रतीकात्मकता देने का प्रयास किया है।

1. बाबूलाल आच्छा, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास : इतिहास के दो सन्निभ अध्याय, पृ० 103-104

2. डॉ० उमा मिश्रा, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास साहित्य : एक अनु-शीलन, पृ० 150

वे तीनों इच्छा, ज्ञान और क्रिया के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। कई स्थानों पर इस प्रकार के संकेत प्राप्त होते हैं। उपन्यासकार पच्चीसवें परिच्छेद में कहता है कि—

“असोधवज्र ने कहा था कि इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति के इंगित पर चलते रहने के कारण जीवनमाया के ‘पाश’ में बंध जाता है, उसकी ‘स्व’-तन्मयता जाती रहती है।”¹

स्वयं राजा रानी और मैना को लेकर द्वन्द्व की स्थिति में पढ़व जाता है और विचार करते हुए कहता है कि—

“रानी और मैना। मेरी चेतना के दो पार्श्व हैं। रानी मेरी इच्छा का प्रतीक है, जैसे एक निरन्तर प्रवहमान अप्रतिहत गति-मात्र हो। गन्त दिशा में गयी तो गलती ही की और दुर्वार वेग में बढ़ती गयी, कुण्ठित हुई तो दुर्वार वेग से ही कुण्ठोन्मुखी बनी रही, मानो इस कुण्ठा का कोई ओर-छोर नहीं, प्रेमाप्युत हुई तो इतनी निमग्न हुई कि कहीं अपनी सत्ता का ध्यान ही नहीं। उन्होंने कहा था, ‘राजन् आधी की तरह बहो, बिजली की तरह कड़को, मेघ की तरह बरसो।’ हाय, मैं क्या समझता था कि उन्होंने उपदेश के बहाने अपना रूप ही समझा दिया है। वे आधी की तरह ही बहो, बिजली की तरह ही कड़की, बादल की तरह ही बरसो। रानी मेरी चेतना का केवल गतिशील पार्श्व है—इच्छा मात्र।”

“और मैना? बहुत सोचकर मैं देख रहा हूँ, मैना मेरी चेतना के उस पार्श्व का प्रतिनिधित्व करती है, जो केवल क्रिया-मात्र है। इच्छा बार-बार उससे टकराती है, झुकती है, मुड़ती है, प्रतिहत होती है, रूपायित होती है। इच्छा गति-मात्र है, क्रिया स्थिति-मात्र है। इच्छा और क्रिया के अनवरत आघात-प्रत्याघात से जो तरंगमाला विकिरित हो रही है, वही मेरा इतिहास है, मेरा जीवन है, मेरा ससार है। मैं जाता हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं साक्षी हूँ।”²

प्रस्तुत उपन्यास में इच्छा, ज्ञान और क्रिया-मेधा त्रिधा विभक्त शक्ति के तीन आद्य रूप एक-दूसरे से विच्छिन्न रहते हैं, समुक्त नहीं हो पाते।³ तथ्य समूह और पांडित्य की दृष्टि से इसका कथानक अत्यन्त समृद्ध कहा जा सकता है।⁴ डॉ० मन्मथ लाल शर्मा के शब्दों में, “इस उपन्यास में भारतीय चेतना तथा प्राचीन संस्कृति का एक दस्तावेज सुरक्षित है।”⁵ डूमरी और डॉ० उमा मिश्रा का मत है कि “इस प्रतीकात्मक रूप की कोई स्पष्ट उपलब्धि उपन्यास में नहीं दिखाई देती। मानवीय अनुभूति का अभाव खटकता है। कथा का प्रत्येक तत्व अपने स्थान से कुछ हटा हुआ है। कथा के चित्र बहुत

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-1, पृ० 513

2. उपरिचरित, पृ० 478

3. सं० शिवप्रसाद सिंह, शांतिनिकेतन से शिवालयिक, पृ० 290

4. उपरिचरित, पृ० 347

3. हिन्दी उपन्यास - सिद्धान्त और समीक्षा, पृ० 378

घुघले और अस्पष्ट से है।¹ इस सन्दर्भ में हमारा मत है कि डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जिस युग की अभिव्यक्ति कर रहे थे, वह युग निराशा का युग था तथा वैयक्तिक सिद्धियों के प्रति ही आकर्षण था, इसलिए इच्छा, ज्ञान और श्रिया के समन्वित रूप को प्रस्तुत करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस दृष्टि से विगृह्यलित होते हुए भी उपन्यास अपने कथ्य की अभिव्यक्ति में सफल रहा है।

पुनर्नवा को कथावस्तु—‘पुनर्नवा’ कथा-रस से परिपूर्ण एक सफल उपन्यास है। ‘पुनर्नवा’ तक आते-आते द्विवेदी जी वस्तु-समष्टन में अत्यन्त कुशल हो गये थे। आधिकारिक कथावस्तु और प्रासंगिक कथाओं के संयोजन में जो कुशलता प्रस्तुत उपन्यास में देखने को मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कथा में कलात्मकता के साथ-साथ कौतूहल, मनोवैज्ञानिकता तथा युगीन यथार्थ का चित्रण उसे महान् उपन्यास की श्रेणी में पहुँचा देता है। स्वयं आचार्य द्विवेदी ने व्योमकेश शास्त्री के नाम से भीष्म साहनी को जो पत्र लिखा, उससे यह ज्ञात होता है कि वे भी इस प्रयोग को सफल मानते थे—

“आप मेरे सम्बन्ध में कहा करते हैं कि मैं आलोचक हूँ, सहृदय नहीं। फिर भी मुझे यह साहित्यिक प्रयोग रूपा है, जो सहृदयों को लक्ष्य करने लिखा गया है, वह अच्छा लगा है। मुझे ऐसा लगता है कि आजकल के आधुनिक कथाकार यह भूल ही जाते हैं कि कथा में साहित्य रस का होना आवश्यक है। मुझे खुशी है कि आप नहीं भूले हैं।”²

वस्तुतः हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत उपन्यास अपने जन्म-स्थान को आधार बनाकर लिखा है। स्वयं द्विवेदी जी ने यह स्वीकार किया है—

“मैं जानता हूँ कि ‘पुनर्नवा’ के पात्र वास्तविक जीवन से लिये गये हैं। वह पूरा परिवेश आपका अत्यन्त परिचित और आत्मीय है जिसमें कथा को जड़ा गया है। हलदीप आधुनिक हल्दीप हैं; द्वीपखण्ड, दुवहृद है, ध्ववन भूमि जाप ही है, यह तो लोग अन्दाज से समझ भी सकते हैं, परन्तु द्वीपखण्ड का सरस्वती विहार जो आपकी जन्मभूमि है यह कम लोग समझ पायेंगे। मैं आपका अत्यन्त निकट आत्मीय होने के कारण चन्द्रा और सुमेरू काका को पहचानता हूँ। श्यामरूप और गोपाल आर्यक को बहुत अच्छी तरह जानता हूँ और आर्य देवरात भी मेरे जाने हुए हैं। इन चरित्रों में जो-जो सामान्य स्तर से अधिक उत्कर्ष आपने दिखाया है वह भी यथार्थ पर आश्रित है, ऐसा मेरा विश्वास है, परन्तु इन जाने-माने गावों के चरित्रों को आपने जो गरिमा दी है, वह आपका विशिष्ट अवदान है, किसी दूसरे के हाथ में पड़ने पर ये कदाचित् और तरह के हो जाते। हर लेखक का अपना व्यक्तित्व और संस्कार होता है और वह उसके पात्रों में प्रतिफलित होता है, परन्तु विश्वास मानिए कि ये चरित्र आज भी जीवन्त हैं। इस क्षेत्र के देहातो में घूमते समय मैंने पाया है कि ये चरित्र केवल पुस्तक तक सीमित नहीं हैं, प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं, बात करते हैं और प्रच्छन्न भाव से सहृदयों को आमन्त्रित करते हैं कि “मुझे पहचानो, मुझे

1. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास साहित्य : एक अनुशीलन, पृ० 149
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-II, पृ० 426

उजागर करो।”¹

वस्तुतः आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ‘कालिदास की साहित्य योजना’ लिखने के पश्चात् कालिदास को आधार बनाकर एक उपन्यास की रचना करना चाहते थे। ‘पुनर्नवा’ की रचना का आरम्भ करते समय उनके मस्तिष्क में यही था किन्तु इस उपन्यास में चन्द्रमौलि कालिदास के रूप में उपस्थित अवश्य हुआ किन्तु नायक के रूप में नहीं। व्योमकेश शास्त्री के नाम द्वारा स्वयं द्विवेदी जो बहते हैं कि—

“मैं इस आशा से लिख रहा हूँ कि आप इतिहास रस की रक्षा करने में समर्थ होकर भी अनावश्यक द्विविधाओं के शिकार न हों। बस ‘पुनर्नवा’ कथानक की दृष्टि से मुझे बहुत शिथिल नहीं जान पड़ती। शिथिलता इसकी इस बात में है कि इसका आरंभ कालिदास के भावों को उजागर करने के उद्देश्य से हुआ था। ‘पुनर्नवा’ नाम भी कालिदास के एक श्लोक से प्रेरणा ग्रहण करके लिया गया था। इसकी तर्कसम्मत परिणति कालिदास के भावों को और स्पष्ट करने में होती।”²

आचार्य द्विवेदी ने प्रस्तुत उपन्यास चौथी शताब्दी में समुद्रगुप्त के काल को आधार बनाकर लिखा है। इसके प्रेरणा-स्रोत जहाँ उनकी स्वयं जन्मभूमि है, वहीं सत्कृत का शूद्रक रचित नाटक ‘मूच्छकटिक’, लोक कथाएँ—‘सौरिक-चन्दा’, ‘मैना मा जर्देई’, तथा ‘सहुरावीर’ सम्बन्धी, कुछ किम्बदन्तियाँ एवं कालिदास के ग्रन्थ हैं। आचार्य द्विवेदी ने ‘मूच्छकटिक’ के गोपाल आर्यक और शाबिलक को सौरिक और सावरु (श्यामरूप) बना दिया है। गोपाल आर्यक नाम बिगड़कर सौरिक कैसे बन गया, इसको विस्तार से स्वयं उपन्यासकार ने ‘पुनर्नवा’ में ही समझाया है—

पहले व्यक्ति ने जरा आश्वस्त मुद्रा में पूछा, “यह ग्वालारिक कौन है महाराज ?” टिगने ब्राह्मण ने डाटा, “तू मूर्ख ही रह गया रे भीमा, गोपाल आर्यक भी नहीं बोल सकता ?” उसने विनीत भाव से कहा, “हम लोग तुम्हारे सपान सासतर थोड़े ही पढ़े हैं पण्डित जी, ठीक-ठीक बोल पाते तो हम भी तुम्हारी तरह पुजवाते न फिरते ? तुमने जो नाम बताया वह, क्या कहा—गोवाल आरिक, बडा बठिन नाम है।” “ग्वालारिक जैसा ही तो सुनायी पडता है देवता।” एक और व्यक्ति ने बीच में पड़कर कहा, “इस बिचारे को क्यों डाटते हो देवता वह तो बहुत दूर तक ठीक-ठीक ही उच्चारण कर रहा है, उधर मपुरा में तो लोगो ने और भी संशेप कर लिया है। वे अपने गीतो में ग्वालारिक भी मही कहते। वह दैते हैं—‘स्वारिक’ या लोरिक”।³

इस प्रकार हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने गोपाल आर्यक की सौरिक तक की यात्रा को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। गोपाल आर्यक, गोवाल आरिक, ग्वालारिक, स्वारिक, लोरिक। इसी प्रकार शाबिलक सावरु बना दिया, यद्यपि उसे उन्होंने छबीला पण्डित का सत्कृतीकरण कहा है।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 426-427

2. उपरिखत्, पृ० 427-428

3. पुनर्नवा, पृ० 141

प्रस्तुत उपन्यास की आधिकारिक कथावस्तु गोपाल आर्यक, मृणाल मजरी और चन्द्रा की है। देवरात-मंजुला, श्यामरूप-मादी, चन्द्रमौलि-मादव्य, चारदत्त-धृता-वसंत-सेना, समुद्रगुप्त आदि आदि की कथाएं प्रासंगिक कथाएं हैं। कथा के तीन केन्द्र-स्थल हैं। (1) हलद्वीप, (2) मथुरा और (3) उज्जयिनी।

(1) हलद्वीप की कथा : हलद्वीप की कथा में आचार्य देवरात और मंजुला की कथा प्रमुखता पाती है। आचार्य देवरात योधेय राजकुमार थे। उनकी सौतेली माता ने उनके युद्ध के समय यह बात प्रचारित करा दी कि युद्ध में देवरात की मृत्यु हो गयी है। देवरात की पत्नी शर्मिष्ठा सती हो गयी। युद्ध से वापस लौटकर आने पर जब उन्हें इस तथ्य का पता चला तो वे सन्यासी हो गये। हलद्वीप में गणिका मंजुला का रूप शर्मिष्ठा से मिलता था, इसलिए वे बड़ी रुक गये। उन्होंने एक आश्रम बना लिया जिसमें वे श्यवन-भूमि के चौधरी बृद्धगोप के पुत्र गोपाल आर्यक और पालित पुत्र श्याम रूप को पढ़ाने लगे। मंजुला बेचक के प्रकोप से स्वर्गवासी हो गयी किन्तु अपनी पुत्री मृणाल मजरी को आचार्य देवरात को सौंप गयी। आचार्य देवरात ने उसे पाला-पोसा और अच्छी शिक्षा-दीक्षा दी। श्यामरूप ब्राह्मण-पुत्र था, इसलिए उसे पढ़ने को क्षिप्तेश्वर महादेव की पाठशाला में भेज दिया गया किन्तु श्यामरूप वहाँ से भाग गया। गोपाल आर्यक श्यामरूप को खोजने के लिए भागा किन्तु उसका पता चल गया। उस दिन से गोपाल आर्यक का आश्रम से सम्बन्ध टूट गया। आचार्य देवरात ने मृणाल मजरी का विवाह गोपाल आर्यक के साथ करने का प्रयास किया किन्तु सफलता नहीं मिली। नए राजा के भोग-विलास में लीन रहने के कारण सामाजिक सुरक्षा समाप्त हो गयी थी। चन्दनक के कुवाच्य और कुपत्र के आधार पर मृणाल मजरी सिंहावाहिनी बनकर पुरुष सिंह गोपाल आर्यक को आश्रम में बुलाती है। गोपाल आर्यक सुरक्षा के कारण मृणाल मजरी को अपने साथ ले जाना चाहता है किन्तु आचार्य देवरात बिना विवाह के उसे साथ भेजने को तैयार नहीं होते। इस बार उन्हें सफलता मिलती है और मृणाल मजरी का विवाह गोपाल आर्यक के साथ हो जाता है। गोपाल आर्यक के भाग जाने के पश्चात् चन्द्रा मृणाल मजरी के साथ आकर रहने लगती है। बाबा के कहने पर वे गोपाल आर्यक को खोजने जाती हैं और मथुरा में आगे नहीं जाना चाहती। वे बटेश्वर महादेव पर ही रुक जाती हैं।

(2) मथुरा की कथा : मथुरा की कथा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध श्यामरूप उर्फ छवीला पण्डित उर्फ शाबिलक से है। श्यामरूप हलद्वीप से भागकर नदों की एक मय्यावर मण्डली में सम्मिश्रित हो जाता है। चौधरी अम्बल एक कुशल मल्ल था। उसने उसे मल्ल-विद्या के साथ नट-विद्या की भी शिक्षा दी। स्नेह और सम्मान के रूप में वह उसे छवीला पण्डित कहने लगा। अपने गुरु के कहने पर उसने मद्रदेश के अजबुक पहलवान को मल्लयुद्ध में पछाड़ दिया। उस घटना के साथ ही एक अन्य घटना भी घटी। नट-मण्डली में एक ब्राह्मण-कन्या मादी के प्रति उसका अभिलाष भाव जाग गया किन्तु चौधरन ने उसे बेच दिया। छवीला पण्डित को पता चला कि दलाल उसे बेचने के लिए मथुरा आया है। इसी कारण वह मथुरा आता है किन्तु उसके आने से पूर्व ही उसका नाम मथुरा पट्टेच चका है। एक बृद्ध ब्राह्मण के प्रयास से उसे राजा के पितृक चण्डसेन का आश्रय मिल

जाता है। युद्ध प्राक्षुण उसके नाम का सस्त्रुतीकरण करके भावितक रथ देता है। एक मल्ल प्रतियोगिता में उसने राजा के गाने भानुदन के प्रमिद्ध मल्ल मागू को हरा दिया। उसी दिन उमे आर्यक का मया वीरक मिलता है जो उमे गोपाल आर्यक और चन्द्रा की बहानी गुनाता है। मयुरा की बहानी में ही गोपाल आर्यक का समुद्रगुप्त का मेनापति बनने का पता चलता है। समुद्रगुप्त की सेना के मयुरा की ओर आने के समाचार से चण्डमेन अपने परिवार को उज्जयिनी भेजने का निश्चय करने हैं और भावितक को उनके साथ जाने का आदेश देने हैं। वीरक से पता चलता है कि यथोक्त मादी को बेषने के लिए उज्जयिनी की ओर गया है।

मयुरा की कथा का दूसरा आधार बटेश्वर महादेव है, जहाँ मृगाल और चन्द्रा मुमेर काका के साथ गोपाल आर्यक को खोजने आयी हैं। समुद्रगुप्त मृगाल के शील और गीन्दर्प को देखकर प्रमत्त होता है तथा उज्जयिनी विजय का समाचार मिलने पर अपने कैलि-मया गोपाल आर्यक से भेंट करने का समाचार भिजवाता है। गोपाल आर्यक बटेश्वर में ही चन्द्रा और मेना से पुनर्मिलन करता है।

(3) उज्जयिनी की कथा : 'पुनर्नवा' की कथा तेजी से उज्जयिनी की ओर अग्रसर होती है। समुद्र गुप्त द्वारा गोपाल आर्यक और चन्द्रा के सम्बन्धों को आधार बनाकर सिया गया कडा पत्र पाकर गोपाल आर्यक उज्जयिनी की ओर भाग लेता है। माद्वय्य दादा और चन्द्रमौलि भी उज्जयिनी जा रहे हैं। गोपाल आर्यक की उनसे भेंट होती है। माद्वय्य दादा के पहचानने के कारण वह उज्जयिनी छोड़कर जाना चाहता है तो महाराज के मन्दिर में सन्यासिनी माता के आदेश पर वह चारदत्त और धृता भाभी के साथ रथ में बैठकर जाता है। मार्ग में राजा की सवारी आती है और चारदत्त और उसकी पत्नी को बंधी बनाये जाने के आदेश को सुनकर गोपाल आर्यक राजा पालक का सिर काट देता है। सैनिकों को अपना परिचय देता है और साथ देने वालों की पद-बुद्धि का आश्वासन देता है। राजमहल पर अधिकार कर लिया जाता है। धृता भाभी गोपाल आर्यक को समझा देती है कि उसकी पत्नी और चन्द्रा साथ रहती हैं और उनकी कोई समस्या नहीं है। उसका भाई श्यामरूप भी उसे मिल जाता है और वह समुद्रगुप्त से मिलने चल देता है।

आचार्य देवराज भी उज्जयिनी पहुँच जाते हैं और युद्ध के समय वे गोपाल आर्यक का पक्ष लेते हैं। मजुला की आत्मा द्वारा समझाये जाने पर वे मयुरा की ओर चले जाते हैं। गोपाल आर्यक को वापस लौटते समय चन्द्रमौलि मिल जाता है, वह उसका परिचय समुद्रगुप्त से करा देता है। समुद्रगुप्त उसकी प्रियसी का पता लगाने का आश्वासन देता है।

प्रस्तुत कथावस्तु में आये सिद्ध व.वा की कथा, सन्यासिनी माता की कथा और मजुला की आत्मा की कथा पर डॉ० अत्यन्तसिंह आरोप लगाते हुए कहते हैं कि "उपन्यासकार अपने पाठकों को, सिद्धों की अतिमानवीय शक्ति के प्रति आश्चर्य करवा प्रतीत होता है। इसी प्रयास ने कथानक को विश्वसनीयता के गुण से रहित बना दिया

है।¹ हमारा मत यह है कि इस प्रकार की घटनाएँ एकदम अविश्वसनीय भी नहीं हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथ और मिट्टो पर कार्य किया है और अवश्य ही उन्हें किमी चमत्कारी सिद्ध पुरुष के दर्शन हुए थे, इसी कारण उन्होंने 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' में अवधूत अघोर भैरव, 'चारु चन्द्रलेख' में सीदी मौला और गुरु गोरखनाथ जैसे पात्रों को प्रस्तुत किया है। डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में लेखक की आत्मकथा के अर्थ खोजते हुए अघोर भैरव के बारे में जो लिखा है वह सिद्ध बाबा के लिए भी उपयुक्त हो सकता है।

" 'अघोर भैरव' ककालीतला (शांतिनिकेतन से छ. मील दूरी पर स्थित साधना-पीठ) में रहने वाले भैरव की प्रतिमूर्ति है। ककालीतला के भैरव के सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हो चुकी हैं। सम्भवतः साधना-पद्धतियों को कथा रूप में रचने की प्रेरणा लेखक को हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखी गई उस कथा से मिली हो, जो उन्होंने तान्त्रिकों के विषय में लिखी थी।"²

यही आरोप श्री राजनारायण ने भी लगाया— "वस्तुतः उपन्यास का उत्तरार्द्ध देवी विद्यानों की योजना एवं दार्शनिक विवेचन के आग्रहों के कारण शिल्प की दृष्टि से स्थान-स्थान पर जबर्दस्ती जोड़ा गया लगता है। परन्तु उपन्यास के सम्प्रेष्य की दृष्टि से इनकी योजना अनावश्यक नहीं है। समष्टि-भाव का मनोवैज्ञानिक, धार्मिक-दार्शनिक निरूपण और उसका जीवन-दर्शन के रूप में प्रतिपादन तथा समाज-जीवन के बारे में द्विवेदी जी की भाववादी धारणा के कारण इन प्रसंगों की उद्भावना असंगत नहीं लगती। सम्पूर्ण कथावस्तु मुख्य रूप से विशिष्ट भाववादी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संयोजित-संनियमित हुई है, अतः कथानक-शिल्प में कथावस्तु की अस्वाभाविकताएँ स्वभावतः प्रतिफलित हो गयी हैं।"³

वस्तुतः श्री राजनारायण ने अपने आरोप का स्वयं ही विरोध कर दिया है। 'गद्य-महाकाव्यात्मक शैली में इसे लिखकर द्विवेदी ने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है।'⁴ 'पुनर्नवा' का कथा-संघटन चमत्कारिक, रमात्मक और अनुपम है। लेखक के रमवादी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति इसमें पूरी तरह हो सकी है।

'अनामदास का पोथा' को कथावस्तु

'अनामदास का पोथा' छादोम्य उपनिषद् में संकलित रैबव मुनि की कथा पर आधारित है। यह वीम अध्यायों में वर्गीकृत है। उपन्यास आरम्भ करने से पूर्व आचार्य द्विवेदी ने एक भूमिका दी है जिसमें किमी अपरिचित मित्र द्वारा उनका लिखा एक पोथा

1. पुनर्नवा : पुनर्मूल्यांकन, पृ० 59

2. कृति और कृतिकार, पृ० 43

3. पुनर्नवा : चेतना और शिल्प, पृ० 87

4. डॉ० उमा मिश्रा, हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास साहित्य : एक अनुशीलन, पृ० 154

दिये जाने की गण्य भारी गयी है और उसी पोये के कुछ अंश 'अनामदास का पोया' के रूप में प्रकाशित किया गया है। भूमिका में द्विवेदी जो स्वयं अपनी ओर सकेत कर देते हैं।

“अनाम के भीतर का आलोचक सब समय गर्जन-तर्जन द्वारा उसका होश-हवाम गुम करता रहता है। पर ऐसा लगता है कि यह आलोचक जितना गर्जन करता है उतना शक्तिशाली नहीं है। कालिदास ने अपने एक विद्वपक से कहलवाया है कि जैसा सापो में डुडुभ होता है वैसा ही ब्राह्मणों में मैं हूँ। डुडुभ बिलकुल निर्विष सर्प है। अनाम का आलोचक भी आलोचकों में डुडुभ ही है। कहने का मतलब यह है कि अनामदास के पोये से लगता है कि उसके लेखक के भीतर का कवि सुप्त है और आलोचक अशक्त। फिर भी कोई बात है जो आकृष्ट करती है।”¹

प्रस्तुत बात हजारी प्रसाद द्विवेदी पर ही खरी उतरती है। उनका कवि सुप्त है और वे कडवी आलोचना करते नहीं। डॉ० यदुनाथ चौधरी का कथन भी इसी प्रकार का है—

“यह अनामदास एक कल्पित नाम है। उपन्यास को कौतूहलपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने के लिए अनामदास द्वारा प्रस्तुत पोया का नामोल्लेख किया गया है। विचार करने पर ऐसा लगता है कि समूचा वैदिक वाङ्मय ही अनामदास का पोया है। इसमें अमित आख्यान भरे पड़े हैं। लगता है प्राचीन भारतीय सस्कृत का अध्येता द्विवेदी जी का मन ही अनामदास के रूप में प्रस्तुत हुआ है। अनामदास अपनी उम्र 66¹/₂ वर्ष बताते हैं। उपन्यास लिखते समय द्विवेदी जी की उम्र भी यही थी।”²

रैव के माता-पिता छोटी आयु में ही मृत्यु को प्राप्त हो गये। वह साधना करते हुए अनेक सिद्धियाँ प्राप्त करता रहा। उसने उस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि वायु ही सब-कुछ है। एक दिन जब नह नदी पर स्नान करने गया तो तेज आधी आई। नदी की उताल तरंगों ने रैव को धकेलकर एक शिलाखंड से जा टकराया। ऋषि कुमार उसी शिलाखंड पर बैठ गया और मेहोश हो गया। रात्रि को होश आने पर जब वह तरण वापस आँटता है तो उगे बैलों से विहीन एक दूटी गाड़ी दिखायी पड़ती है। गाड़ोंवाग पाम ही में मरा पड़ा था। गाड़ी से 15-20 हाथ दूर पर एक जीव मूर्च्छित अवस्था में पड़ा दिखायी दिया। ऐसा प्राणी हमसे पूर्व उसने नहीं देखा था। उसके कपड़े सुघाते समय उसे लगा कि उस प्राणी ने हिरण के नेत्र लगाये हुए हैं। वह छूकर देखता है। चेतन होने पर वह प्राणी क्रोध में उससे पूछता है कि वह क्या कर रहा था। रैव उसे देवलोक के प्राणी की संज्ञा प्रदान करता है। वह अपना परिचय देती है कि वह महाराज जानथुक्ति की कन्या है और किमी नारी का स्पर्श करना पाप है। वह कहती है कि उसे शुभे कहकर पुकारा जाये। रैव उसे अपनी पीठ पर बैठाकर पट्टुबाने की तैयार होता है। उसी समय से उसकी पीठ में सनमनाहट आरम्भ हो जाती है। शुभा उसे आत्मा के संबंध में बताती

1 भूमिका, अनामदास का पोया, पृ० 17

2 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का समग्र साहित्य . एक अनुशीलन, पृ० 115

है। वह उसमें दूर छिप जाने की बात कहती है।

वस्तुतः शुभा का नाम जाबाला था। वृद्ध आचार्य उदुम्बरायण उसे बताते हैं कि आंधी के समय उन्होंने एक ठूठ पकड़ लिया था। हंसों की आवाज आ रही थी 'रयिक्व' और 'रयिक्वे'। संस्कृत के आधार पर इसका अर्थ होना है कि सम्पत्ति कहा जा रही है? रैक्व के पाम। आश्वलायन ने उसे बताया कि सचमुच रैक्व मुनि है। वे सिद्धियों के द्वारा दूसरों के रोग दूर कर देते हैं। जाबाला रैक्व के बारे में सुनकर वह विरहाग्नि में जलने लगी। राजा ने समझा कि उसकी पुत्री दग्ण हो गयी है। आचार्य औदुम्बरायण रैक्व से मिलने के पश्चात् राजा को बताते हैं कि वह सत्य सत्य अक्षिप्त है। वह शुभा को अपना गुद बताता है। जाबाला यह सुनकर और व्यथित हो उठती है।

रैक्व यह स्थान छोड़कर चला जाता है। नदी पर उन्हें एक वृद्धा नारी मिलती है। वे उसके कहने पर उसे मां कहने लगते हैं। उसके आश्रम में पहुँचकर अपनी सारी कथा सुनाता है। मां बताती है कि उसकी पीठ की सनसनाहट मन की दुर्दम अभिलाष-भावना की देन है जिसे शुभा ही ठीक कर सकती है। एक दिन रैक्व को एक अन्य नारी मिलती है जिसे वह अपनी मां के पाम ले जाता है। वह माता जी के कहने पर उससे बीबी कहने लगता है। दूसरी ओर जाबाला विरह से पीड़ित होकर व्याकुल रहती है।

रैक्व संसार में भ्रूष-व्यास, रोग-शोक को पहचानकर सेवा भाव को अपनाता है। माता जी के कहने पर वेदाध्ययन करता है। वह माता जी के साथ गाव-गाव घूमकर लोगों को दगा देखता है। वहाँ उन्हें सेवा-भाव को अपनाने वाले मामा मिलते हैं। दूसरी ओर आचार्य औदुम्बरायण के बताने पर राजा जनता के प्रति सचेत हो जाता है। माताजी जगवती ऋतभरा जाबाला के मन की बाह लेती हैं। उन्हें पता चलता है कि उसकी बीमारी के पीछे उसका रैक्व के प्रति अभिज्ञाप भाव है। मामा रैक्व को बताता है कि निर्धन व्यक्ति का विवाह नहीं होता। राजा जाबाला के रोग-मुक्ति के निमित्त कोहलियों का नृत्य-नाटक कराता है।

माताजी रैक्व का विधिवत् उपनयन संस्कार कराती है। आचार्य औदुम्बरायण जाबाला से विवाह करने के लिए आश्वलायन को तैयार कर लेते हैं किन्तु जाबाला की ओर से अरुणती विरोध करती है। आश्वलायन को रैक्व की बातों से पता चल जाता है कि शुभा ही जाबाला है, इसलिए वह आचार्य को पत्र लिखकर सूचित कर देता है कि वह विवाह नहीं करेगा और जाबाला के लिए उचित वर रैक्व होगा। राजा अपनी पुत्री के साथ ऋषि से मिलने जाता है। वहाँ रैक्व की जाबाला से पुनः भेंट होती है। आश्वलायन रैक्व को जटिल मुनि से मिलाने ले जाता है। जटिल मुनि बताते हैं कि हाथ की रेखाओं को बदला जा सकता है। उसकी माताजी के अनुसार प्रेम करना बुरा नहीं है। जटिल मुनि रैक्व को चमत्कार भी दिखाते हैं। वे उससे कहते हैं कि उसे जाबाला से उद्दाह करना चाहिए जिसमें उपोद्घरण होता।

राजा रैक्व के पास बहुत सारी सामग्री भेजता है जिसे वह वापस कर देता है। बाद में वह जाबाला को लेकर पहुँचता है जिससे रैक्व उद्दाह करता है।

उपसंहार में छांदोग्य उपनिषद् की कथा दी गयी है। वस्तुतः 'अनामदास का

पोया' की आधिकारिक कथावस्तु के साथ प्रासंगिक कथाओं का सुफन भली-भांति किया गया है। राजा की कथा, आचार्य ओदुम्बरायण की कथा, अरुणती की कथा, दीदी की कथा, आश्वलायन की कथा, जटिल मुनि की कथा इसी प्रकार की प्रासंगिक कथाएँ हैं। इन सभी से मिलकर कथावस्तु कलात्मक हो गयी है। डॉ० उमा मिश्रा का यह कथन उचित ही है कि "इतिहास और कल्पना के योग से कथानक को सुन्दर बनाया गया है। जिस प्रकार कुम्हार मीठी मिट्टी के लोदे को चाक पर रखकर सुन्दर एवं आकर्षक खिलौने के रूप में बदलकर उसे उपयोगी बना देता है उसी प्रकार लेखक ने प्रस्तुत औपनिषदिक कथानक को काट-छांटकर, संवार-मुधारकर सुन्दर तथा उपयोगी बनाया है। कथावस्तु का निर्माण कलात्मकता के साथ हुआ है।"¹

चरित्रों-सम्बन्धी कालित्य

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के कुछ पात्र अमर हैं। बाणभट्ट, राजा सातवाहन, गोपाल भार्यक और रैवत के अतिरिक्त अवधूत, अघोर भँवर, सीदी मौला, निडबाबा और जटिल मुनि ऐसे पुरुष पात्र हैं जो अविस्मरणीय हैं। नारी पात्रों में निडनिया, भट्टिनी, रानी चन्द्रलेखा, मैना, मृणाल-मंजरी, चन्द्रा और जाबाला अनुपम नारियाँ हैं। उनकी नारियों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग में भट्टिनी, चन्द्रलेखा, मृणाल-मंजरी और जाबाला है तो दूसरे वर्ग में निडनिया, मैना और चन्द्रा हैं। प्रथम वर्ग इच्छाशक्ति का प्रतीक है तो दूसरा वर्ग क्रिया-शक्ति का।

बाणभट्ट की आत्मकथा के पात्र

आचार्य द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में सत पात्रों का प्रयोग ही अधिक किया है। दुष्ट पात्रों के नामोल्लेख भर हुए हैं अथवा थोड़ी देर के लिए ही आये हैं।

पुरुष-पात्रों में बाणभट्ट ही केन्द्रीय पात्र है। अन्य पात्रों का चरित्राकन बहुत कम हुआ है। बाण का नाम दक्षभट्ट है किन्तु बण्ड की प्रकृति होने के कारण उसे बण्ड ही कहा जाने लगा तो उसने उसका संस्कृतीकरण करके बाण कर लिया। नारी देह को 'देव-मंदिर' मानने वाला बाण उनकी मुक्ति के लिए प्राण लेने-देने को भी तत्पर हो जाता है। एक आभिजात्य ब्राह्मण कलाकार अनायाम ही परमवीर और निर्भीक बन जाता है। महाराजा के भाई कुमार कृष्णवर्द्धन जब उसे धमकी देते हैं कि, "मेरे एक इशारे पर तुम्हारी रक्षणीया देवपुत्र कन्या का और तुम्हारा क्या हाल हो सकता है, तुम जानते हो?" तो उसका उत्तर तुवरमिलिन्द की कन्या के अभिभावक के अनुरूप ही है— "जानता हूँ, परन्तु कुमार को शायद 'बाणभट्ट' का पूरा परिचय नहीं मालूम। उस इशारे के होने के बहुत पूर्व इशारा करने वाली आँखें नहीं रहेंगी।"²

1. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास साहित्य : एक अनुशीलन, पृ० 161

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रथावली-1, पृ० 67

3. उपरिचय, पृ० 67

बाणभट्ट बचपन से ही नारी का सम्मान करना जानता है। वह समझता है कि कुलभ्रष्टा नारियो में भी एक देवी-शक्ति होती है इसलिए उसकी नाटक मण्डली की नारिया अधिक सुधी थी—

“बहुत छुटपन से ही मैं स्त्री का सम्मान करना जानता हूँ। साधारणतः जिन स्त्रियों को चंचल और कुलभ्रष्टा माना जाता है उनमें एक देवी-शक्ति भी होती है, यह बात लोग भूल जाते हैं। मैं नहीं भूलता। मैं स्त्री-शरीर को देव-मंदिर के समान पवित्र मानता हूँ। उस पर की गयी अनुकूल टीकाओं को मैं सहन नहीं कर सकता। इसलिए मैंने मण्डली में ऐसे कठोर नियम बना रखे थे कि स्त्रियों की इच्छा के विरुद्ध उनसे कोई बोल तक नहीं सकता था। जनता में यह प्रसिद्ध था कि बाणभट्ट की नर्तकियाँ अवरोध में रहती हैं। पर हमका फल बहुत अच्छा हुआ था। जनता मेरी मण्डली को प्यार करने लगी थी।”¹

बाणभट्ट बचपन से आबारा, गप्पी, अस्थिर चित्त और घुमक्कड़ था उनके इस बहुविध कार्य-कलाप को देखकर लोग उसे भुजग समझने लगे थे किन्तु उसमें लम्पटता लेश-मात्र भी नहीं थी। उसने अपने जीवन में नारी को वासना की दृष्टि से कभी नहीं देखा। उज्जयिनी की गणिका मदनयी उदय गर्व के साथ निपुणिका से कहती है कि “तैरे बाणभट्ट जैसे सैकड़ो यहा तलवे चाटने आया करते हैं, सखी।”² उसका उदय गर्व बाणभट्ट से मिलने के पश्चात् चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है। निवृत्तिया उसे जो देवता समझती है तो उचित ही है।

बाणभट्ट विवेकशील चिन्तक और प्रतिभाशाली कवि है। वह वासना और प्रेम के अन्तर को समझाता है। अपने विवेक के द्वारा वह सुचरिता के समक्ष काम-भस्म की कथा का जो अर्थ समझता है वह निश्चित रूप से उसकी प्रतिभा की अभिव्यक्ति करने वाला है। वह कहता है, “प्रश्न विभज्यवचनीय है, देवि ! आप दो बातों को एक करके पूछ रही है। कालिदास ने प्रेम के देवता को वैराग्य की नयनाग्नि से भस्म नहीं कराया है, बल्कि उने तपस्या के भीतर से सौन्दर्य के हाथों प्रतिष्ठित कराया है। पार्वती की तपस्या से सच्चे प्रेम के देवता आविर्भूत हुए थे। जो भस्म हुआ, वह आहार-निद्रा के समान जड़ शरीर का विकार्य धर्म-मात्र था। वह दुर्बार था, परन्तु देवता नहीं था। देवता दुर्बार नहीं होता देवि, विभज्यवचनीय है तुम्हारा प्रश्न।”³

बाणभट्ट एक सफल ज्योतिषी भी है। कभी उसने ज्योतिषी के रूप में सुचरिता का हाथ देखकर उसे अशुभ सौभाग्यवती बताकर उसके हृदय में आशा का संचार किया था। सुचरिता ने बाणभट्ट को जब अपनी जीवन-गाथा सुनायी तो वह प्रसंग भी बताया था। सुचरिता उस ज्योतिषी और बाणभट्ट में अभेद नहीं कर पायी थी। सारी कथा सुनने के बाद बाणभट्ट ने यह कहकर सुचरिता को आश्चर्यचकित कर दिया था कि “मैं अच्छा

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 20

2. उपरिखत्, पृ० 112

3. उपरिखत्, पृ० 185

भविष्यवक्ता हूँ। काशी जनपद का वह ब्राह्मण युवा जिसने तुम्हारे चित्त में अकारण ओत्सुक्य भर दिया था मैं ही हूँ।"¹

बाण सहृदय, उदार, सेवावृत्त और शालीन है। उसके वस्त्रों से उसकी राजसीय मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। उसका प्रेम अदृष्ट है। वह सुन्दर कवि भी है। भट्टिनी तो उसे कवि मानती ही है, अवधूत अघोर भैरव भी उसे कवि मानते हैं। आचार्य द्विवेदी ने अपने हृदय के मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति बाणभट्ट के रूप में की है। "इस कथा में बाण को एक जीवन्त व्यक्तित्व प्रदान करने में लेखक की अपूर्व सफलता मिली है। स्वच्छन्दता, निर्भङ्गता, सजीवता, साहसिकता के साथ-साथ उदारता, सहृदयता, स्नेह-शीलता, पर दुःखतरता, भावुकता एवं कल्पनाशीलता आदि गुणों के समन्वय में बाण के चरित्र में अत्यधिक मानवीयता प्रकाशित हो उठी है।"²

अन्य पुरुष-पात्रों में महाराजा हर्षवर्द्धन और कुमार कृष्णवर्द्धन ऐतिहासिक पात्र हैं। महाराजा हर्ष के चरित्र पर तो विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है, कुमार कृष्णवर्द्धन के प्रभावशाली व्यक्तित्व और उनकी व्यवहार कुशलता की सफल अभिव्यक्ति हुई है। वे उदार चित्त के विनयशील पुरुष हैं।

अवधूत अघोर भैरव के चमत्कारी रूप के कारण वह अविस्मरणीय पात्र बन गया है। अपनी वाग्दत्ता पत्नी को आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्राप्त करने के निमित्त वह भारी तपस्या करता है। बाणभट्ट के यह कहने पर कि यदि आवश्यकता पड़ी तो वह भट्टिनी और महाबराह दोनों को बचायेगा, अवधूत डाटकर कहता है—

"फिर झूठ बोलता है, जन्म का पातकी, कर्म का अभागा, भिष्यावादी, पाखण्ड !! महाबराह को बचायेगा तू, दम्भी!"³

नारी पात्रों में भट्टिनी, निजनिया और महामाया विशिष्टता रखती हैं। भुषरिता का चरित्र भी पाठक के मन को प्रभावित करता है। भट्टिनी उपन्यास की नायिका है। वह उपन्यास की कथा की धुरी है। उसी को केन्द्र में रखकर उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है।

भट्टिनी एक राजकन्या है जिसका अपहरण करके छोटे राजकुल में बन्दी बना लिया गया है। उसके शील और सौन्दर्य से प्रभावित होकर निजनिया उसे वास्तविक 'नारीदेह-मंदिर' की सजा प्रदान करती है। प्रथम दृष्टि में ही बाण जैसा अरिचर चित्त का पात्र इतना प्रभावित हो जाता है कि उसके लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए भी सदैव तत्पर रहता है। वस्तुतः भट्टिनी नारी-भौरव का प्रतीक है। यह कथन सत्य ही है कि, "प्रारम्भ से ही कथाकार ने भट्टिनी के व्यक्तित्व को, उसके चरित्र को इन्द्रधनुषी तूतिका के माध्यम से रखा है।"⁴

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-1, पृ० 193

2. राज कवि, हजारी प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक उपन्यास, पृ० 63

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-1, पृ० 78

4. डॉ० उमा मिश्रा, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास साहित्य : एक अनुशीलन, पृ० 181

भट्टिनी के सौन्दर्य-चित्रण में उपन्यासकार ने सात्विकता, माधुर्य और कोमलता का अपूर्व पुट दिया है। निजनिया ने उसे लक्ष्मी, कामधेनु और सीता जैसे विशेषणों से अभिषिक्त किया है—

“तुम असुर-गृह में आवद्ध लक्ष्मी का उद्धार करने का साहस रखते हो ? मदिरा के पंक में डूबी हुई कामधेनु को उबारना चाहते हो ? बोलो, अभी मुझे जाना है ! महावराह ने आज ही अनुमति दी है। इस सीता का उद्धार करते समय तुम्हें जटायु की भाँति शायद प्राण दे देना पड़ेगा।”¹

भट्टिनी के चरित्र में शील और कुसीनता का चित्रण किया गया है। वह बाणभट्ट के भोजन किये बिना अन्न का दाना भी मुँह में नहीं डाल सकती। अपनी शील-रक्षा के लिए गंगा में कूदकर प्राणोत्सर्ग करने को तत्पर हो जाती है। स्वाभिमानी इतनी कि यह सुनते ही कि कुमार कृष्णवर्द्धन उसके लिए कोई व्यवस्था करेंगे हतचेष्ट हो जाती है। बाणभट्ट से स्पष्ट शब्दों में कहती है कि—

“मैं स्थाण्वीश्वर के राजवंश से घृणा करती हूँ। राजवंश से सम्बद्ध किसी व्यक्ति का आश्रय पाने से पहले मैं यमराज का आश्रय ग्रहण करूँगी। भद्र, आचार्यपाद ने मेरी कल्याण कामना के भ्रम से मेरा सत्यानाश किया है।”²

भट्टिनी बाणभट्ट से प्रेम करती है। उसका प्रेम अशरीरी और अदृष्ट है। वह उस पर पूर्ण विश्वास करती है। वह समझती है कि बाणभट्ट जो भी करेगा, उचित ही करेगा। भट्ट के सभासद बनने और राज्यधी के पत्र को पढ़कर वह सिर झुकाकर कर्णदृष्टि से भट्ट को देखती है किन्तु निजनिया द्वारा भट्ट के प्रति क्रोध के शब्द कहे जाने पर प्रेमपूर्वक कहती है—

“ना बहन, ऐसा भी कहते हैं। यह हमारे अभिभावक है। उनको सब करने का अधिकार है। हमारे मंगल के लिए और सारे देश के मंगल के लिए उन्होंने जो कुछ भी किया है वह हमें मान्य होना चाहिए। तू अपनी भट्टिनी को इतना क्या समझती है बहन। छि, इतना उत्तेजित हुआ जाता है।”³

महावराह के प्रति उसकी आस्था अटूट है। अपहृता की स्थिति में भी वह महावराह की उपासना करती है और गया में कूदते समय भी वह महावराह की मूर्ति को अपने साथ रखती है। भट्टिनी ‘पवित्रता की उत्स’, ‘शोभा की खान’, ‘शुचिता की आश्रय भूमि’, ‘मूर्तिमती शक्ति’ और ‘कान्तिमती कर्णा’ है। यही कारण है कि सौरिकदेव ने भट्ट से कहा कि—

“भट्टिनी इस वन्ध्य भव-कानन की कल्पलता है, आर्य ! ऐसा देव-दुर्लभ स्वभाव न जाने किस तपस्या का फल है। प्रीत हूँ, कृतज्ञ हूँ, कनावड़ा हूँ, जो तुमने उन्हे यहाँ रहने

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, पृ० 35

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 63

3. उपरिक्त, पृ० 195

दिया था।”¹

उपन्यास को गतिशील बनाने का श्रेय निजुनिया को है। यही कारण है कि डॉ० उमा मिथा ने उसे सर्वश्रेष्ठ नारी पात्र की सजा प्रदान की है।² ‘अपने आपको हाड़-मांस की नारी’ समझने वाली निजुनिया वास्तव को ही पुरुष का प्रेम समझती थी किन्तु बाणभट्ट के देवत्व से प्रभावित होने के पश्चात् उसे उस कल्प से मुक्ति मिल जाती है। स्वप्न से ही दुःख भोगने वाली निजुनिया सफल अभिनेत्री और नर्तकी बन जाती है किन्तु प्रारम्भ उसे बहा भी नहीं रहने देता। अन्त में वह एक पान की दुकान पर बैठकर जीवन-यापन करती है।

पान की दुकान ही निजुनिया के भाग्य की चमका जाती है। बाणभट्ट का देव-मंदिर उसे छोटे राजकुल के अन्तःपुर में दिखाई पड़ता है। वह भट्टिनी की मुक्ति के लिए महाबराह से प्रार्थना करती है और जिस दिन महाबराह से अनुमति मिलती है, उसी दिन बाणभट्ट से पुनः मिलन होता है। वह उस लक्ष्मी, कामधेनु और सीता जैसी पवित्र नारी को मुक्त कराने में सहायता देने के लिए बाणभट्ट को प्रेरित करने में सफल रहती है। अपने ऊपर उसे पूर्ण विश्वास होता है। बाणभट्ट के इस गर्व को बहुरुरन्त तोड़ देती है कि उसके बिना वह भट्टिनी को मुक्त कराने में सफल न हो पाती। निजुनिया और बाणभट्ट के इस संबंध में हुए सम्वाद में यह तथ्य स्पष्टतः स्पष्ट हो जाता है—

“निजुनिया, कल सौभाग्य से मुझसे तेरी मुलाकात हो गयी।”

“हा, भट्ट।”

“मैं सोचता हूँ कि कहीं तू अकेली ही भट्टिनी को लेकर इधर आयी होती, तो कितना कष्ट होता !”

“सो तो होता ही।”

“इस समय मैं जो कुछ कर रहा हूँ उस समय उतना भी तो नहीं हो पाता।”

“इतना मो हो जाता, भट्ट !”

“कौन करता भत्ता ?”

“पुजारी !”

“पुजारी ? पर तू तो पुजारी से डरी हुई थी निजुनिया !”

“पुजारी—जैसे मूर्ख रमिको में डरती तो निजुनिया आज से छ. वर्ष पहले ही मर गयी होती, भट्ट !”³

निजुनिया बाणभट्ट से प्रेम करती है, इसलिए जब उसे यह आभास होता है कि बाण भट्टिनी के प्रति आकर्षित है और वह उस पर कविता रच सकता है, वह उससे प्रार्थना करती है कि वह किसी जीवित व्यक्तित्व पर कविता न लिखे। उसका कारण बताते हुए उसने कहा कि छ. वर्ष पूर्व उसने एक ज्योतिषी से उसके बारे में पूछा

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 194

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास साहित्य : एक अनुशीलन, पृ० 176

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 60

या। उस ज्योतिषी ने बताया था कि, "वह बड़ा यशस्वी कवि होगा, परन्तु कोई रचना समाप्त नहीं कर सकेगा। जिस दिन वह कविता लिखने बैठेगा, उस दिन से उसकी आयु क्षीण होने लगेगी। वह इसके बाद सहस्र दिन तक जीवित रह सकेगा।" उससे कह देना कि किसी जीवित व्यक्ति के नाम पर काव्य न लिखे।"¹

उसमें बुद्धि-चातुर्य और कौशल है। पुरुष-मनोविज्ञान की तो वह पूरी पढित ही है। भट्टिनी को छोटे राजकुल से मुक्त कराने में मूल कार्य उसी ने किया है। भट्टिनी के प्रति वह आदर भाव रखती है। उसके प्रति पूर्णतः समर्पित है। भट्टिनी के गंगा में कूदने पर वह भी गंगा में कूब पड़ती है। भट्ट जब उसे बचाना चाहता है तो वह उसे भट्टिनी के प्राण बचाने के लिए प्रेरित करती है। भट्ट को जब बलि चढाया जा रहा होता है तो उन्मत्त होकर वह ही भट्ट के प्राणों की रक्षा करती है। भट्टिनी की मर्यादा के विरुद्ध आचरण को तो वह सहन कर ही नहीं पाती। राज्यश्री के निमन्त्रण पर वह उम भट्ट को जिसे वह 'देवता' और 'नर रत्न' कहती है, क्रोध से डांट देती है। स्याम्बीधर चलने के प्रश्न पर वह स्पष्ट कहती है—

"कैसा जाल, भट्ट! स्पष्ट बात को तुम फिर अस्पष्ट बना रहे हो। आभीर राज्य की सेना के साथ भट्टिनी स्वतंत्र राज्य की रानी की भाँति चलेगी। महाराजा-धिराज को गरज होगी, सौ बार भट्टिनी के दर्शन का प्रसाद जाचने आयेंगे। भट्टिनी की मर्यादा के विरुद्ध पत्ता भी खड़का तो रक्त की नदी बह जायेगी। और कोई नहीं मरेगा तो तुम और मैं तो निश्चय ही इस कार्य में बलि हो जायेंगे। इसमें डर कहा है? मैं भट्टिनी की मर्यादा की कसौटी होकर चलूँगी। तुम प्राण देने में क्यों हिचकते हो?"²

निउनिया बाणभट्ट के प्रति इतनी समर्पित है कि वह बेंकटेशपाद से दीक्षा ले लेने के पश्चात् पुनः भट्ट के मिलने पर वह उस दीक्षा को भूल जाती है। वह अपने विचारों को नारायण के समक्ष समर्पित करने में असमर्थ हो जाती है। उसे यह शात होने पर कि बाणभट्ट भी उसके प्रति आकर्षित था, वह कहती है कि—“कृतार्थ हूँ आर्य, मेरे बन्ध्य जीवन की यही परम सार्थकता है। अधिक के लिए मेरा लोभ भी नहीं है, योग्यता भी नहीं है। मैं बड़ी पापिनी हूँ आर्य, क्यों मुझे दूसरे के सुख से ईर्ष्या हो जाती है! मैं सेवा-धर्म में भी असफल हूँ और सखि-धर्म में भी।”³

वास्तविकता तो यह है कि निउनिया सेवा-धर्म और सखि-धर्म दोनों में पूर्णतः सफल रहती है। वह भट्टिनी को केवल मुक्त ही नहीं कराती बल्कि उसकी मर्यादा की रक्षा भी करने में समर्थ रहती है। 'रत्नावली' को रगमच पर प्रस्तुत करते समय वह वासवदत्ता की भूमिका में रत्नावली का हाथ अभिनय करते भट्ट के हाथ में देते समय सिर से पैर तक मिह्र जाती है और उसकी एक-एक शिरा शिथिल हो जाती है। उसके प्राण ही निकल जाते हैं। भट्टिनी दौड़कर उसका सिर अपनी गोद में रख लेती है और

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 115

2. उपरिवत्, पृ० 222

3. उपरिवत्, पृ० 221

चीत्कार के साथ चिल्ला उठती है, "हाय, भट्ट, अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया। उसने प्रेम की दो दिशाओं को एक मूत्र कर दिया।"¹

महामाया सफलता और सार्थकता के मध्य झूलती रहती है। मौखिकनरेश की पत्नी के पद को त्याग कर वाग्दत्ता पति अघोर भैरव के पास जाकर उसकी आध्यात्मिक उन्नति में सहायक बनती है। राजकुमारी और रानियों के अपहरण के स्थान पर सामान्य जन के अपहरण को रोकने की प्रेरणा देती है। उसके विद्रोह से राजसत्ता भी भयभीत हो उठती है। सुचरिता का प्रसंग यह सिद्ध करने के लिए ही है कि "मानव-देह केवल दण्ड भोगने के लिए नहीं बनी है।"²

'घोरचन्द्र लेख' के चरित्र

'घोरचन्द्र लेख' के तीनो प्रमुख पात्र—राजा सातवाहन, रानी चन्द्रलेखा और मैना काल्पनिक पात्र है। चौथा प्रमुख पात्र विद्याधर भी काल्पनिक है। माटी माता, जन्हूण, धीर शर्मा और गुरु शोरखनाथ ऐतिहासिक पात्र हैं।

राजा सातवाहन उपन्यास का नायक है। वह उज्जयिनी का राजा है। बत्तीस लक्षों से युक्त चन्द्रलेखा को देखकर वह इतना अभिभूत होता है कि उसके रानी बनाने के प्रस्ताव को न केवल स्वीकार कर लेता है अगितु वह 'समाशून्य-सा', 'स्वप्नवत-सा', 'उन्मत्त-सा', 'अभिभूत-सा', 'सम्मोहित-सा', 'वशीकृत-सा' हो जाता है। चन्द्रलेखा को रानी बनाने में जोखिम का ज्ञान हो जाने पर भी वह रानी को कुछ भी करने की स्वतंत्रता दे देता है। वह ध्यक्तित्व-हीन, प्रेरणा-हीन और गति-हीन पात्र के रूप में प्रस्तुत होता है।³

विद्याधर भट्ट द्वारा प्रेरित करने पर राजा शपथ लेता है कि "आर्य, आपकी आत्मा शिरोधार्य है, आपके चरणों की शपथ लेकर मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए शस्त्र-ग्रहण कइया, किसी भी शुद्ध स्वार्थ या सुख-लिप्सा को इस पवित्र सकल्प में कल्प-लेप करने का अवसर नहीं दूँगा।"⁴ वह इस शपथ का निर्वाह नहीं कर पाता। उसने तलवार का प्रयोग उसी समय किया जब शत्रुओं ने ही उसे घेर कर उस पर आक्रमण किया। वस्तुतः तो वह रानी, मंत्री, पुरोहित, मैना तथा माटी माता की परिधि के घेरे में निष्क्रिय होकर ही रहता है। इस प्रकार वह क्रियाहीन ज्ञान अथवा इच्छारहित ज्ञान का प्रतीक बनकर रह जाता है। उसका चरित्र गौण हो गया है।⁵

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 220

2. उपरिबत्, पृ० 165

3. डॉ० उमा मिश्रा, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास साहित्य : एक अनुशीलन, पृ० 180

4. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 317-318

5. राज कवि, हजारी प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक उपन्यास, पृ० 82

अन्य पुरुष पार्श्व में विद्याधर भट्ट राष्ट्र-प्रेमी, समाज की जड़ता पर प्रहार करने वाला, दयालु, सफल ज्योतिषी और प्रेरक चरित्र है किन्तु वह कुछ विशेष कर नहीं पाता। बोधा प्रधान शस्त्र-ग्रहण न करते हुए भी युद्ध का संचालन करने में समर्थ है। उसमें बुद्धि का कौशल है तथा उसमें इतना साहस है कि निःशस्त्र होने हुए भी युद्ध-क्षेत्र में से घायल रानी के शरीर को सकुशल ले आता है। जल्हण ऐतिहासिक पात्र है। वह चन्द्र-बरदाई का पुत्र है। वह ऐतिहासिक घटनाओं की सूचना भर देता है। धीर शर्मा श्लोक बोलते रहने वाला पात्र है जो चन्द्रलेखा को रानी बनाने पर जोखिम उठाने की बात कहता है।

सींदी मौला एक चमत्कारिक ब्यक्तित्व है जिसे दिल्ली का सुसतान मरवा देना चाहता है। उसने अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर रखी है। वह अपने शरीर को लोहा बनाना जानता है। स्वर्ण बनाने की प्रक्रिया का भी उसे ज्ञान है और जन-सामान्य पर होने वाले अत्याचारों से वह सन्तप्त है। नागनाथ का महत्व यह है कि वह रानी को रसायन की ओर अप्रसर करता है किन्तु उसे अपनी गुरु नहीं बना पाता।

प्रस्तुत उपन्यास की नायिका चन्द्रलेखा है। उपन्यास के आरंभ में उसका सौन्दर्य और उसका चरित्र पाठक को अभिभूत करने में सक्षम होता है। वह स्पष्टवादी, आत्म-गौरव से युक्त, निष्कपट एवं गुरु में अडिग निष्ठा रखने वाली नारी के रूप में दिखाई पड़ती है। वह राजा को देखकर उससे तट्ठण तपस्वी को खोजने में सहायता लेती है। इस कार्य के लिए वह सहजतापूर्वक अपने को रानी बनाने का प्रस्ताव भी रख देती है। इस प्रस्ताव के समय उसके मन में इस भविष्यवाणी का भाव ही होता है कि उसे रानी बनना है। उस समय राजा के प्रति प्रेम के भाव की अभिव्यक्ति नहीं हुई है। वह तो जोखिम को भी बता देती है, वह राजा से कहती है कि "जोखिम तो है ही। मैं तो अपनी इच्छा से तुम्हारी रानी बनी हूँ। तुमने तो कभी मुझे रानी बनाने की इच्छा प्रकट नहीं की। फिर बिना विचारे तुमने यह स्वीकार कर लिया कि मैं जो चाहूंगी वह सब करोगे। यह क्या हो सकता है, महाराज? तुमने अगर मुझे रानी रूप में स्वीकार किया होता तो तुम्हें मुझसे कहना चाहिए या कि मैं जो चाहूंगा वह सब तुम करोगी। मैं तो तुम्हारी रानी हो गयी हूँ, परन्तु तुम मेरे सेवक बन गये।"¹ अस्तुतः रानी के मन में युवा नागनाथ के प्रति कहीं अभिलाष-भाव था, इसी कारण वह राजा को छोड़कर रसायन घोटने चली जाती है। वह अपने आपको रानी के स्थान पर चन्द्रलेखा ही कहने लगती है। उसकी स्थिति विशिष्टों जैसी प्रतीत होती है।

रानी बत्तीस सदाशो में युक्त है। उसके ये सदाश ही उसे रानी बनाते हैं और ये ही उसे राजा से दूर ले जाते हैं। योग और रसायन में बत्तीस सदाशों से युक्त नारी का विशेष महत्व होता है। यही कारण है कि "आरंभ में वह अभिभूत करती है और उमकी एक विशेष प्रकार की प्रतिमा हमारे मन पर अंकित होती है। किन्तु बाद में लगभग अकारण वह इतनी निरस्तेज पड़ जाती है कि उस पर दया भी नहीं आती, उमसे कोई

सहानुभूति तक नहीं बचती। यद्यपि राजा तथा अन्य सभी व्यक्ति (और इस प्रकार उनके माध्यम से स्वयं लेखक) अब भी उसके उसी पूर्व रूप का स्मरण करके अपना आदर प्रवृत्त करते रहते हैं। यह भी अपने आप में विचित्र और अस्वाभाविक सगता है।”¹

इच्छारूपिणी भट्टिनी रगायन की प्रक्रिया पूर्ण होने के पश्चात् नागनाथ के शव को लिए उड़ती-फिरती है। इच्छा की यह क्रियाहीन उड़ान उसे क्रिया और ज्ञान से दूर रखती है। जब सद्गुरु के द्वारा क्रियाशक्ति से मिलन होना है तो ज्ञान स्वयं पास आ जाता है किन्तु उपन्यासकार ने उन्हें फिर भटका दिया है जिससे रानी के चरित्र में वह उदात्तता नहीं आ सकी है।

‘चार चन्द्रलेख’ उपन्यास का सबसे सशक्त पात्र मैना उर्फ मैनासिंह है। सत्रह-अठारह वर्ष की बालिका का चरित्र अद्भुत है। वह परम वीर, सेवा-परायण, कर्तव्य-निष्ठा से ओतप्रोत और समर्पण की प्रतिमूर्ति ही है। वह चन्द्रलेखा की सखी बन जाने के पश्चात् सखि-धर्म का निर्वाह करना चाहती है, चोघा प्रधान उमै मैना में प्रवेश दिला देते हैं। पुरुष-वेश में वह राजा का नैकद्वय प्राप्त करती है और उनकी सेवा करती है। वह वास्तव में ही क्रिया-शक्ति की प्रतीक है।

उपन्यास का कोई भी पात्र ऐसा नहीं है जो उसके कठोर सत्य और अद्भुत वीरता से प्रभावित न होता हो। सीदी मौला जैसा पात्र भी मैना की बात सुनकर हतुप्रभ हो जाता है। क्रिया-शक्ति निःश्लेषण को कैसे सहन कर सकती है? वह राजा को प्रेरित करती है कि “छोडो महाराज, छोडो इन छोटी सीमाओं के घेरो के भय नहीं है। अगर इस कार्य में हममें से प्रत्येक को कालदेवता का अतिथि बनना पड़े तब भी कोई चिन्ता नहीं। हमारे रक्त से सनी घरती का प्रत्येक कण, उससे उत्पन्न प्रत्येक दाना भावी पीढ़ियों को साहस और निर्भीकता का संदेश देगा। यह फूक-फूककर पैर बढ़ाने की नीति वीरजनोचित नहीं है। मेरी सहन की सीमा समाप्त हो चुकी है। उठो महाराज, प्रचण्ड आधी की भाँति बहो।” कायरों और कभीनों को शरण देने वाले गड पर धक्का मारो।”²

वह प्रयुत्पन्नमति है। जैसे ही उसे शत्रुओं के आक्रमण का ज्ञान होता है, कभी वह अपनी अतिशक्ति सेना से परावर फिक्काकर और कभी वह जराते हुए बस्त्रादि फेंककर शत्रुओं के पैर उखाड़ देती है और राजा को बचा लेती है। राजा के लिए वह अपनी बलि तक देने की प्रस्तुत हो जाती है। राजा को भटका हुआ देखकर वह सीधे पहाड़ पर से नीचे फिसलने लगती है। सीदी मौला जब सभी को देश की रक्षा और धीर शर्मा की रक्षा से एक को चुनने की बात कहकर शक्ति और धर्मित कर देता है तो वह आकर सीदी मौला को भी मानो धकेल देती है—

“उठो आर्य, धीर शर्मा की रक्षा करने का भार मुझ पर छोडो। इन बकवादी

1. नैमिचन्द्र जैन, दृष्टि केन्द्र का स्थलन, स० शिवप्रसाद सिंह, शांति-निकेतन से शिवांकिक, पृ० 298
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 437

निठल्ले सिद्धों के चक्कर में मत पड़ो। ये विद्याइना जानते हैं, सवारना नहीं जानते। जगत्-प्रवाह से विच्छिन्न होकर व्यक्तिगत साधना के कचुक से निरन्तर सकुचित होते रहने वाले इन सिद्धों ने सत्य को खडित किया है। ये क्या जानते हैं कि देश-रक्षा का अर्थ है शक्ति का बलिदान। हम मरणव्रत में दीक्षित हैं, हम निठल्ले साधकों की आत्म-वचना वाली दुनिया के जीव नहीं हैं। हम अपने को प्रतिक्षण, तिल-तिल करके आहुति देने वाले गृहस्थ हैं। ये मिद्ध इस वीर साधना को नहीं समझ सकते।¹

वह रानी चन्द्रलेखा को भी मनोवैज्ञानिक ढंग से राजा की ओर आकृष्ट करती है। रानी के मन में ईर्ष्या को जगाने का प्रयास करती है—

“क्या ? ईर्ष्या ?”

“हा दीदी, ईर्ष्या।”

“तो तू चन्द्रलेखा से भी ईर्ष्या करने लगी होगी ?”

“कहीं चन्द्रलेखा मिले तो अच्छा पाठ पढा दू।”²

वह राजा के प्रति समर्पित है किन्तु नारी-विग्रह के कारण उसके समर्पण में उसका विग्रह भी भागे आ जाता है, इसलिए वह बोधा प्रधान को मंदिर ले जाकर उससे विवाह करके अपने समर्पण को पूर्णतः सात्त्विक बना लेती है। जब उसे यह ज्ञात होता है कि उसके कर्म से कहीं हानि हो गयी है तो वह अपघात करती है।

अन्य नारी पात्रों में भगवती विष्णुप्रिया और नाटी माता का चरित्र है। उनका चरित्र रानी को राजा के प्रति पुनः समर्पित भाव लाने की प्रेरणा प्रदान करने वाला है। वे समर्पित और भक्ति के प्रतीक पात्र हैं। भगवती विष्णुप्रिया अहंकार को समाप्त करने पर बल देती हैं तो नाटी माता दलित द्राक्षा के समान सम्पूर्ण समर्पण पर।

पुनर्नवा के पात्र

‘पुनर्नवा’ के पात्र पिछले दोनों उपन्यासों की तुलना में अधिक सशक्त और स्वाभाविक हैं। पुरप पात्रों में गोपाल आर्यक, श्यामरूप और देवरात प्रमुख हैं। उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए चन्द्रमौलि (काहिदास) का सहारा लिया गया है। नारी पात्रों में मृणाल मंजरी, चन्द्रा और धूता भाभी का महत्व है।

उपन्यास का नायक गोपाल आर्यक है। वह साहसी और परमवीर युवक है। निर्भीकता उसमें कूट-कूटकर भरी है। मैना के प्रति उसमें प्रेम का भाव है किन्तु चन्द्रा के उद्दाम प्रेम से भी प्रभावित है। चन्द्रा के साथ लिच्छवियों से घिर जाने पर उसने जो शौर्य और पराक्रम दिखाया था, उसका वर्णन मथुरा में वृद्ध ब्राह्मण ने श्यामरूप के समक्ष किया—

“कोई पचास लिच्छवि युवक एक ओर थे और आर्यक अकेला था। जिन दुर्दान्त लिच्छवियों ने किसी का लोहा नहीं माना, वे आर्यक के बाहुबल का लोहा मान

1. हजारौ प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 445-446

2. उपरिक्त, पृ० 404

है। वस्तुतः तो देवरात कोरे पाण्डित्य के प्रतीक पात्र है। सुमेर राजा उनसे इस चरित्र को भली-भांति समझते हैं, इसलिए मृगाल मंजरी से कहते हैं कि "तेरे पिता देवरात पंडित हैं जो कहते हैं, तर्क के तराजू पर तोलकर फटते हैं।"³ यही कारण है कि सुमेर काका हार मान लेते हैं किन्तु हारने नहीं।

आचार्य देवरात में भावुकता और गहृदयता का सुन्दर समन्वय है। यही कारण है कि मजुला में शर्मिष्ठा का रूप देखकर भी वे नारी को भोग की वस्तु नहीं मानते। वे मजुला को नया मार्ग दिखाने में समर्थ होते हैं। उनके अन्दर के देवता को जगाकर उसे महाभाव का स्वप्न सजा देते हैं। अध्यापक की बुद्धि होने के कारण वे गुरु हैं। गोपाल आर्यक, श्यामरूप और मृगाल-मंजरी को उन्होंने ही शिक्षा प्रदान की।

अनेक सद्गुणों से युक्त होने पर भी आचार्य देवरात मोहग्रस्त रहते हैं। भगवान् की बनायी शर्मिष्ठा तो बहुत पहले मर गयी किन्तु उन्होंने उसके मोह को अपने हृदय में पाल रखा है। मजुला की आत्मा के आह्वान पर वे अपने शिष्यों को आशीर्वाद न देकर मपुरा चले जाते हैं। मपुरा में भी उन्हें शान्त नहीं देखा जाता। उनके मन में गति है किन्तु वह बाह्य रूप नहीं ले पाती। उनके मन में पति, गुरु, समाज-सेवक, पिता तथा उद्दिग्ध विरही का रूप है किन्तु मोह-अस्तता ही उसे जड़ता प्रदान करती है। महाभाव का शिक्षक ही महाभाव की साधना में ढिगा प्रतीत होता है। वस्तुतः द्विभेदी जी का मत ऐसा प्रतीत होता है कि नारी के बिना पुरुष अगतिवान् हो जाता है। उनके बाणभट्ट और राजा मातवाहल की भी यही स्थिति होती है।

श्यामरूप की भटकन का कारण उसे जातीय शिक्षा जो उसके मन के अनुरूप नहीं है, दिलाने का प्रयास है। यह मरल-विद्या के प्रति आडम्बर है किन्तु आचार्य देवरात उनके ब्राह्मण-भस्कार को जाग्रत करने के लिए धर्मशास्त्र की शिक्षा दिलाना चाहते हैं जिनके कारण वह हलदीप से भाग जाता है। भागने का मुफल यह मिलता है कि वह चौधरी जम्भल जैसे गुरु की देखरेख में एक अप्रतिम मस्ति बन जाता है। वह थावस्ती में मद्र देश के अञ्जुक को और मपुरा में मांगू को पराजित करने में समर्थ होता है। छबीला पंडित के रूप में वह अञ्जुक को हराकर भारी यश अर्जित करता है और शाविलक के रूप में वह मांगू को हराकर पुनः भारी यश पाता है।

उज्जयिनी में वह राजा पालक की सेना का बहादुरी से सामना करता है। वह नगर की जनता, वसंतसेना, गोपाल आर्यक की रक्षा के लिए रात्रि-भर युद्ध में तल्लीन रहता है। इस कार्य में नगर के बाहर मंदिर के पुजारी की पत्नी जो उसके लिए माता समान बन जाती है, के द्वारा दी गयी तलवार सहायक बन जाती है।

वह भावुक प्रकृति का सच्चरित्र-नवयुवक है। मादी से वह प्रेम करता है। उसको मुक्त कराने के लिए यदि चोरी भी करनी पड़े तो उसे हिचक नहीं। वह मादी की मुक्ति के लिए आवश्यक 500 रुपये प्राप्त करने में किसी प्रकार का पाप नहीं मानता। नट-मण्डली की नारियों के बासनापरक मजाक उसे लज्जित कर देते हैं किन्तु

मादी के प्रथम दर्शन भी उन्हीं के कारण होते हैं ।

शाविलक युद्ध के समय जो व्यवस्था करता है, उससे उसकी कुशाग्र बुद्धि का परिचय मिलता है । वह नागरिकों में प्रतिरोध-भावना भरता है तथा युद्ध के समय कम-से-कम नर-हानि हो, इसका ध्यान रखता है ।¹

इस प्रकार गोप दम्पति द्वांग पालित ब्राह्मणकुमार एक गोप के समान ही बलशाली के रूप में विकसित होता है और अन्त में अनायास ही उसे बृद्ध ब्राह्मण-दम्पति का जो स्नेह मिल जाता है, उससे उसके सारे अभाव ही भर जाते हैं । उसे उज्जयिनी में पत्नी के रूप में मादी भी मिल जाती है जिससे उसके चरित्र की पूर्णता हो जाती है और भटकन समाप्त ।

उपन्यास में कालिदास को चन्द्रमौलि के नाम से एक पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है । वस्तुतः आचार्य द्विवेदी 'कालिदास की लालित्य-योजना' शीर्षक पुस्तक पर कार्य करने के पश्चात् कालिदास को ही आधार बनाकर एक उपन्यास लिखने की योजना बना चुके थे किन्तु प्रस्तुत उपन्यास में वह एक सामान्य पात्र के रूप में ही रह गया है । सामान्य पात्र होने हुए भी उसका चरित्र विशिष्ट है ।

रघुवश से सर्वधित चन्द्रमौलि ने शृंगार रस का काव्य लिखना आरम्भ किया था । प्रकृति के प्रति उसके मन में बहुत आकर्षण था । वह एक उच्च कुल की रूपवती राजदुहिता से प्रेम करता है । राज-परिवार की ओर से बताया गया कि उसकी प्रेयसी की मृत्यु हो गयी । उसने प्रकृति के उपादानों में अपनी प्रिया के विभिन्न अंगों के दर्शन किये किन्तु सम्पूर्णता में उसे अपनी प्रिया के दर्शन न हो सके ।

चन्द्रमौलि भगवान् शिव और शक्ति में विश्वास रखता है । वह नारी को प्रसन्न रखने की कामना करता है क्योंकि नारी शक्ति का निकटस्थ प्रतिनिधि है । शिव ने काम को भस्म किया किन्तु काम अशरीरी रूप से जीवित है । भगवान् शिव ने जब शक्ति को प्रसन्न करने के लिए साधना की तो शिव को वह अस्त्र प्राप्त हुआ जिससे महा अनुर को सदैव के लिए नष्ट किया जा सका ।² वे पुरुष में कायरता नहीं देख सकते और वीर पुरुष के लिए नारी का सम्मान आवश्यक मानते हैं । इसलिए ये महाकाल के दर्शन करने आये हैं जिनमें प्रार्थना कर सके कि कायर पुरुषों को वीर बनाये और वीर पुरुषों को नारी का सम्मान करने की बुद्धि दें ।

चन्द्रमौलि गोपाल आर्यक और आचार्य देवराज को महान् व्यक्तित्व के रूप में देखता है । गोपाल आर्यक की भटकन का कारण वह लोकापवाद को मानता है । उसकी दृष्टि में लोकापवाद झूठ पर आधारित झूठा प्रपच है ।³ चन्द्रमौलि लोक-स्तुति को दृष्टि में रखकर कार्य करने को भी अनुचित समझता है क्योंकि लोक-स्तुति लोकापवाद से भी बड़ा धोखा है । उसकी दृष्टि में मानव के दुःख का मूल कारण मानव द्वारा निर्मित

1. पुनर्नवा, पृ० 243

2. उपरिवत्, पृ० 103-104

3. उपरिवत्, पृ० 115

विधान है। मनुष्य के बनाये विधान जब परमात्मा के द्वारा बनाये विधानों से टकराते हैं तो सपथ, अज्ञाति और पीड़ा उत्पन्न होती है। गोपाल आर्यक और आचार्य देवरात के दुःखों का मूल कारण यही है।

चन्द्रमौलि मानव की रचना को सीमा मानता है किन्तु यह सीमा परमात्मा का वरदान है। परमात्मा की रचना की तुलना में मानव की रचना अधिक स्थायी होती है। वह परम शिव का भक्त है किन्तु परमात्मा को मंदिरों में बंद कर सामान्य जन के लिए उसके द्वार बन्द कर देने को वह अनुचित कहता है। वह सरस्वती की उपासना के द्वारा कुछ ऐसा वरदान चाहता है जिससे सौन्दर्य की रक्षा की जा सके। वह स्पष्ट कहता है कि "वाग्देवता की अराधना द्वारा कुछ ऐसी सिद्धि पा सकूँ जो नरमांस भक्षी भुङ्खड़ गिद्धी की लोलुप्ता से संसार की सौन्दर्य-लक्ष्मी की रक्षा कर सकूँ।"¹

चन्द्रमौलि का चरित्र एक महान् कवि का है। वह संसार से उत्पीड़न, अत्याचार और मानव-विक्रम में बाधक मनुष्य द्वारा निर्मित विधानों का विरोधी है। नारी-सम्मान की रक्षा के लिए वह वृत्त-संकल्प है और अपने काव्य में सौन्दर्य के साथ इन्हीं विचारों को प्रस्तुत करने का इच्छुक है।

सम्राट समुद्रगुप्त धर्म के अनुयायी और रक्षक के रूप में चित्रित पात्र है। उन्होंने अधर्मी राजाओं के राज्य का विनाश किया और धर्म के अनुकूल चलने वाले को राजगद्दी पर बिठाया। नारी-सम्मान और उसकी रक्षा के लिए वचनबद्ध होने के कारण ही चन्द्रा के प्रसंग में अपने कैलि-सखा गोपाल आर्यक को कड़ा पत्र लिखते हैं। वे धर्म के इस तत्व को ममझते पर कि अकेले में विचार कर किसी तथ्य को सत्य मानना न्यायसंगत नहीं है, खेद से भर उठते हैं। वे इमीलिए अपने मित्र, कैलि-सखा गोपाल आर्यक से मिलने का सदेव भेजते हैं। उनके सन्देश में स्पष्ट कहा जाता है कि सम्राट् गुप्त कुल के सेनापति में नहीं अपितु अपने मित्र से मिलना चाहते हैं। इससे समुद्र-गुप्त के चरित्र की गरिमा बढ़ती है।

माठव्य शर्मा और मुमेर काका—उपन्यास के दो अनुपम और जीवन्त पात्र हैं। माठव्य शर्मा सभी का दादा है तो मुमेर काका सभी का काका है। माठव्य शर्मा में परिहास करने की क्षमता है, इमीलिए वह राज-दरबार में स्थान पा सका। वह अपनी मूर्खता बेचकर सभी को हँसाना है। जटिल परिस्थिति में भी उसे हँसाना आता है। इसके अतिरिक्त उसके चरित्र में मरलता, स्नेह, ममता और लोकहित की भावना है। वह काव्य का उद्देश्य धनार्जन और यशोपार्जन मानता है। दूसरी ओर मुमेर काका फक्कड़ स्वभाव का व्यक्ति है। वह व्यवहार ज्ञान का धनी है किन्तु अज्ञित होने के कारण पाण्डित्य के धनी आचार्य देवरात से हार मान लेता है जबकि वह जानता है कि वही सत्य पर स्थित है। निर्भीकता, वीरता और निष्कपटता उसके गुण हैं। नये राजा के अत्याचारों का विरोध करने वाले गोपाल आर्यक का साथ देता है, मैना को महिषमर्दिनी बनने का पाठ पढ़ाता है, चन्द्रा के यथार्थ को जानकर वह न्यायाधिकारी से भी टकराने को तत्पर हो

जाता है और सत्य कहने में वह साज़ाट् से भी भयभीत नहीं होता।

गोण पात्रों में आर्य चारदत्त का चरित्र महान् है। दिन-भर परोपकार का कार्य करना ही उसके जीवन का सध्य है। वसन्तसेना से प्रेम करते हुए भी अपनी पत्नी घृता का पूर्ण सम्मान करता है। धृतिघ्नर, षण्डमेन और भटाकं देव पात्रों की धैर्यी के पात्र हैं। भानुदत्त दुष्ट पात्र है। विन्ध्याटवी के मित्र जावा 'बाणभट्ट' की अरमकथा' के ध्वजधृत अघोर भैरव के समान ही चमत्कारी पात्र है। वे मा भगवती के भक्त हैं। नारी को वे अपनी आराध्या के रूप में ही देखते हैं।

'पुनर्नवा' के नारी-पात्रों में मृणाल मजरी, चन्द्रा, मजुला और घृता भाभी का विशेष महत्व है। उपन्यास की नायिका मृणाल-मजरी है। वह सतियों का आदर्श, परम गौभाष्यवती, उदार, स्वाभिमानिनी, महामिद्विनी और निहवाहिनी की उपासिका साक्षात् सलितारूपिणी है।

मृणाल-मजरी के नाम का सवु सस्करण मीना है। मीना का मोन्दर्य, उमकी अपूर्य माधुरी और चान्ता उसकी माता गणिका मजुला से प्राप्त हुआ तथा उमके चारित्रिक गुणों का विरास उसके धर्म पिता आचार्य देवराज द्वारा दिया गया। यही कारण है कि अत्याचार और अनाचार के विनाश के लिए वह नारी होकर भी कुछ करना चाहती है। वह अपने पिता से कहती है कि "पिताजी, मैं क्या इस समय आपके किसी काम नहीं आ सकती? दिन-दहाड़े प्रजा की सम्पत्ति सूटी जा रही है, बहू-बेटियों का शील नष्ट किया जा रहा है। आपकी यह अभागिन कन्या क्या इस समय कुछ भी नहीं कर सकती है? आपका मुखाम्मा मुख मुझसे नहीं देखा जाता। मुझे भी कुछ करने की आज्ञा दें।"² वह गुमेर काका से भी कहती है कि उमने गोपाल आर्यक के दल में प्रवेश दिलवा दें।

मित्र जावा उम सलितारूपिणी का रूप इसीलिए बताते हैं क्योंकि उसमें परमात्मा के प्रति निष्ठा का भाव, पतिव्रता या स्वरूप और शील की पराकाष्ठा है। स्वयं समुद्रगुप्त भी मन्दिर में उमकी आराधना को देखकर कहता है कि "पार्वती की प्रतिमूर्ति, महादेव की अनुग्रहेच्छा, विधाता द्वारा भक्ति की वसा, उममें सतीत्व का मिश्रण करके और गंगा की धारा से तरलित करके सलितारूपिणी देवी के गात्र में सिरजा है।"²

यही कारण है कि गात्रों की स्त्रिया उसकी पूजा 'मीना माजर देई' के रूप में करने लगी। चन्द्रा और घृता भाभी के अनुसार गोपाल आर्यक की विजय का कारण मीना का सतीत्व ही है। यही उमकी रक्षा करता है। वह पति के प्रति पूर्ण समर्पित है, इसलिए चन्द्रा को हलद्वीप ले जाने के लिए गोपाल आर्यक को प्रेरित करती है। स्वाभिमानिनी इतनी है कि हलद्वीप पर गोपाल आर्यक की विजय के पश्चात् वह उससे मिलने नहीं जाती। स्वयं गोपाल आर्यक को ही उमके पास आना पड़ता है।

भारतीय नारी जीवन का आदर्श सती मीना त्रिपुर मुन्दरी का ही रूप है, इसी-लिए त्रिपुर भैरवी रूपी चन्द्रा का भाष्य टकराने पर मीना की ही विजय होती है।

1. पुनर्नवा, पृ० 38

2. उपरिक्त, पृ० 276

उदारतापूर्वक वह अचेत चन्द्रा का सिर गोपाल आर्यक की गोद में रख देती है और चन्द्रा विचार ही करती रह जाती है। चन्द्रा का सारा कलुष और उद्दाम वासना का रूप मीना के पास आने पर मातृत्व की भंगा में परिवर्तित हो जाता है। वह पारम पत्यर है। चन्द्रा का यह कथन उचित ही है कि "तेरे भीतर वही अखण्ड ज्योति जल रही है। तेरे निकट जो भी आयेगा वह अगर छेड़ने की कोशिश करेगा, भस्म हो जायेगा। थोड़ा दूर-दूर रहेगा तो आलोकित रहेगा। चन्द्रा आज आलोकित है। आर्यक की रक्षा तेरी यह आलोकित शिखा ही करती है।"¹

'पुनर्नवा' में मनुष्य के बनाये विधि-विधान के प्रति साक्षात् विद्रोह की प्रतीक चन्द्रा का चरित्र अनुपम है। उसे 'वाणभट्ट की आत्मकथा' की निउनिया और 'चाह-चन्द्रनेत्र' की मीना का विकसित रूप माना जा सकता है। निउनिया की उद्दाम वासना की परिणति मातृत्व भाव में करके द्विवेदी जी ने उसे आदर्श नारी के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। अहंकार का बीज जिसके हृदय में अकुरित हो ही जाता है जो प्रिय को सन्ध्या रूप में देखती है, ऐसी सती नारी साक्षात् त्रिपुर भैरवी ही हो सकती है और द्विवेदी जी ने उसे उसी रूप में प्रस्तुत भी किया है। प्रस्तुत उपन्यास के नारी पात्रों में सबसे अधिक प्रतिभाशाली, त्रिया-शक्ति का प्रतीक, प्रिय के प्रति पूर्णतः समर्पित और लोहे के समान प्रिय रूपी चुन्बक के प्रति आकर्षित होने वाली नारी चन्द्रा है।

चन्द्रा की सौनेली माता ने उसका विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध एक नपुंसक पुरुष श्रीचन्द्र के साथ कर दिया था। श्रीचन्द्र का व्यवहार भी उसके प्रति अमानुषिक था। वह श्रीचन्द्र को कभी अपना पति भी न मान सकी। उसकी दृष्टि में तो उसका पति होने की योग्यता केवल उसके प्रिय आर्यक गोपाल में ही थी किन्तु गोपाल आर्यक का विवाह मृणाल मंजरी के साथ हो गया था। उसने इसकी चिन्ता किए बिना गोपाल आर्यक को आकर्षित करने के विविध प्रयास किए। उद्दाम वासना से प्रेरित पत्र लिखे, रात्रि को निर्जन में 'बचाओं-बचाओ' की ध्वनि करके गोपाल आर्यक को अपने पास बुलाया और उसे घुरी मानकर परिधि बनी उसके चारों ओर घूमती रही। श्रीचन्द्र द्वारा उसे घर में निकाल दिये जाने पर वह गोपाल आर्यक के घर की ओर चली। गोपाल आर्यक के भागने पर वह उसके पीछे-पीछे चली गई। समुद्रगुप्त द्वारा तीव्र वचन कहे जाने पर वह गम्राट से भी भिड़ गई और सीधे हलद्वीप में आकर मृणाल मंजरी के साथ रहने लगी।

अपने प्रिय गोपाल आर्यक के प्राणों की रक्षा करने में तो वह साक्षात् दुर्गा ही बन जाती है। प्रायः आर्यक जब जलने हुए घर के दरवाजे पर पड़ा था तो वह दौड़कर उस गवःजवान को ऐसे उठा लाती है जैसे वह कोई शिशु हो और अपने वस्त्र फाड़कर, प्रायः निर्बस्त्र होकर, उसके पावों में रिमते रक्त को रोक देती है। वह लोकोपवाद से भयभीत नहीं होती। वह मुमेर काका से स्पष्ट शब्दों में बहती है कि यदि वह सती नहीं है तो कोई अन्य नारी गती हों ही नहीं सकती। मुमेर काका इसीलिए स्पष्ट कहते हैं कि "चन्द्रा

जैसी पारी तेजस्विनी गती नारी संसार में दुर्लभ है।¹ सन्ध्यासिनी माता तो धृता में स्पष्ट रहती हैं कि "चन्द्रा का प्रेम अप्रतिम है। अग्निशिखा की तीव्र आंच को देखकर उसकी परिश्रमा पर शक नहीं करनी चाहिए। आर्यक से कह दे कि चन्द्रा ने उसके प्रेम के लिए जो त्याग किया है, वह समार की शायद ही कोई कुलांगना कर सकी हो। वह अथद्वय नहीं, नमस्म है।" उसके प्रेम में जाने का नहीं सुटाने का वेग है।²

आरम्भ में चन्द्रा में जो उद्दाम वासना का भाव था, उसके लिए भी वह स्वयं दोषी नहीं थी, अपितु उसे जो परिवेश मिला, वही दोषी था। वह स्वयं बताती है कि "विमाता स्वयं उन्मादगामिनी निकली। बचपन से मैं उद्दाम काम-वासना के वातावरण में पली। मेरे शरीर में विघाता ने जाने कौमी आग जला दी थी। केवल यामना, केवल उन्माद था, केवल अथ पुश्तल विक्रम।"³

वस्तुतः चन्द्रा के चरित्र के अवगुणों के लिए वह दोषी नहीं अपितु मनुष्य का बनाया विधि-विधान, उसका पारिवारिक परिवेश और समाज दोषी है। उसके गुण इतने हैं कि वह नेतृत्व-शक्तता से परिपूर्ण है। उसके प्रेम को नवयुवतिया आदर्श मान सकती हैं और लोक-नीतो की वह नायिका हो सकती है। चन्द्रा का लोक-विधुन रूप ही उपन्यास-कार को प्रभावित कर गया था और द्विवेदी जी ने उसका चरित्र निमित्त करने समय उसे और भी महान बना दिया।

मजुला उपन्यास का तीमरा प्रमुख पात्र है। हमद्वीप की नगरधी मजुला मादक रूप वाली गणक नर्तकी और नायिका है। आरम्भ में सामान्य गणराजों के समान वह अपनी आलोचना करने वाले आर्य देवराज को "दम्भी, क्लीव तथा कुलाप्रिय" मानती है किन्तु बाद में बह इम निष्कर्ष पर पहुँचती है कि एकमात्र सहृदय आचार्य देवराज ही है। यह भावार्थ देवराज पर विगुड कलाकार बनकर ही विजय प्राप्त करता है किन्तु जीतकर स्वयं हार जाती है।

आचार्य देवराज को मुद्र और आराध्य मानकर महाभारत की प्राप्ति की ओर अग्रसर होती है। उसका देह-स्वापार का पारंगम चलता रहता है किन्तु उसका मन आचार्य देवराज में ही लक्ष्मीन रहता है, इसलिए जेमे समय उत्तम पुत्री को वह आचार्य देवराज की ही समर्पित करती है। पुत्री के नामकरण और विवाह के समय के उपहार में एक ओर उसकी गतिवत् मन स्थिति और पुत्री की कल्याण-व्यमना का ज्ञान होता है तो दूसरी ओर उसकी विनयता का ज्ञान भी होता है। यह नारी की विनयता बताने हुए कहती है कि—

"माध्वी रमणिया पति का माध्यम पा लेती है। वे धन्य हैं, स्पृहणीय हैं। पर, हाथ गणिका का माध्यम नहीं होता। वह अनुपमिण भोग के बिनाट दावानल में झुलगती रहती है। नागी का जीवन विनी एर को सम्पूर्ण रूप में समर्पित होकर ही चरितार्थ

1. पुनर्वा, पृ० 278

2. उपरिबन्, पृ० 271

3. उपरिबन्, पृ० 183

होता है।¹

वह गणिका निश्चित रूप से धन्य है जो किसी की भावमूर्ति को माध्यम बनाकर महाभाव के रस में डूबने-उतराने लगती है, वात्सल्य के मोह में भटकती है। इसलिए उसकी आत्मा भटकते हुए भी मानव-कल्याण में रत होती है। वसन्तसेना को घूता के पाम पहुंचाकर त्रिय-मिलन के मार्ग पर भेजती है और गोपाल आर्यक को चारुदत्त के पास भेजकर उज्जयिनी-विजय का मार्ग प्रशस्त करती है। आचार्य देवरात को गुरु मानने में उसे शिव जैसा पिता और कृष्ण जैसा प्रेमी मिलता है। वह अपने भटके गुरु को भी उस महाप्रेमिक कृष्ण के पाम ले जाने में समर्थ होती है। इस प्रकार मृत्यु के पश्चात् भी वह अपनी शिष्यता को मार्गक बनाती है।

घूता भाभी का चरित्र एक सती का चरित्र है। वह मृपाल-मंजरी की छायामात्र बनकर रह गई है। उसका महत्व केवल इतना है कि वह गोपाल आर्यक के मन की सभी शकाओं का ममाधान करने में सफल हो जाती है। मांढी के चरित्र द्वारा सामाजिक विधि-विधान पर प्रश्न-चिह्न लगाया गया है। नारी का वस्तु की तरह विक्रय चिनीना व्यापार है जिसकी शिकार मांढी होती है। वसन्तसेना मजुसा की छाया है। उसका चरित्राकन भी 'मूच्छकटिक' के आधार पर ही हुआ है।

'अनामदास का पोथा' के चरित्र

'अनामदास का पोथा' के चरित्रों में रैख का चरित्र ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अन्य पात्रों में माता शूनभरा और जावाला आकर्षक चरित्र हैं।

रैख ऋषि के पुत्र रैख नारी पदार्थ में अपरिचित चितन प्रधान तपस्वी हैं। उपन्यासकार ने उसका चित्रण करते हुए लिखा कि "लडका चितन-मनन में इतना खो गया कि उसे ममार की किमी और बात का ध्यान ही नहीं रहा। केवल ध्यान करता था और समझने का प्रयत्न करता था कि वह मूल तत्व क्या है जिसमें सब-कुछ उत्पन्न होता है और जिसमें सब विलीन हो जाता है।"²

रैख के चितन का निष्कर्ष था कि वायु ही सबसे प्रधान तत्व था। उसने वायु पर अधिकार करने के लिए ममाधि लगायी और इतनी सिद्धियां प्राप्त कर ली कि वह रोगियों को भी ठीक कर देता था। जीवन में पहली बार उसने जावाला को देखा जिसका वह नाम शुभा गमग्रता रहा। वह मभी में उसकी प्रशंसा करता और उसे अपना गुरु धरता। उसके प्रति अभिमाया-भाव होने के कारण उसकी पीठ में गन्तनी-सी मचनी रहती।

रैख अत्यन्त भोला है। उसे अपनी शक्तियों का भी ज्ञान नहीं है। आचार्य उदुम्बरायण कहते हैं कि "वह अपने प्राणों को इस प्रकार निष्कृत कर सकता है कि लोग रोग-मुक्त हो सकते हैं। हज़ारों की संख्या में लोग उसकी सिद्धियों में लामान्वित हुए हैं।

1. पुनर्नवा, पृ० 56

2. अनामदास का पोथा, पृ० 25

पर वह ऐसा भोला है कि कुछ जानता ही नहीं।”¹ माता ऋतंभरा से मिलने के पश्चात् उमका जीवन ही परिवर्तित हो जाता है। वह सभी शास्त्रों को पढ़ता है और सेवा-भार में लग जाता है। दोन-दुखियों की सेवा को वह सर्वाधिक महत्व प्रदान करता है। ऋतंभरा जब उससे पूछती है कि शुभा यदि उसकी बुद्धि की परीक्षा लेने को कहे तो क्या उत्तर देना चाहिए, रैक्व जो उत्तर देता है, वह उसके चरित्र की गुरी है—

“मेरे पाम अगर वह बुद्धि की परीक्षा लेने आवेगी तो उसे गाड़ी धीचकर दोन-दुखियों तक खाच पहुंचाने को कहूंगा। इसी में उसकी बुद्धि की परीक्षा ही जायेगी। मा, जो दोन-दुखियों की सेवा नहीं कर सकता, वह क्या बुद्धि की परीक्षा करेगा।”²

रैक्व के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता उसका भोलापन है। राजकुमारी जाबाला उसके भोलेपन पर ही मुग्ध होती है। ऋतंभरा भी कहती है कि “बड़ा हो गया है पर है अभी शिशु ही—एकदम अवोध शिशु!”³

रैक्व अनुभव के बिना किसी बात को स्वीकार नहीं करता। वह जटिल मुनि से स्पष्ट शब्दों में कहता है कि “महात्मन्, अविनय क्षमा हो, मैं स्वयं अनुभव किए हुए सत्य को वास्तविक शक्ति मानता हूं। यहां आप अनुभव किया हुआ सत्य नहीं कह रहे हैं बल्कि अपनी माताजी का बताया हुआ कोई परामर्श देना चाहते हैं इसलिए मैं शुरु से ही उसके प्रति इतनी आस्था और आग्रह नहीं कर पा रहा हूँ जितनी मुझसे आपको आना है। मैं केवल उतना ही मुनना चाहता हूँ जितना आपका अनुभव सत्य है। उसे मैं तभी स्वीकार करूंगा जब मैं स्वयं उसका अनुभव करूंगा।”⁴ वह जटिल मुनि की माताजी का परामर्श मानकर जाबाला का उपोद्ग्रहण ही करता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचार्य द्विवेदी ने सेवा-वरायणता, पित्रता, भोलापन और उपोद्ग्रहण के द्वारा रैक्व के चरित्र को आदर्श और श्रेष्ठ मानव-चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया है।

औदुम्बरायण राजा जनश्रुति और राजकुमारी जाबाला के गुरु हैं। वे राजकुमारी जाबाला में पुत्री के समान ही स्नेह करते हैं। “बृद्ध आचार्य औदुम्बरायण उमके भी गुरु थे और उमके पिता के भी। जाबाला को तो उन्होंने गौद में खिलाया था। लड़की के प्रति उनका स्नेह और महत्त्व बहुत अधिक था। जाबाला की मा जब नहीं रही तो उसकी माता के समान ही उसे स्नेह और दुस्वार दिया। आचार्य उसके गुरु और माता दोनों का शर्म करते थे।”⁵

1. अनामदास का पोषा, पृ० 40

2. उपरिवन्, पृ० 89-90

3. उपरिवन्, पृ० 99

4. उपरिवत्, पृ० 172

5. डॉ० उमा मिश्रा, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास साहित्य : एक अनु-शीलन, पृ० 215

6. अनामदास का पोषा, पृ० 38

आचार्य जनता के दुःख से दुःखी हो उठते थे। "राजा जनश्रुति ग्रह्य तत्व को जानने के लिए व्याकुल हैं उधर प्रजा में ब्राहि-ब्राहि मची है। मैं तो कर्तव्य-मूढ़ हो गया हूँ, बेटी, पाप तो हो ही रहा है।"¹ आचार्य जाबाला के लिए उपयुक्त वर खोजते हैं किन्तु उसमें विवाह निश्चित न हो पाने पर वे रुठकर चले जाने हैं। आचार्य का चरित्र एक अभिभावक, मंत्री और पुरोहित के अनुरूप होता है। रैव द्वारा कटु शब्द कहे जाने पर वे अपमानित होते हैं किन्तु उसके भोलेपन से प्रभावित भी होने हैं। रैव के बारे में राजा जनश्रुति को सूचना भी वे ही देते हैं।

राजा जनश्रुति ज्ञान-पिपासु राजा के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। ज्ञान-पिपासु राजा अपने कर्तव्य से विचलित हो जाता है और आचार्य औदुम्बरायण द्वारा प्रजा के कष्ट बताये जाने पर कहता है कि "मुझे प्रजा के कष्ट की बात तो किसी ने नहीं बताई। राज-कर्मचारी क्या सो रहे थे? अन्न उगाहने के समय उन्होंने यह नहीं देखा कि अकाल पड़ा हुआ है? क्या उनका कर्तव्य नहीं था कि वे मुझे सूचना देते? राजा तो कर्मचारियों की आख में ही देखता है। इतना बड़ा अनर्थ हो गया और उन्होंने कुछ बताया ही नहीं।"²

राजा अपनी पुत्री के स्वास्थ्य को लेकर चिन्तित हीता है। उसको स्वस्थ रखने के लिए सभी प्रकार के उपाय करता है। अन्त में वह जाबाला का कन्यादान रैव के लिए करता है।

अन्य पुरुष पात्रों में मामा, आश्वलायन तथा जटिल मुनि का चरित्र ही कुछ उभर सका है।

मारी पात्रों में जाबाला और माता ऋतभरा का चरित्र ही प्रमुख रहा है। राजकुमारी जाबाला तो उपन्यास की नायिका ही है। वह अत्यन्त सुन्दर है। रैव के भोलेपन को देखकर उसके प्रति आकर्षित हो जाती है। वह उमरी विरहाग्नि में जलती रहती है किन्तु किसी को कुछ नहीं बताती।

राजकुमारी के मन में सेवा-भावना है। वह दीन-दुधियों की सेवा करने के लिए तैयार रहती है। वह अपने पिता तुल्य आचार्य से कहती है कि "नहीं तात, अपनी इस बेटी के रहने आपको कर्तव्य-मूढ़ नहीं होना पड़ेगा। मैं जनपद में घूमूंगी, आपको साथ लेकर। जब तक प्रजा भूयी है, जाबाला को शांति नहीं मिलेगी।"³ इसी प्रकार गाड़ी-दान की मुरपु के पशुचान् उसकी पत्नी की चिन्ता न किए जाने पर वह दुःखी हो उठती है। वह ऋतभरा में कहती है—

"मृतमे बड़ा अपराध भी हो गया है। मैं पाप-भावना का शिकार भी होगई हूँ। गाड़ीदान मर गया, उसके परिवार वालों की जिम्मी ने खोब-खबर नहीं ली। पिताजी बेटी के मरुक्त मोट आने की खुशी में ऐसे मग्न हुए कि उस बेचारे की पत्नी, और बच्चे

1. अनापदाग का पोया, पृ० 30-31

2. उपरिष्णु, पृ० 71

3. उपरिष्णु, पृ० 90

की सुध ही न रही। बड़ा पाप हो गया है मा। मेरा प्रायश्चित्त क्या होगा ?”¹

वस्तुतः सुन्दर जावाला का हृदय भी सुन्दर है। उसके मन में कर्णा का निवास है। प्रेम और कर्णा की मूर्ति के रूप में उसका चरित्रांकन कर ही उसे नायिका का रूप दिया गया है। आचार्य से उसने सम्पूर्ण ज्ञान भी प्राप्त किया है। ज्ञान और सौन्दर्य का उत्कर्ष कर्णा के ही द्वारा सम्भव है।

ऋतभरा दूसरा प्रमुख नारी-पात्र है। वे ओपस्ति-ऋषि की पत्नी है। उनका चरित्र एक तपस्विनी और साधिका के अतिरिक्त कर्णामयी मा के रूप में भी अभिव्यक्त किया गया है। वे बुद्धिमान है। निःसतान होने के कारण मातृहीन रैव को वे एक माता का सम्पूर्ण स्नेह प्रदान करती है। उनका सम्पूर्ण मातृत्व उसके ऊपर झलक जाता है। वे जावाला से कहती है कि “जब वह मा कहकर पुकारता है तो हिया जुड़ जाता है। अपने पेट का ज्ञाया भी उस सहज भाव से मा नहीं कहता होगा। हिया जुड़ा जाता है बिटिया, इतना बड़ा हो गया है पर छोटे शिशु की तरह अज्ञा मानकर चलता है। भगवान् ने मुझे कोई सतति नहीं दी, पर जीवन-भर ब्रह्मवादियों के साथ आस्त्यत्व की चर्चा करने के बाद भी मेरी यह लालसा नहीं गई कि कोई मा कहकर पुकारे। उसे भेजकर भगवान् ने मेरी यह लालसा पूरी कर दी है। स्त्री मा बनकर ही चरितार्थ होती है बेटी। तू भी उसी की तरह मुझे मा कहकर पुकारेगी तो मुझे अपार सुख मिलेगा।”²

वह रैव मुनि को सामान्य आचरण की शिक्षा देती है और धीन-दुखियों की सेवा के लिए प्रेरित करती है। रैव उसे मा के साथ-साथ गुरु भी मानने लगता है। ऋतभरा एकांत के तप को श्रेष्ठ नहीं मानती। वह रैव से कहती है कि “एकांत का तप बड़ा तप नहीं है, बेटा। देखो, ससार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दयिद्रता है, कुसंस्कार है। लोग दुःख से व्याकुल हैं। उनमें जाना चाहिए। उनके दुःख का भागी बनकर उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो। यही वास्तविक तप है। जिसे यह सत्य प्रकट हो गया है कि सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है वह दुःख-कष्ट से जर्जर मानवता की कैसे उपेक्षा कर सकता है वत्स ?”³

माता जी गाडीवान की मृत्यु के पश्चात् उस विधवा नारी को भी आश्रय देती हैं। वे जिजीविषा को महत्व प्रदान करते हुए कहती हैं कि “मुझे लगता है बेटा, जिसे लोग ‘आत्मा’ कहते हैं वह इसी ‘जिजीविषा’ के भीतर कुछ होंना चाहिए। वे जो बच्चे हैं, किसी की टांग सूख गयी है, किसी का पेट फूल गया है, किसी की आँख सूज गयी है—ये जी जायें तो इनमें बड़े-बड़े ज्ञानी और उद्यमी बनने की संभावना है। संभावना की बात कर रही हूँ। अगर यह संभावना नहीं होती तो शायद जिजीविषा भी नहीं होती। आत्मा उन्हीं अज्ञात-अपरिचित-अनुनय्यात संभावनाओं का द्वार है।”⁴

1. अनामदास का पोषा, पृ० 101

2. उपरिवत्, पृ० 59

3. उपरिवत्, पृ० 59

4. उपरिवत्, पृ० 87

वस्तुतः ऋतभरा एक माता का, जन-जन की माता का प्रतीक पात्र है। वे करुणा की साक्षात् अवतार ही बन गयी है। उनमें संगीतकार के भी गुण हैं। वह एक महान् चरित्र है।

आचार्य द्विवेदी ने अपने उपन्यासों में चरित्र-चित्रण के लिए प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों ही पद्धतियों का सहारा लिया है। उपन्यासकार स्वयं अपनी ओर से धर्षण करके पात्रों की विशेषताओं पर प्रकाश डालता है, इसे प्रत्यक्ष पद्धति कहते हैं। आचार्य द्विवेदी ने प्रायः सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण इस पद्धति से किया है। उन्होंने पात्रों के स्वगत कथन, दिवास्वप्न आदि के द्वारा चरित्र-चित्रण करके अप्रत्यक्ष पद्धति को भी अपनाया है।

भाषागत साहित्य

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हृदय से कलाकार हैं, उनके उपन्यासों के कथानक प्राचीनकाल से संबंधित हैं, कथानक का प्राण-सत्त्व प्रेम है और उपन्यासकार का दृष्टि-कोण मानवीय है, इसलिए उनकी भाषा में भावानुभूति की तीव्रता, कल्पना-प्रवणता और काव्यमयता का गुण सहज रूप से आ गया है। सलिल निवन्धों के समान ही उनकी भाषा में बिम्ब-विधान की क्षमता है।

आचार्य द्विवेदी गद्य में काव्य लिखते हैं और संस्कृत में बाणभट्ट में गद्य में काव्य लिखा है। इसलिए सहज रूप से उनकी भाषा पर बाणभट्ट का प्रभाव परिलक्षित होता है। बाण की भाषा में वक्रोक्ति चारुत्व, मृदुम-सौन्दर्य-चित्रण की क्षमता, अलंकारिता और भावात्मकता का गुण था और हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग हुआ है। विषय-प्रतिपादन के कारण उनके उपन्यासों की भाषा में कुछ अन्तर भी दिखायी पड़ता है। “बाणभट्ट की आत्मकथा” में ‘कादम्बरी’ की तरह भावोच्छ्वसित, उत्प्रेक्षा एवं रूपक-प्रधान लम्बे-लम्बे वाक्यों की प्रधानता है और ‘बाह-चन्द्रलेख’ में व्याख्यान एवं उपदेशों की भाषण-शैली की प्रधानता है। किन्तु तीनों ही उपन्यासों में विचार-प्रवाह, भावुकता, मानसिक-स्थिति, कार्य-व्यापार, प्रकृति-चित्रण, कथोपकथन आदि विभिन्न प्रसंगों के अनुरूप वाक्य-विन्यास का वैविध्य दिखाई पड़ता है।”¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में तीन प्रकार की भाषा के दर्शन होते हैं—(1) समास प्रधान लम्बे वाक्य, (2) समास प्रधान छोटे वाक्य और (3) समासों से रहित वाक्य। तीनों प्रकार के वाक्यों में मस्कृत के तत्सम शब्दों का वाहुल्य रहता है। भाषा में स्वाभाविकता का गुण ज्ञाने के लिए वे प्रचलित अरबी-फ़ारसी के शब्दों, देशज शब्दों और मुहावरे-लोकोक्तियों का प्रयोग करते हैं।

आचार्य द्विवेदी नारी-सौन्दर्य और नारी-सम्मान से सम्बद्ध-चित्रण में भावुकता का समावेश करते हैं तो अनाथाम ही उनकी भाषा तत्सम शब्दों से युक्त और समास-प्रधान हो जाती है। उस समय वे पात्र के संबंध में भी विचार नहीं करते। ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ में एक वृद्ध राजपूरी के संबंध में इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करता है—

“पट्टदेवी हर-जटा-प्रवाहिता जाह्नवी की भाति पवित्र है, अद्वितीय पति धर्म-चारिणी अम्बुधती की पार्थिव विग्रह है, इस धरित्री पर भूज में चली आयी हुई कल्प-लतिका हैं, पार्वती के तरल हास की मूर्तिमती प्रतिमा है, सरस्वती की कर्पूर-गौर कांति का ससार रूप हैं।”¹

पुरुष के वर्णन में भी द्विवेदी जी छोटे-छोटे समासों का प्रयोग तो कर ही जाते हैं। धावक का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि—

“चन्दन के अंगराग से उपलिप्त वक्ष-स्थल पर मालतीदाम सुशोभित हो रहा था, भुजमूलों में बकुल-पुष्पों का मनोहर बलय बड़ी सुकुमार भंगी से सजा हुआ था और संवारे हुए धूमिल केशों के पिछले भाग में दुर्लभ जाती-नुसुमों का मुच्छ बड़ा ही अभिराम दिखायी दे रहा था।”²

‘बाणभट्ट की आरमकथा’ में सम्ये-लम्बे वाक्यों का प्रयोग हुआ है। प्रकृति-वर्णन अथवा राजप्रामाद के वर्णनों में तो यह विशेषता प्रायः देखने को मिलती है। लोरिक देव के राज प्रसाद का कल्पित चित्रण इसी प्रकार का है—

‘मैंने मन-ही-मन सोचा था—लोरिक देव के प्रामाद के विशाल बहिः प्रकोष्ठ में शुक-सारिका, लाव-तित्तिर, कुजकुट-मयूर आदि पक्षियों का कलरव गुंज रहा होगा, गोमयांपलिप्त अजिरभूमि के सामने वाले द्वार पर मालती-माला लटक रही होगी, पार्वती वलिवेदिकाओं के ऊपर अभिराम शासभजिकाएँ व्याप्त या उत्कीर्ण होगी, शयन-कक्ष में स्पन्दन, देवदास या हरिचन्दन की शय्या और असित की प्रतिशय्यिका होगी जिनमें मांगलिक दन्तपत्र सुशोभित होंगे, शय्या के सिरहाने कूर्चस्थान पर उनके इष्टदेव की मनोहर मूर्ति सजी होगी, पास ही किसी वेदिका पर माल्यचन्दन और उपनेपन रखे होंगे, यदि वे कुछ अधिक शिल्प-विनोदी होंगे तो गजदन्त पर धीणा जन्म रश्मी होगी और उसे बलयाकार घेरकर कुरष्टक पुष्पों की माला भी लटक रही होगी।”³

आचार्य द्विवेदी ने प्रकृति का वर्णन ‘बाणभट्ट की आरमकथा’ में भी किया है और ‘पुनर्नवा’ में भी। दोनों की भाषा काव्यात्मक है। ‘पुनर्नवा’ में प्रभात का वर्णन इष्टव्य है—

“प्रभात हाने को आया। कमल-पुष्प के मधु से रंगे पंखों वाले वृद्ध कलहस की भांति उदास मयूर गति से चन्द्रमा आकाशगगा के पुलिन से पश्चिम की ओर चला गया। सारा दिग्मंडल रक्त मृग की रोमराजि के समान पाण्डुर हो उठा। हाथों के रक्त से रंगे गिह के सटाभार के समान सूर्य की सात किरणें आसमान में फैलने लगी, वन-देवियों की अट्टालिकाओं के समान महावनस्फतियों के शिखरों पर गर्दभ तोम के समान धूसर धुआँ सटकर सब-कुछ को धूमिल आभा से आच्छादित कर गया—सर्वत्र थकान, बलाति अलस

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 119

2. उपरिक्त, पृ० 177

3. उपरिक्त, पृ० 210

मयर भाव ।”¹

काव्यात्मक और भावात्मक भाषा में वे रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग करके भाषा-नासित्य उत्पन्न करते हैं। प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ नारी-सौन्दर्य के चित्रण में भी आचार्य द्विवेदी की भाषा काव्यात्मक हो उठती है। ‘वाणभट्ट की आत्मकथा’, ‘चारुचन्द्रलेख’, ‘पुनर्नवा’ और ‘अनामदास का पोथा’ में इस प्रकार की भाषा के असंख्यो उदाहरण देखने को मिलते हैं। ‘चारुचन्द्रलेख’ से एक उदाहरण देकर हम अपने कथन की पुष्टि करते हैं—

“आज यह क्या देख रहा हूँ गुरो, मेरा जन्म-जन्मान्तर कृतार्थ है जो ध्यष्टि रपा त्रिपुर सुन्दरी को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। आज सविता देवता उदयगिरि तटान्त में प्रसन्न भाव से उदित हुए हैं, आज दिशाएँ आनन्द-गद्गद् हैं, आज वायु उल्लसित है, आज आकाश सफल-काम है। देवि, आज तुम्हारे इस दिव्य मनोहर रूप में साक्षात् भगवती अन्नपूर्णा विलसित है। क्या देख रहा हूँ देवि, आज मेरे ग्रह-गण प्रसन्न हैं जो पद्म-पलाश को लज्जित करने वाली इन आँखों का प्रसाद पा रहा हूँ। यहा, शास्त्रों में जिन महिमा-मयी पराशक्ति का इतना वधान मुना है, वह आज किस प्रकार इन कोमल मनोरम अवयवों के संघात में प्रत्यक्ष हो रही है। क्या अद्भुत कारुण्य-धारा तरंगित हो रही है।”²

वक्तव्य-कला का विकास ‘चारुचन्द्रलेख’ में देखने को मिलता है। विद्याधर भट्ट रानी से कहता है—

‘बेटी, तुम्हें नहीं मालूम। लेकिन मैं तुम्हें पहचानता हूँ। तुम पार्वती का साक्षात् रूप हो। तुम्हें रानी रूप में वरण करने के कारण आज अकस्मिका के क्षीण-दुर्बल राज्य का अधिपति परम प्रकृतियम हो गया है।’³

दार्शनिक भाषा का प्रयोग यों तो द्विवेदी जी के सभी उपन्यासों में हुआ है किन्तु ‘अनामदास का पोथा’ की भाषा तो अधिकांशतः इसी प्रकार की है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

“तुमने जैसे अपने सीमित चिन्तन से यह अनुभव किया है कि पिण्ड में जो प्राण हैं वही ब्रह्माण्ड में वायु है—दोनों वास्तव में एक ही तत्व है, उसी प्रकार सौम्य, पुराण-श्रुतियों ने अनुभव किया था कि पिण्ड में जो आत्मा है वही ब्रह्माण्ड में ब्रह्म है—सादा विद्यमान अग्रवृक्ष र्धतम्य स्वरूप, अनाविल आनन्द रूप।”⁴

आचार्य द्विवेदी पात्र की मन स्थिति के अनुरूप भाषा का प्रयोग करते हैं। अस्त-शून्य और चिन्ता-भ्रन्त पात्र की भाषा प्रश्नवाचक अथवा विस्मयबोधक होती है। ‘पुनर्नवा’ में गोपाल आर्यक की मानसिक स्थिति का चित्रण इसी प्रकार की भाषा के

1. पुनर्नवा, पृ० 262-263

2. हजारी प्रगाद द्विवेदी प्रंपावती-1, पृ० 312-313

3. उग्ररिवत्, पृ० 316

4. अनामदास का पोथा, पृ० 58

द्वारा हुआ है।

“आर्यक कलान्त था, शरीर और मन दोनों से अवसन्न। कहा आ गया है वह ! वह बुरी तरह उद्विग्न था। विजली की तरह उसके मन में एक बात चमक उठी। यही क्या सोचा जाये कि लोग क्या सोचेंगे। यह भी तो मन में प्रश्न उठना चाहिए कि मृगाल क्या सोचेगी ? मृगाल ने जब भरे नयनों से उसे युद्ध के अभियान के लिए विदा किया था तो क्या उसने सोचा था कि उसका पति भाग छड़ा होगा ? जब वह गुनेगी कि यह भाग्यहीन आर्यक भाग गया है तो वह क्या सोचेगी ? उत्तर की कल्पना करके वह चीख उठा। हाय, बुनिया-भर की बात सोचने वाला आर्यक कभी अपनी सतीसाध्वी पत्नी की बात सोचता ही नहीं ! धिक् !”¹

आचार्य द्विवेदी पर रीतिकालीन कवि बिहारी का प्रभाव भी रहा है। यही कारण है कि कहीं-कहीं उन्होंने ऊहात्मक उक्तियों का प्रयोग भी किया है। ‘पुनर्नवा’ में धृताभाभी का सौंदर्य-चित्रण इसी प्रकार का है। “दर्वों सोने की लग रही थी, पर थी वह चादी की।”²

आचार्य द्विवेदी व्यंग्य-विनोद प्रिय थे। उन्होंने अपने उपन्यासों में भी व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग किया है। वे हास्य के आलम्बन का चित्रण ही ऐसी भाषा में करते हैं कि बरबस ही हसी आ जाती है। ‘बाणभट्ट की आत्मवधा’ में चण्डी-मंदिर के पुजारी का चित्रण इसी प्रकार का है—

“उनके काले-काले शरीर में शिराएँ इस प्रकार फूटी दिवायी देती हैं, मानो उन्हें जला हुआ खम्भा समझकर गिरगिट चढ़े हुए हो। सारा शरीर धाव के दागों से इस प्रकार भरा है, मानो सप्तमीदेवी ने शुभ लक्षणों को उस देह से काट-काटकर अलग कर लिया है। वे काफी शौकीन भी हैं। यद्यपि बूढ़ है, तो भी कानों में औण्ड्र-पुष्प को लटकाना नहीं भूलते। वे भवत भी है, क्योंकि चण्डी-मंदिर की चौखट पर सिर ठुकराते-ठुकराते उनके सलाह में अर्बुद हो गया है। वे तान्त्रिक भी हैं, प्रायः ही वह बूढ़ा तीर्थ-यात्रियों पर वशीकरण चूर्ण फेंका करते हैं। वे प्रयोग-कुशल भी हैं, क्योंकि एक बार गुप्त स्थानों की निधि दिखाने वाला कज्जल लगाकर एक आँख खो चुके हैं। वे चिकित्सक भी हैं, अपने आगे वाते लम्बे और ऊँचे दातों को समान बनाने के उद्योग में अग्य दातों को खो चुके हैं, पर वे ऊँचे दात जहाँ के तहाँ हैं।”³

इसी प्रकार ‘पुनर्नवा’ में माढव्य दादा का चित्रण किया गया है। “उसके शरीर पर यज्ञोपवीत इस प्रकार दिवायी दे रहा था, जैसे किसी बबूल के पेड़ पर मासती की माला आड़ी करके डाल दी गयी हो।”⁴ ‘अनामदास का पोया’ में मामा म्यारह भालुओं से लड़ने की बात करता है तो बच्चे कहते हैं कि वह गण्य मार रहा है। अन्त में वह घटते-

1. पुनर्नवा, पृ० 110

2. उपरिवत्, पृ० 212

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 48

4. पुनर्नवा, पृ० 94-95

घटते एक भालू पर उतर आता है।¹

आचार्यं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यासों में मुहावरे-लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तो प्रत्येक वाक्य में ही मुहावरे अथवा लोकोक्ति के दर्शन हो जाते हैं—

‘निर्दय, तुमने बहुत बार बताया था कि तुम नारी-देह को देव-मंदिर के समान पवित्र मानते हो, पर एक बार भी तुमने समझा होता कि यह मंदिर हाड़-भांस का है, ईंट-चूने का नहीं। जिस क्षण मैं अपना सर्वस्व लेकर इस आशा से तुम्हारी ओर बढ़ी थी कि तुम उसे स्वीकार कर लोगे, उसी समय तुमने मेरी आशा को धूलिसात कर दिया। उस दिन मेरा निश्चित विश्वास हो गया कि तुम जड़ पापाण-पिण्ड हो, तुम्हारे भीतर न देवता है, न पशु, है एक अडिग जड़ता। मैं इसीलिए वहाँ ठहर नहीं सकी। जीवन में मैंने उसके बाद बहुत दुःख झेले हैं, पर उस क्षण-भर के प्रत्याख्यान के समान कष्ट मुझे कभी नहीं हुआ।’²

‘ईंट-चूने का होना’, ‘सर्वस्व देना’, ‘धूलिसात करना’, ‘जड़ पापाणपिण्ड होना’ आदि मुहावरों का प्रयोग किया गया है। सभी उपन्यासों में उन्होंने निम्न प्रमुख मुहावरो-लोकोक्तियों का प्रयोग किया है—

‘बहुतर घाट का पानी पीना’, ‘गाठ बाधना’, ‘उबल पड़ना’, ‘नयनतारा होना’, ‘काजल की कोठरी’, ‘घो वारह होना’, ‘मुह तारना’, ‘आख दिखाना’, ‘नाक बचाना’, ‘पयराई आँखों से देखना’, ‘काठ मारना’, ‘मीठी छुरी चलाना’, ‘कान खड़े होना’, ‘गप्प हारना’, ‘बिना मोल के बिक जाना’, ‘गधा-पचीसी करना’, ‘छठी का दूध याद आना’, ‘मुह फेर लेना’, ‘मुह जोहना’, ‘आप बीती कहना’, ‘बासी घाव हरा होना’, ‘मन मसोम कर रहना’, ‘जितने मुह उतनी बातें’, ‘सूखी डाल में कोंपलें फूटना’, ‘साँव-साय करना’, ‘ताता बंध जाना’, ‘दिन-दहाड़े लूटना’, ‘दात पीसना’, ‘पते की बात करना’ आदि।

आचार्यं द्विवेदी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग तो किया ही है, किन्तु संस्कृत के कुछ अप्रचलित शब्दों का प्रयोग भी बेहिचक हुआ है, यथा—‘असित’, ‘गोमयोपनिप्त’, ‘शालमजिका’, ‘कूर्च’, ‘आपोद्गुर’, ‘आगण-बुट्टिम’, ‘अश्वत्थ’, ‘प्रज्ञा पारमिता’, ‘रागोत्थित’, ‘आजानु विलम्बित’, ‘भावानुप्रवेश’, ‘क्षौम वस्त्र’, ‘लाक्षारम-रजिन’, ‘मत्स्यमाह्वय’, ‘प्रत्यग्रमनोहर’, ‘पिण्डभोगि’, ‘अज्ञ’, ‘विजय’, ‘श्रेष्ठित्त्वर’, ‘अगूर्यम्पना’, ‘गोपान दीर्घ’, ‘विचिचिरसा’ आदि।

द्विवेदी जी की भाषा में तद्भव शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। ऐसे कुछ शब्द यहाँ प्रस्तुत हैं—‘बठकगजी’, ‘बाँपना’, ‘निक्कमा’, ‘भुकरुड़’, ‘बेटा’, ‘वैरागी’, ‘भैया’, ‘गपानी’, ‘भाई’, ‘होम’, ‘भैया’, ‘लहुरी’, ‘साज’, ‘सिखावन’, ‘मिट्टी’, ‘लहुरावीर’, ‘साइनी’, ‘जूमना’, ‘सोप’, ‘अचरज’, ‘पेटी’, ‘माता-पिता’, ‘भाभी’, ‘देई’, ‘बहू’, ‘भरमाना’, ‘बाजल’, ‘अग्यादा’, ‘बरतन’, ‘रंगना’, ‘सिधार’, आदि।

1. अनामदास का पोषा, पृ० 84

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1, पृ० 31-32

आचार्य द्विवेदी ने अरबी-फारसी के प्रचलित अमृत्यो शब्दों का प्रयोग किया है जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—'शलती', 'तूफान', 'इनकार', 'नाराज', 'चुहल', 'कराहना', 'शिवस्त', 'कद', 'मातूम', 'बाद', 'शायद', 'फर्क', 'आदमी', 'शोक', 'फीकी', 'उलझन', 'नासमझ', 'ताजगी', 'बुरी', 'शुल्', 'दुरस्त', 'उतावला', 'खरीदना', 'दीवार', 'मामूली', 'बुरा', 'होश', 'शरारत भरी', 'जवाब', 'परेशान', 'हीरानी', 'बचकानी', 'हिसाब', 'कसरत', 'हुकूम', 'शरीर', 'गुमगुम', 'सात', 'मिन्नत', 'बासी', 'भगर', 'ताजा', 'सलत', 'बहाना', 'सिफ', 'हलचल', 'पसद', 'तैयार', 'माल', 'सवाल', 'मतलब', 'फरती', 'फंसला', 'साफ-साफ', 'फसाना'; 'बेहोश', 'निगाह', 'ज्यादा', 'शामिल', 'जहूर', 'हालत', 'बदनामी', 'खलबली', 'आवाज', 'साफ', 'एकदम', 'तरसना', 'दुनिया', 'चमूल', 'जगहू', 'कसर', 'इर्द-गिर्द', 'दिमाग', 'खराब', 'शाबाश', 'तारों', 'धोखा', 'तलाशी', 'कोशिश', 'जबरें', 'तलबा', 'बेहोश', 'बेतुका-सा', 'बारीकिया', 'गली', 'जल्दी-जल्दी', 'हंगामा', 'मकान', 'जरा', 'कम-से-कम' आदि।

वस्तुतः आचार्य द्विवेदी भाषा को मिथक की अभिव्यक्ति करने का साधन मानते हैं जिसमें स्वयं उपन्यासकार को पूर्ण सफलता मिली है। उन्होंने भावों और विचारों को तो अभिव्यक्त किया ही है, अलंकार और सगीत के द्वारा अपनी सर्जना-शक्ति का परिचय भी दिया है। कहीं उनकी भाषा काव्यात्मक है तो कहीं अत्यधिक सरल। एक ओर संस्कृत के सरसभ शब्दों के प्रयोग की अधिकता ने दुर्बलता ला दी है तो दूसरी ओर सामान्य बोलचाल की भाषा ने सरसता और सहजता के गुणों को प्रस्तुत किया है। मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग ने उनकी भाषा में साक्षणिकता का पुट दिया है तो कहीं-कहीं व्यंग्य-विनोद के भी दर्शन होते हैं।

कथोपकथन

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में सवाद कथावस्तु को गति देने वाले, पात्रानुकूल और चरित्र-चित्रण में सहायक हैं। सामान्यतः उनके सवाद आकार में लघु हैं किन्तु कहीं-कहीं सवाद लम्बे और दुर्बल भी हो गये हैं। ऐसा तभी हुआ है जब किसी दार्शनिक विचारधारा को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। लघु आकार के संवादों की सबसे बड़ी विशेषता पात्रानुकूलता के साथ-साथ व्यंग्य और विनोद का पुट भी है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में अवधूत अधोर भैरव और बाणभट्ट के मध्य हुए सवाद इसी प्रकार के हैं—

“ब्राह्मण है ?”

“हा, आर्य !”

“तेरी जाति ही डरपोक है। क्यों रे, महाबराह पर तेरा विश्वास नहीं है ?”

“है, आर्य !”

“झूठा, ! तेरी जाति ही झूठी है ! क्यों रे, तू आत्मा को नित्य मानता है ?”

“मानता हू, आर्य !”

“पाखण्डी ! तेरे सब शास्त्र पाखण्ड सिखाते हैं ! क्यों रे, कर्मफल मानता है ?”¹

प्रस्तुत संवाद से बाणभट्ट के भयभीत होने का तो ज्ञान होता ही है, अवधूत पाद की निर्भीकता, स्पष्टता आदि का ज्ञान भी होता है। ‘चारुचन्द्रलेख’ में रानी चन्द्रलेखा और मैना का वार्तालाप भी इसी प्रकार का है। मैना रानी चन्द्रलेखा के वैयक्तिक रूप को समाप्त करके उसके रानी रूप को जाग्रत करने का प्रयास कर रही है—

रानी ने व्याकुल भाव से पूछा, “क्या महाराज को यहाँ ले आयी है ?”

“एकदम !”

“मैना, तू चोर है !”

“हाँ, दीदी !”

“तू मेरा धन नहीं ले सकती।”

“थोड़ा भी नहीं ?”

“तू चोर है !”

“और तुम दीदी ?”

“चन्द्रलेखा !”

“नहीं, रानी दीदी !”

“रानी अब कहा है री ?”

“तुम क्या हो दीदी ? तुम्हीं तो रानी हो।”

“तो महाराज की सेवा करने का साहस तुने कैसे किया ?”

“तुम नहीं करोगी तो कोई करेगा ही।”²

इन छोटे संवादों में जो नाटकीयता उत्पन्न होती है वही संवाद का ललित रूप है। ‘पुनर्नशा’ में धूता भाभी और गोपाल आर्यक के मध्य का संवाद तो और भी मोहक है—

“एक आख चन्द्रा रानी। ठीक ?”

“ठीक, एक !”

“दूसरी आख मैना रानी, ठीक ?”

“ठीक, दो !”

“और तीसरी आख तुम्हीं बताओ भोलानाथ !”

“बता दूँ ?”

“बनते हो, जान-बूझकर बनते हो ?”

“नहीं भाभी, पहले बता देता हूँ, फिर तुम बताना कि ठीक हुआ या नहीं।”

“बताओ।”

“तीसरी आख मेरी नामरी भाभी। ठीक ?”

“पेट में दाढ़ी है तुम्हारे ! है न ?”

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-1, पृ० 77

2. उपरिचरित, पृ० 404-405

"तीसरी आंख से देखने का प्रयत्न कर रहा हूँ। हा, है!"

"कितनी बड़ी है?"

"बहुत बड़ी। यही भाभी के बराबर!"¹

इसी प्रकार 'अनामदास का पोया' में रैव और आश्वलायन के वार्तालाप में रैव का भोलापन क्षणक-क्षणक जाता है साथ-ही-साथ आश्वलायन की मित्रता भी स्पष्ट हो जाती है—

"नहीं मित्र, मेरा विवाह नहीं हो सकता।"

"क्यों?"

"मामा ने बताया था।"

"मामा कौन?"

"मामा बड़ा तपस्वी है। मैं उसी के साथ तो सेवा-कार्य करूँगा।"

"वह कौन-सा कार्य है?"

"तुमने मामा को देखा ही नहीं तो कैसे जानोगे कि सेवा-कार्य क्या होता है? माताजी से पूछ लेना।"

"मामा क्या कहता था?"²

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सात्त्विक मिद्वान्त का जो मानव तत्व है उसकी अभिव्यक्ति भी संवादों के माध्यम से की गई है। गुवरिला याणभट्ट से स्पष्ट शब्दों में कहती है कि "मानव-देह केवल दण्ड भोगने के लिए नहीं बनी है, आर्य! यह विद्या का सर्वोत्तम सृष्टि है। यह नारायण का पवित्र मंदिर है। पहले इस बात को समझ गई होती, तो इतना परिताप नहीं भोगना पड़ता। गुरु ने मुझे अब यह रक्ष्य समझा दिया है। मैं जिसे अपने जीवन का सबसे बड़ा कल्प समझती थी, वही मेरा स्वयं बड़ा रक्ष्य है। क्यों नहीं मनुष्य अपने सत्य को अपना देवता समझ लेता, आर्य?"³

'बाह चन्द्रनन्द्य' में विद्याधर भट्ट और राजा के मध्य के वार्तालाप से इस मानवतावादी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण होता है। भट्ट राजा को दरिद्रता, रोग, शोक और अभावों के उन्मूलन के लिए कटिबद्ध होने को प्रेरित करता है। राजा उत्तर देता है, "आर्य, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। आपके वरणों की शपथ लेकर मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मनुष्य जाति के कल्याण के लिए सस्त्र ग्रहण करूँगा, किसी भी क्षुद्र स्वार्थ या सुख-निष्ठा को इस पवित्र संकल्प में कल्प-लेप करने का अवसर नहीं दूँगा।"⁴

'पुनर्नवा' में तो मानवीय दुःख को मनुष्य के द्वारा बनाये विधि-विधान का ही परिणाम बताया गया है। आचार्य देवरात मजूला को अपने आपकी पापिनी और अपराधिनी मानने को अपुञ्चित ठहराते हैं, "सुनो देवि, तुम इतनी व्यथित क्यों हो रही

1. पुनर्नवा, पृ० 298-299

2. अनामदास का पोया, पृ० 143

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-1, पृ० 165

4. उपरिक्त, पृ० 317-318

हो ? अपने पर तुम्हारी यह अनास्था उचित नहीं है। तुम बार-बार अपने को पापिनी और अपराधिनी कहती हो तो मेरा अन्तरमन कांप उठता है। यहा शुद्ध स्वर्ण कही नहीं है, सब जगह खाद मिला हुआ है। सब-कुछ शुद्ध स्वर्ण और खाद से बना हुआ हेमालंकार है। किसने यह आभूषण पहन रखा है ? उसी को खोजो। पाप और पुण्य जब उसी को समर्पित हो जाते हैं तो समान रूप से धन्य हो जाते हैं। मन में छोट न आने दो देवि, तुम नारायण की स्मित-रेखा के समान पवित्र हो, गाल्हादक हो, आनददायिनी हो ।”¹

‘अनामदास का पोया’ के संवादों में भी मानवीय दृष्टि की झलक स्पष्ट मिलती है। औपम्यिक ऋषि रैवक को सपूर्ण मनुष्य बनने के लिए जो आवश्यक तत्व है, उन पर प्रकाश डालते हैं, “देखो, पूर्ण मनुष्य बनो। चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इनमें पहले तीन साधन हैं, अन्तिम साध्य है। पहले तीन में धर्म सबसे बड़ा है। उनके अनुकूल रहकर अर्थ का उपार्जन करना चाहिए। अर्थ प्रधान नहीं है—धर्म का अविरोधी रहकर ही पुरुषार्थ है। धर्म के विरुद्ध जाने पर त्याग्य है। इसी प्रकार सौम्य ! काम धर्म और अर्थ का अविरोधी रहकर ही पुरुषार्थ कहलाता है। धर्म और अर्थ के विरुद्ध जाने पर वह आचरणीय नहीं रहता ।”²

देशकाल और वातावरण

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने उपन्यासों में देशकाल और वातावरण के द्वारा ही अपने लालित्य-सिद्धांत की स्थापना करते हैं। डॉ० रमेश कुंतल मेघ के अनुसार द्विवेदी जी लोक तत्व को लालित्य-तत्व के साथ समुक्त करते हैं। ‘वाणभट्ट की आत्म-कथा’ में उत्सवों, उत्सवों, आयोजनों आदि के अंतर्गत; ‘चाँद चन्द्रलेख’ में किंवदन्तियों एवं मौखिक परम्पराओं की व्याख्याओं के अन्तर्गत लेखक ने अपने लोकतत्व की मानवता-वादी और उदारतावादी दृष्टि को प्रकाशित किया है।³ यही कारण है कि श्री ठाकुर प्रसाद सिंह तो उक्त दोनों उपन्यासों का नायक व्यक्ति को नहीं अपितु इतिहास के विशिष्ट काल को मानते हैं।⁴

‘वाणभट्ट की आत्मकथा’ हर्षकालीन परिस्थितियों का चित्रण करती है। उस समय की सामाजिक स्थिति मनुष्य की आर्थिक-राजनैतिक स्थिति से नापी जाती थी। निडनिया के पूर्व पुरुष उच्च-कुल के नहीं थे किन्तु गुप्त सम्राटों की नीकरी मिलने पर वे अपने आपको वैश्यों की कोटि में मानने लगे थे। वाणभट्ट स्वयं निडनिया के बारे में कहता है कि—

“निपुणिका का सक्षिप्त परिचय यहा दे देना चाहिए। निपुणिका आजकल की

1. पुनर्नवा, पृ० 23
2. अनामदास का पोया, पृ० 59
3. शांति-निकेतन से शिवालिक, पृ० 193-194
4. उपरिक्त, पृ० 244

उन जातियों में से एक की सन्तान है, जो किसी समय अस्वुभ्य समझी जाती थी, परन्तु जिनके पूर्व-मुरपो वो सौभाग्यवश मुष्ट-सञ्जाटो की नौकरी मिल गयी थी। नौकरी मिलने से उनकी सामाजिक मर्यादा कुछ ऊपर उठ गयी। वे आजकल अपने को पवित्र वैश्य वंश में गिनने लगे हैं और ब्राह्मण-क्षत्रियों में प्रचलित प्रथाओं का अनुकरण करने लगे हैं। उनमें विधवा-विवाह की चलन हाल ही में बंद हुई है। निपुणिका या विवाह किमी कान्दविक वैश्य के साथ हुआ जो भद्रभूजे से उठकर सेठ बना था। विवाह के बाद एक वर्ष भी नहीं बीतने पाया था कि निपुणिका विधवा हो गयी।”¹

आचार्य द्विवेदी सामाजिक विषमताओं पर करारा प्रहार करते हैं। भारतीय सामाजिक व्यवस्था और अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं का अन्तर करते हुए वे भारतीय समाज के स्तर भेद को अनुचित ठहराते हैं। रोमकपतन की भट्टिनी बाणभट्ट से कहती है कि, “मही देखो, तुम यदि किसी यवन-कन्या से विवाह करो तो इस देश में यह एक भयकर सामाजिक विद्रोह माना जायेगा। परन्तु यह क्या सत्य नहीं है कि यवन-कन्या भी मनुष्य है और ब्राह्मण युवा भी मनुष्य है। महाभाया जिन्हें मलेकल कह रही हैं वे भी मनुष्य है। भेद इतना ही है कि उनमें सामाजिक ऊँच-नीच का ऐसा भेद नहीं है। जहाँ भारतवर्ष के समाज में एक सहस्र स्तर हैं वहाँ उनके समाज में कठिनाई से दो-तीन होंगे। बहुत कुछ इन आभीरों के समान समझो। भारतवर्ष में जो ऊँचे हैं वे बहुत ऊँचे हैं, जो नीचे हैं उनकी निचाई का कोई आर-पार नहीं, परन्तु उनमें सब समान हैं। उनकी स्त्रियों में रानी से लेकर परिचारिका तक के और गणिका में लेकर बार-विलासिनी तक के सैकड़ो भेद नहीं हैं। वे सब रानी हैं, सब परिचारिका हैं। तुम उनके दुर्घर्ष रूप को ही जानते हो, उनके कोमल हृदय को नहीं जानते। बयो भट्ट, ऐसा क्या नहीं हो सकता कि ऊँची भारतीय साधना उन तक पहुँचायी जा सके और निकृष्ट सामाजिक जटिलता महा से हटायी जा सके? जब तक वे दोनों बातें साथ-साथ नहीं हो जाती, तब तक शाश्वत शांति असंभव है।”²

आचार्य द्विवेदी ने ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ में वैश-भूषा और उत्सवों का चित्रण विशेष रस लेकर किया है। विशिष्ट भवसरो की विशिष्ट वैश-भूषा हुआ करती थी। स्वयं बाणभट्ट राजसभा में जाने के लिए एक उत्तरीय धारण करता है। राजा शुभ्र वर्ण के दो दुकूल धारण करते थे। उपन्यास में मदनोत्सव का विस्तृत चित्रण किया गया है। राजमहल के मदनोत्सव में परिचारिकाएँ भी मद्य-पान करती थी। नृत्य आदि के आयोजन भी होते थे। चैत्र शुक्ल त्रयोदशी का चित्रण करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं, “आज चैत्र शुक्ल त्रयोदशी है। आज मदन पूजा का दिन है। आज कुमारियों ने व्रत लिया होगा, कामदेव की पूजा की होगी और वरदान में अपने अभिलषित वरों को माग लिया होगा। कान्य-कृष्ण में यह उत्सव बड़े आडम्बर के साथ मनाया जाता है। आज मदनोत्सव में कुमारियों ने फूल चुने होंगे, हार मूँधे होंगे, कुन्नुम और जवीर का तिलक

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-1, पृ० 28

2. उपरिक्त, पृ० 228

गाया होगा और लाक्षारस से भूजंपत्र पर अपने-अपने अभिलिखित बरों की प्रतिमा बनाकर चुपके से भगवान् कुमुभ-भायक को भेंट किया होगा।”¹

आचार्य द्विवेदी ने अपने उपन्यास में वामपन्थी साधनाओं का विस्तृत चित्रण किया है। स्वयं वाणभट्ट उन साधनाओं को निकट से देखता है और एक बार तो उसे लगभग बली पर ही चढ़ा दिया गया है। न्यूनिया उसके प्राण बचा पाती है। अवधूत उससे कहते हैं, “अभागा, तू देवी की बलि हो रहा था, देवागनाओं ने तेरी आरती की थी और शिवाओं ने मंगलवाद्य बजाया था, परन्तु तेरा भाग अप्रसन्न था। तूने देवी की विषामा शान्त नहीं की ! अब उनका असन्तोष तो दूर कर।”²

प्रस्तुत उपन्यास के महावराह की पूजा तो देशोद्धार का मिथक बन गई है। न्यूनिया और भट्टिनी दोनों ही महावराह की उपासिकाएं हैं। डॉ० वञ्चन सिंह इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि “मन्त्राचर धरा जल में मग्न है। सारा समाज एक प्रकार के अवरोध में है।” भट्टिनी, महामाया, निपुणिका, मुचरिता यहा तक कि वाणभट्ट भी अवहट्ट है। सम्पूर्ण मध्यकाल में एक गतिभून्यता भरी हुई है। राजनीति, संस्कृति, धर्म आदि वधे घाटों के जन्म की तरह आविल है। सोचने का बंधा हुआ तरीका है, धर्म की एक बधी-बंधायी परिपाटी है, सब खकीर के फकीर है। वाणभट्ट को लगा था—“न जाने क्यों मुझे ऐसा लग रहा था कि नीचे से ऊपर तक सारी प्रकृति में एक अवण अवनाद की जड़िमा छापी हुई है।” इस उपन्यास में इस खड़िमा को तोड़ने का रचनात्मक प्रयास है।³

आचार्य द्विवेदी ने तत्कालीन राजनैतिक अव्यवस्था का चित्रण भी किया है। उस समय देश की स्थिति विदेशी आक्रमणकारियों से भयग्रस्त थी। राजा किसी भी विरोधी आन्दोलन को दबाने के लिए राजनैतिक चातुरी का प्रयोग करता था। भट्टिनी और मुचरिता को राज्य भक्त बनाने के लिए किये गये कार्य इसी प्रकार के हैं। दुर्गन्त दस्युओं के भय में ग्रस्त समाज के लिए महामाया का सन्देश ही उचित है—

“राजाओं का भरोसा करना प्रमाद है, राजपुत्रों की सेना का मुह ताकना कामरता है। आत्मरक्षा का भार किसी एक जाति पर छोड़ना मूर्खता है। जवानों, प्रत्यन्तदस्यु आ रहे हैं।”⁴

‘षाह चन्द्रलेख’ में प्राचीन तांत्रिकों और सिद्धों का विस्तृत चित्रण किया गया है। किंवदन्तियों एवं मौखिक परम्पराओं की व्याख्या करके लोक तत्व प्रस्तुत करने का प्रयास है। उस समय के समाज में लगे घुन का चित्रण ही इसका मूल उद्देश्य है। वस्तुतः सिद्धियों के पीछे भागने से वर्णाश्रम धर्म ही जीर्ण-शीर्ण होता जा रहा है इसलिए उपन्यासकार चुनांती देता है कि “जो महान इस्लाम आ रहा है, उसे ठीक-ठीक समझो।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-1, पृ० 37

2. उपरिचित, पृ० 133

3. शांति-निकेतन में शिवालिक, पृ० 269

4. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-1, पृ० 225

उसके एकहाथ में अमृत का भांड है, दूसरे में नम्र कृपाण । वह समानता का नम्र लेकर आया है, गड्ढे-गले और जारों की चुनौती देने का अपार साहस लेकर उद्भूत हुआ है और रास्ते में जो बाधक हों उन्हें साफ कर देने का विकट संकल्प लेकर निकला है । उसने लाधों-रुदोहों को पैरों तले दबाकर उसकी मांम-मज्जा के दूध पर प्रसाद छाड़ा करने की नृति नहीं दिखाई है ।¹

“‘बाह चन्द्रलेख’ में नाटी माता के माध्यम से नृत्य का भी सुन्दर वर्णन किया गया है, नृत्य में विह्वल होकर नाटी माता उस छोटे-से घर में एक कोने से दूसरे कोने तक मलमपूर की भांति माच उठी । भावावेग के साम-साथ नृत्य के वेग में भी तेजी आती गयी और एक ऐमा अवसर आया कि गान एकदम रुक गया । केवल ताल और गति की विचित्र उलझी हुई धिरबन । मारा बातावरण तालानुग हो गया । नाटी माता के पैर सधे हुए थे, विशिष्ट धारियों के उद्दाम और बहुविचित्र आवर्त में भी वे सम पर ही आकर पड़ते थे ।”²

‘बाह चन्द्रलेख’ का सम्पूर्ण बातावरण युद्ध का ही है । मगोलों का वर्णन विस्तार में किया गया है । ममक की कमी के कारण वे बड़े उत्सवों पर ही ममक धानें हैं । उपन्यास के आरंभ में ही राज्य की भीमा में विकट समाचार आने लगते हैं । घुण्डकेजवर राजा पर आक्रमण कर उसे बन्दी बना लेना चाहता है । मैना मैनामिह के वेश में सीधे दिल्ली पर ही आक्रमण करने की प्रेरणा देती है । असौम्य भैरव पड़ोसी राजा को ‘अरि’ कहने पर भी उसे मित्र कहते हैं किन्तु तुर्क पड़ोसी होकर भी मित्र नहीं हो सकेंगे—

“मूर्ख राजाओं और चाटुकार पंडितों ने ‘अरि’ का अर्थ ही शत्रु हो जाने दिया है । कभी पड़ोसी राजा को ‘अरि’ कहा जाता था, मित्र वह होता था जो पड़ोसी-वा-पड़ोसी है । जिम्मा ममय मैना विचार ठीक रहा होगा । परन्तु अभी तो तुर्क आये हैं, वे मरके शत्रु हैं । कितने ही राजाओं को नष्ट करके उनके पड़ोसियों को दे या गये, पर अब भी मूर्खों की समझ में नहीं आया । मित्र मैना अब ममूच देश की सेना है । अरि का अरि होकर भी तुर्क मित्र नहीं बनेगा । गाठ बांध तो इग बात को । मैं काग्यतुर्क का उच्छेद देय चुका हूँ, गौड का पराभव देय चुका हूँ, चौहानों का मर्दन गुन चुका हूँ, चन्देलों की पराजय की बहानी भी गुन चुका हूँ । मित्र-मैना के नाम पर गाहृधाराओं का तुर्क्यों को निर्मांसित करना चित्रनी बड़ी मूल थी । समझदार देय-मुनकर मोधना है, दस देश की बुद्धि भी जड़ हो गयी है । आधों के मासने सत्वानास का ताण्डव चल रहा है और हम हैं कि ममज ही नहीं पा रहे हैं ।”³

‘पुनर्नवा’ में विदेशी जातियों के प्रच्छन्न प्रभाव की स्वीकृति की आवश्यकता का वर्णन किया गया है । वर्णाश्रम धर्म के टूटने की स्थिति का चित्रण प्रमृण उपन्यास में मिलता है । ब्राह्मण चारदत्त वैश्यों की भांति सेठ बन जाता है । इसी प्रकार ब्राह्मण-

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-1, पृ० 490

2. उपरिचत्, पृ० 493

3. उपरिचत्, पृ० 563

पुत्र श्यामरूप क्षत्रियो के समान मल्ल बन जाता है। वेश्या-पुत्री मृगाल मजरी क्षत्रिय गोपाल आर्यक से विवाहित होती है और सती शिरोमणि मानी जाती है। वेश्या की दासी मांदा का विवाह श्यामरूप से होता है। आचार्य पुरगोभिल के माध्यम से उपन्यासकार विधि-व्यवस्था के परिवर्तन की आवश्यकता बताते हुए कहते हैं—

“इसी तरह विधि-व्यवस्था संबंधी परिस्थितियां बदलती रहती हैं। जिसे आज अघमं ममज्ञा जा रहा है वह किसी दिन लोक-मानस की कल्पना से उठकर व्यवहार की दुनिया में आ जायेगा। अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थाएं तो टूटेंगी ही, अपने साथ घर्म को भी तोड़ देंगी।”¹

आचार्य द्विवेदी ने प्रस्तुत उपन्यास में नृत्य-कला के लिए भावानुप्रवेश की आवश्यकता पर बल देकर अपने साहित्य-सिद्धांत का प्रस्तुतीकरण किया है। आचार्य देवरात मंजुला के नृत्य पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि “जो बात मेरी समझ में नहीं आयी वह यह है कि ‘छलित’ नृत्य में नर्तक या नर्तकी को उन भावों का स्वयं अनुभव-सा करना चाहिए जो अभिनीत हो रहे हैं। इसी को भावानुप्रवेश कहते हैं। दूसरी के द्वारा प्रकट किये हुए भाव में स्वयं अपने को प्रवेश कराने का कौशल।”²

संन्यासिनी माता बताती है कि बसन्तसेना में भावानुप्रवेश करने की क्षमता है। मंजुला की आत्मा ने एक बार पुत्री की विदाई का नृत्य बसन्तसेना को सिखाया था। सर्व-प्रथम संन्यासिनी माता नाचकर छिप गयी, उसके बाद बसन्तसेना ने नृत्य किया—

“हाय-हाय, उसने तो उम नाच को चौगुना चमका दिया। क्या पद-संचार, क्या चारिका, क्या अगहार, क्या अनुभाव-प्रदर्शन—सबमें उसने पंख लगा दिये, विपुल व्योम में उड़ने में समर्थ बनाने वाले पंख। लोग धरती के जड आकर्षण से स्वतंत्र होकर भाव-लोक के विस्तीर्ण आकाश में उठ गये।”³

तरकालीन समय में शिव और कृष्ण की उपासना ही प्रचलित थी। मथुरा में पद्मवृष्णिवीर की उपासना आरंभ ही गयी थी। इससे पूर्व संकर्षण, वामुदेव प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार ही वृष्णिकुल के वीर प्रज्य थे। वस्तुतः कुपाण राजाओं के द्वारा पद्मवृष्णी बुढ़ों की उपासना का प्रभाव वैष्णवों पर भी पड़ा। उन्होंने साम्य को लहरा वीर कहकर उसकी उपासना भी आरंभ करा दी। उस समय स्वप्न, ज्योतिष, तंत्र और दैवता के बरदान पर भी विश्वास किया जाता था। सिद्ध बाबा मृगाल और चन्द्रा को मथुरा से आगे न जाने को कहते हैं और बताते हैं कि उनका प्रिय यही, मिल जायेगा। यही होना भी है, कि बटेश्वर में ही पहुंचकर गोगल आर्यक उनसे मिलता है।

‘पुनर्नवा’ में तरकालीन राजनैतिक स्थिति का स्पष्ट चित्रण हुआ है। तरकालीन

1. पुनर्नवा, पृ० 13
2. उपरिबत्, पृ० 173
3. उपरिबत्, पृ० 203

समय में श्रावस्ती, तीरभुक्ति, कातिपुरी, हलद्वीप, मयूरा, उज्जयिनी, पद्यावती, शकस्थान, कुल्लूत, मद्रदेश आदि राज्य थे और इनमें लिच्छवियों, भारलिव नागों, शकों, कुपाणों, अभीरो आदि का शासन था। छोटे-छोटे राजा अधर्मी और अत्याचारी थे। समुद्रगुप्त ने धर्म का शासन स्थापित करने के लिए अधर्मी राजाओं को उखाड़ कर उसी वंश के किनी धर्मानुसरण चलने वाले व्यक्ति को राजगद्दी पर बिठाया। भटार्क चण्डसेन को सम्राट् की इस नीति के सबध में बताता है कि—

“सम्राट् अपने को धर्म-परतंत्र मानते हैं और अपने मित्रों को भी। धर्म की प्रभुता के सन्दर्भ में ही वे धर्मियों को कल्याणप्रद मानते हैं। वे प्रत्येक धर्मपरायण राजकुल को उतना ही स्वाधीन मानते हैं जितना अपने को। सभी धर्म के बन्धन में है। पूर्ण अतन्त्र कोई नहीं है। इस नवीन धर्म-नीति का प्रवर्तन करने के कारण ही हम उन्हें अपना नेता मानते हैं। इसी अर्थ में वे सम्राट् हैं। उनका व्यक्तिगत कुछ भी नहीं है। अब तक जहा-जहा उनकी सेना गयी है वहा-वहा यथामंसब किसी राजवंश का उच्छेद नहीं किया गया। केवल एक शर्त पर सबकी स्वाधीनता लौटा दी गयी है। वह शर्त है धर्म-सम्मत आचरण।”¹

‘अनामदास का पोषा’ उपनिषद् काल की परिस्थितियों का चित्रण करता है। उस समय ऋषि-परम्परा थी और देव का अधिकांश भाग वनों से चिरा था। राजा भी आधर्मो का सम्मान करता था और बिना ऋषि की आज्ञा से उनमें प्रवेश नहीं कर सकता था। राजा दार्शनिक होने थे, इस कारण उनके कर्मचारी मनमानी करते थे। राजा जानभुक्ति के राज्य में अकाल पड़ जाता है। इस अकाल का चित्रण मामा नाम के पात्र द्वारा होता है—

“ममा कलं माताजी, देखा नहीं जाता। परमां छह कोम दूर के एक ताम्बाव से करम्बक लता का एक बोझा ले आया था। कल वहीं उबालकर गाब बालों ने पेट भरा है, पर बच्चों का काम तो नहीं चलता। बहुत खोज-खाज करके आज एक मधु का छत्ता ले आ मका हू। देखिए, कितने खुश है। कुछ बरगद के गोदे (फल) भी ले आया था। बिचारे खा नहीं सकते पर और है ही क्या? गायां को घास भी तो नहीं मिल रही। अब पानी बरमा है तो सब लोग खेत जोतने गये हैं। पेट में अन्न नहीं, बंसों में दम नहीं, क्या जोतेंगे। यह तो कहिए कि एक महात्मा जी आये थे, किसी दानी से कहकर उन्होंने कुछ महुअ, निजवा दिया है। वही खाकर हल जोत रहे हैं।”²

प्रस्तुत उपन्यास में भी सिद्धों के चमत्कार का वर्णन है। रोगी को छूकर उसका रोग दूर करने वाले सपस्वी हैं। जटिल मुनि तो रैबब को भी माताजी के दर्शन कराकर चमत्कार दिखाते हैं। हस्त-रेखा विज्ञान का चित्रण भी है। कोहलियों के नाट्य-नृत्य का विशद वर्णन किया गया है। रममच का वर्णन निम्न है—

“रंगमंच का निर्माण वड़े आडम्बर के साथ हुआ। हजारी कर्मकर उसमें लगाये

1 पुनर्नवा, पृ० 257

2. अनामदास का पोषा, पृ० 85

गये। उन दिनों रगमंच का निर्माण बड़ी सावधानी के साथ किया जाता था। भूमि-निर्वाचन से लेकर रगमंच की त्रिया तक वह बहुत सावधानी से सभाला जाता था। सम, स्थिर और कठिन भूमि तथा काली या गौर वर्ण की मिट्टी शुभ मानी जाती थी। भूमि को पहले हल से जोता जाता था। उसमें से अस्थि, कील, कपास, तृण-मुल्मादि को साफ किया जाता था, उसे सम और पटमर बनाया जाता था और प्रेक्षागृह के नापने की विधि शुरू होती थी। प्रेक्षागृह का नापना बहुत महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। माप के समय सूत्र का टूट जाना बहुत अमंगलजनक समझा जाता था।¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने चारों उपन्यासों में बाह्य वातावरण का बहुत सजीव चित्रण किया है। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में सन्ध्या वर्णन और 'पुनर्नवा' में प्रातःकाल का चित्रण बहुत ही सजीव हुआ है। स्नान-स्थान पर "चार चन्द्रलेख" और 'अनामदास का पोया' में भी प्रकृति चित्रण उपलब्ध है। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' का प्रातःकाल का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है—

"देखते-देखते चन्द्रमा पश्चिम मधु से रगे हुए वृद्ध कलहंस की भाँति आकाश गंगा के पुलिन से उदास भाव से पश्चिम जलधि के तट पर उतर गया। समस्त दिङ्मण्डल वृद्ध रकुमूग की रोमराजि के समान पाण्डुर हो उठा। हाथी के रक्त से रजित सिंह के सटाभार की भाँति किंवा लोहित वर्ण लाक्षारस के मूत्र के समान सूर्यकिरणे आकाश-रूपी वन-भूमि से नक्षत्र-रूपी फलों को इस प्रकार झाड़ देने लगी, मानो वे पद्मरागमणि की शलाकाओं से धनी हुई झाड़ू हो।"²

वस्तुतः आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यासों में लालित्य-तत्त्व का ही समावेश किया है। उनके लालित्य-तत्त्व के मुख्य बिन्दु मानव, मिथक तथा लोकतत्त्व हैं। इन तीनों तत्वों का विशद चित्रण उनके उपन्यासों में पर्याप्त रूप से उपलब्ध है। उन्होंने कालिदास के जिस लालित्य को 'कालिदास की लालित्य योजना' में प्रस्तुत किया है वही उनके उपन्यासों में चित्रित है। उनके उपन्यासों में इच्छा, ज्ञान और क्रिया-प्रेम के त्रिकोण के रूप में उपलब्ध है, प्रेम और तपस्या का चित्रण है, चरित्र की दृढ़ता है, कलाओं में भावानुप्रवेश और यथानिखितानुभाव है, मानव की जिजीविषा का प्रभावकारी चित्रण है, सस्कृतिमुखी प्रकृति है, सहज गुणों के वर्धक सहज रूप का अभिप्रेक किया गया है, जड़ चेतन्य का सधर्ष है और अनेक मिथक प्रस्तुत किये गये हैं। उनके चारों उपन्यासों का केन्द्रबिन्दु मानव ही है जो उन्होंने लालित्य-तत्त्व में कहा है, "आचार रीति-रिवाजों से लेकर धर्म, दर्शन, शिल्प, सौन्दर्य तक में सर्वत्र नये तिरों से सोचने की आवश्यकता है। कोई नैतिक-मूल्य अन्तिम नहीं है, कोई शिल्प-विधि सर्वोत्तम नहीं कही जा सकती, कोई अभिव्यक्ति-पद्धति सर्वश्रेष्ठ नहीं हो सकती।"³ इस तरह लोकवार्ता साहित्य ने अभिजात साहित्य को यथार्थ परिप्रेक्ष्य में देखने की दृष्टि दी।³ वही उनके

1. अनामदास का पोया, पृ० 113

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-1, पृ० 47

3. लालित्य-तत्त्व, पृ० 3-4

उपन्यासों में मिलता है। सभी उपन्यास भारतीय आचार-विचार, रीति-रिवाज, धर्म-दर्शन, शिल्प-सौन्दर्य के सन्दर्भ में नवीन चिन्तन प्रस्तुत करते हैं। इसी चिन्तन के परिणाम-स्वरूप वे घोषणा करते हैं कि “अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का मस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थाएँ तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी।”¹

चतुर्थ अध्याय

द्विवेदी जी की समीक्षा में लालित्य-योजना

द्विवेदी जी की समीक्षा के बौद्धिक आधार

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के समीक्षा-मिद्धान्त मूलतः लालित्य-सिद्धान्त पर ही आधारित है। "उन्होंने चार तत्वों के आधार पर अपने लालित्य-तत्त्व का ढांचा तैयार किया है। पहला मानव-तत्त्व है जिसके अन्तर्गत उन्होंने माना है कि "मानवचित्त एक है। समष्टि-मानव में ही समान बोध के मान रहते हैं।" दूसरा लोकतत्त्व है। इसके अन्तर्गत उन्होंने नृत्य, चित्र और काव्य के आदिम बोधों का अन्वेषण किया है। तीसरा मिथक तत्त्व है जिसके अन्तर्गत उन्होंने मानवता के समान अनुभव, कला की एक भाषा, सहृदय के एक चित्त की प्रतिष्ठा की है। चौथा लालित्य-तत्त्व है जिसके अन्तर्गत उन्होंने मनुष्य निर्मित सौन्दर्य की अन्वीक्षा की है। इस तरह से क्रमशः मानव-तत्त्व से लोकतत्त्व मिथक तत्त्व और लालित्य-तत्त्व की ओर अग्रसर होते चल रहे हैं। एक ओर तो वे इन तत्वों को आधुनिक ज्ञान के आलोक में परखते हैं, तथा दूसरी ओर उन्हें पुरातनता और परम्परा से भी प्रमाणित करते हैं। अतएव उनके तत्वान्वेषण की दिशा दुहरी है।"¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को मानवतावादी समाजशास्त्रीय² समीक्षक माना जाता है। उनकी समीक्षा-दृष्टि उदार और वैज्ञानिक है। उन्होंने ऐतिहासिक शैली के द्वारा समीक्षाएँ की हैं। हाँ, भगवतस्वरूप मिथ के अनुसार, "५० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसका (ऐतिहासिक शैली का) सबसे सम्यक्, पुष्ट एवं प्रौढ़ रूप मिलता है। द्विवेदी जी की समीक्षा में ऐतिहासिक शैली अपना स्वतंत्र एवं पृथक् अस्तित्व तथा महत्त्व बनाए हुए है।"³ आचार्य द्विवेदी की ऐतिहासिक शैली सांस्कृतिक तत्वों पर आधारित है। यह सांस्कृतिक दृष्टिकोण विभिन्न स्रोतों से बना है। इसके लिए वे इतिहास के

1. डॉ० रमेश कुन्तल 'मिथ', स० शिवप्रसाद सिंह, शांतिनिकेतन से शिवालय, पृ० 165
2. डॉ० भगवतस्वरूप मिथ, हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, पृ० 541..
3. उपरिबत्, पृ० 541

अतिरिक्त धर्म, पुराण, नृत्य-शास्त्र, पुरातत्व, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र आदि का सहारा लेते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आचार्य द्विवेदी ऐतिहासिक शैली में अपने तालित्य-सिद्धान्त के द्वारा साहित्य की परीक्षा करते हैं और यही उनकी समीक्षा के बौद्धिक आधार हैं।

ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण

आचार्य द्विवेदी इतिहास को इतिहास-देवता की सजा प्रदान करते हैं। यह इतिहास-देवता एक ब्यवित्त का नहीं, एक समाज का नहीं अपितु भारत के पूरे भू-भाग का है। वही मन्त्री समीक्षा का मार्ग खोल सकता है। 'कबीर पन्थ का उपेक्षित साहित्य' शीर्षक निबन्ध में वे बहुत स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि "हमारे देश का सांस्कृतिक इतिहास इस मजबूती के साथ अदृश्य काल-विधाता के हाथों से दिया गया है कि उसे प्रांतीय सीमाओं में बाँधकर सोचा ही नहीं जा सकता। उसका एक टाका काशी में मिला गया, तो दूसरा बंगाल में, तीसरा उड़ीसा में, और चौथा महागण्डू में मिलेगा। और यदि पाचवा मलाबार या सीलोन में मिला जाये तो आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है।"¹

आचार्य द्विवेदी मुसलमानों के आगमन को भारतीय धार्मिक-सांस्कृतिक वातावरण को धुँध कर देने वाली घटना बताते हैं। इस समय वेद और ब्राह्मण-विरोधी नाना गांधनाएँ प्रचलित थीं किन्तु समाज में नाचों और निरजनियों का प्रभाव विशेष था। मुसलमानी आक्रमण से ये सब छितरा गयीं किन्तु विभिन्न स्थानों पर वातावरण के अनुकूल पुनः प्रकट हो गयीं। "राजस्थान में उन्होंने वैष्णव रूप धारण कर लिया, पंजाब में सिख-धर्म का आश्रय लिया, बंगाल में धर्म-पूजा या निरजन-ठकुर पूजा के रूप में आत्म-प्रकाश किया, उड़ीसा में पब-संघाओं की साधना में अपने को छिपा लिया और दक्षिणी बिहार (छोटा नागपुर) तथा मध्यप्रदेश में कबीर-मयियों के झण्डे के नीचे आत्म-रक्षा की। इस ऐतिहासिक विकास की संस्कृत-मोचियों के सहारे नहीं जाना जा सकता।"² यही कारण है कि वे किसी एक पन्थ का अध्ययन करने के लिए वर्तमान सभी देशी भाषाओं के प्राचीनतर साहित्य का अध्ययन करने पर बल देते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि "वस्तुतः केवल एक प्रांत के साहित्यिक अध्ययन से इस इतिहास के सिर्फ एक ही अध्याय का पता चलेगा। सम्पूर्ण चित्र के लिए अन्यान्य देशी भाषाओं के साहित्य की भी जानकारी आवश्यक है।"³

आचार्य द्विवेदी ने 'कबीर' और 'सूर-साहित्य' में इसी दृष्टिकोण से अपनी समीक्षा का आरम्भ किया है। कृष्ण को फ़ाइस्ट कहने वालों पर तो वे एक बार झुंझला ही जाते हैं क्योंकि ऐसा कहने वाले भारतीय इतिहास और संस्कृति को समझे बिना ही इस प्रकार का मत दे देते हैं। वे कहते हैं कि "मगर यह बात न भी हो तो यह कैसे माना जा

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-4, पृ० 484

2. उपरिक्त, पृ० 436

3. उपरिक्त, पृ० 486

सकता है कि कृष्ण आइस्ट के रूप है? यह तो मानी हुई बात है कि ईसा का जन्म एशिया के देग और जाति में हुआ था। क्या यह बात सम्भव नहीं है कि ईसा की जन्म-कथा इन्ही सीथियन आभीरों के बाल-देवता की जन्म-कथा का अनुकरण हो? क्या संसार की अन्य जातियों की कथाओं का प्रभाव भारतवर्ष की धार्मिक कथाओं पर ही पड़ता है, ईसाइयों पर नहीं? क्या ईसाइयत के जन्म के पूर्व ये आभीर और इनके बाल-देवता ये ही नहीं? क्या एक ही सामान्य मूल से ईसा और कृष्ण के पृथक् विकास की बात सोची ही नहीं जा सकती? यह तो अब सबने स्वीकार कर लिया है कि युगुफ या जोसेफ शब्द 'बोधिसत्व' का ही रूपान्तर है।¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी वैष्णव सम्प्रदाय में इस साधना का आगमन भारतीय तत्र साधना से मानते हैं। उनको मान्यता है कि शक्ति के रस को सम्पूर्ण में ग्रहण नहीं किया जा सकता किन्तु उसमें अनन्त रस का ज्ञान हो जाता है। इस तथ्य को समझाने के लिए वे दूसरे शास्त्रों का सहारा लेते हैं। पृथ्वी का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि "हम पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले सभी फल-फूलों का रस नहीं ग्रहण कर सकते। आम-जामुन का आस्वादन करके हम पृथ्वी के नाना रसों का अनुमान करते हैं। इस ससीम रस के आस्वादन के द्वारा हम अपरिसीम रस को हृदयंगम करते हैं। स्त्री-रूप से हम महाशक्ति के एक रस का साक्षात् करते हैं, माता-रूप से दूसरे का, भगिनी-रूप से तीसरे का। इस प्रकार कुछ सख्या-परिमित व्यक्तियों से महाशक्ति के अनन्त रस का ज्ञान पाते हैं।"²

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने वैष्णवों की प्रेमोपामना का आगमन तत्र से अवश्य ही माना है किन्तु वे दोनों का अन्तर समझते हैं। वे स्वयं उसका अंतर प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि "तंत्रवाद का दार्शनिक और आध्यात्मिक पहलू बहुत ऊँचा था, परन्तु यह मत अपेक्षाकृत असंस्कृत लोगों में बहुत विकृत हो गया था। वैष्णवों ने राधा और कृष्ण के रूप में शक्ति-उपामना को ग्रहण करके उसे एक नूतन मर्यादा के भीतर कर दिया। तत्र साधना में स्त्री अनुष्ठान का साधन-भर थी, वैष्णव मत में वह परम-पुरुष पूर्ण करने वाली समक्षी जाने लगी। तत्र की परकीया एक यात्रिक साधना थी, किन्तु वैष्णव परकीया प्रेम का साधन थी। राधा के बिना कृष्ण अपूर्ण थे। यह एक ऐसी बात है जो तंत्रवाद से वैष्णव-भाव को पृथक् कर देती है।"³

आचार्य द्विवेदी कृष्ण-भक्ति की धारा के आगमन से पूर्व के उत्तर भारत की भास्त्रुतिक स्थिति पर विस्तार से विचार करते हैं। यह युग टीकाकारों का युग था। समाज और धर्म की रक्षा के लिए टीकाकार प्राचीन धर्म और दर्शन को अपनी टीकाओं द्वारा प्रस्तुत कर रहे थे किन्तु उनके सामने वर्णधर्म धर्म की रक्षा का प्रश्न उपस्थित हो गया। निर्गुण साधकों ने ही यह समस्या उत्पन्न की। द्विवेदी जी कहते हैं कि "सामने

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग-4, पृ० 32

2. उपरिबन्ध, पृ० 38

3. उपरिबन्ध, पृ० 42

ही एक विराट् शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी समाज था, घर में ही वैराग्य-प्रधान साधुओं का भारी विद्रोह था, ये दो बातें ही वर्गाधम-व्यवस्था को हिसा देने के लिए काफी थी। परंतु तीसरी शक्ति तो और भी विचित्र और अद्भुत थी। निम्न श्रेणी के साधक अपनी महिमाशालिनी प्रतिभा और साधना के बल पर ब्राह्मण में लेकर शूद्र तक के गुह बन रहे थे और सो भी न तो समाज से निकलकर और न वैराग्य की धूनी रमाकर। इस विकट परिस्थिति को सभालना शास्त्र के लिए असम्भव हो उठा था। टीकाकारों ने बहुत प्रयास किया, पर व्यर्थ।¹ इस समय दक्षिण से आयी एक नयी धारा जो प्रेम की धारा थी, ने ही वर्गाधम धर्म की रक्षा की।

इस प्रकार प्राचीन कवियों की समीक्षा करते समय आचार्य द्विवेदी ने ऐतिहासिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण को अपनाया है।

मानवतावादी दृष्टिकोण

आचार्य द्विवेदी साहित्य का उद्देश्य मानव को ही मानते हैं। उनके मतानुसार सभी शास्त्रों और साहित्य का केन्द्र-बिन्दु मानव ही है। यही कारण है कि वे मानवतावादी दृष्टिकोण को आधार बनाकर उदारतापूर्वक समीक्षा करते हैं। मानवतावादी दृष्टिकोण के अनुसार वे चरित्र की शुद्धता पर बल देते हैं। भारतीय समाज का रूप यही है। भारतीय धर्म-साधना में कबीर का स्थान शीर्षक निबन्ध में वे भारतीय समाज के अनुकूल व्यक्ति की श्रेष्ठता को समझाते हैं—“श्रेष्ठता की निशानी धर्म-मत को मानना या देव-विशेष की पूजा करना नहीं बल्कि आचार-शुद्धि और चारित्र्य है। यदि एक आदमी अपने पूर्वजों के बताये धर्म पर दृढ़ है, चरित्र से शुद्ध है, दूसरी जाति या व्यक्ति के आचरण की नकल नहीं करता बल्कि स्वधर्म से मर जाने को ही श्रेयस्कर समझता है, ईमानदार है, सत्यवादी है, तो वह निश्चय ही श्रेष्ठ है, फिर वह चाहे आभीर वंश का हो या पुत्रकस श्रेणी का। कुलीनता पूर्वजन्म के कर्म का फल है, चारित्र्य इस जन्म के कर्म का प्रतीक है। देवता किसी एक जाति की सम्पत्ति नहीं हैं, वे सबके हैं और सबकी पूजा के अधिकारी हैं। पर यदि स्वयं देवता ही चाहते हो कि उनकी पूजा का माध्यम कोई विशेष जाति या व्यक्ति हो सकता है तो भारतीय समाज को इसमें भी कोई आपत्ति नहीं।”²

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास शांति-निकेतन से, कालिदास से, मध्ययुगीन धार्मिक साधनाओं से और चिन्तन-मनन करके मीच लेने वाली प्रवृत्ति में हुआ है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह के अनुसार—“द्विवेदी जी के पास वह दृष्टिकोण है जो उन्हें उनके विशाल भारतीय वाङ्मय के अध्ययन-मन्यन, वर्तमान विश्व-समाज की समस्याओं और प्रश्नों के चिन्तन-मनन तथा शांतिनिकेतन के वातावरण और रवि बाबू तथा आचार्य शक्तिमोहन सेन—जैसे उदार व्यक्तित्व वाले मनी-

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग-4, पृ० 55

2. उपरिक्त, पृ० 331

पियों के सम्पर्क से निर्मित हुआ है।¹ वस्तुतः उन पर सर्वाधिक प्रभाव गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर और कालिदास का परिलक्षित होता है। 'मेषदूत : एक पुरानी कहानी' में वे मनुष्य और देवता के अन्तर को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

“मनुष्य क्षमा कर सकता है, देवता नहीं कर सकता। मनुष्य हृदय से लाचार है, देवता नियम का कठोर प्रवर्तयिता है। मनुष्य नियम से विचलित हो जाता है, पर देवता की कुटिल भ्रुकुटि नियम की निरन्तर रखवाली करती है। मनुष्य इसलिए बड़ा होता है कि वह गलती कर सकता है, देवता इसलिए बड़ा है कि वह नियम का नियन्ता है।”²

आचार्य द्विवेदी के समस्त साहित्य में व्यष्टि मानव को समष्टि मानव में देखने की आकांक्षा है जो कवीन्द्र रवीन्द्र का ही प्रभाव है। वे स्वयं 'रवीन्द्र-दर्शन (2)' में रवीन्द्रनाथ के इन दर्शन को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि “रवीन्द्रनाथ एक समष्टि मानव (यूनिवर्सल मैन) में विश्वास रखते थे। यह समष्टि मानव सब मनुष्यों का आश्रय है, सबको मिलाकर बिराजमान होने के कारण ही वह 'एकमेवाद्वितीयम्' है। इस समष्टि मानव को हम अपनी भावनाओं और कार्यों के द्वारा अनुभव करते हैं या अनुभवगम्य बनाते हैं। ऊपर-ऊपर से व्यक्ति अलग-अलग दिखते हैं। वैज्ञानिक बताता है कि जिसे हम ठोम पिण्ड समझते हैं, वह छोटे-छोटे असंख्य परमाणुओं से बनता है। ये परमाणु एक-दूसरे से सटे नहीं हैं, उनमें व्यवधान है फिर भी हमें पूरा पिण्ड एक और अभिन्न दिखायी देता है। इसी प्रकार मनुष्य की इकाइयों के व्यवधान और अन्तर के होते हुए भी समष्टि मानव एक ओर अभेद्य है।”³

आइन्स्टीन व्यक्ति-निरपेक्ष सत्य को स्वीकार करते थे किन्तु कवीन्द्र रवीन्द्र व्यक्ति-निरपेक्ष सत्य को स्वीकार नहीं करते। आचार्य द्विवेदी कवीन्द्र रवीन्द्र के दर्शन को ही ठीक मानते हैं। वे भी व्यक्ति-निरपेक्ष सत्य को नहीं मानते। कवीन्द्र रवीन्द्र की बात को वे समझते हुए कहते हैं कि “रवीन्द्रनाथ की बात ऊपर-ऊपर से पहेली-जैसी जान पड़ती है। पर वह पहेली नहीं है। मनुष्य के रूप में अभिव्यक्त को वे मजंजातमक प्रक्रिया के भीतर में गुजरता देखते हैं। इस बात को अगर इस प्रकार समझा जाय तो बात बहुत स्पष्ट हो जायेगी—मान लीजिए कोई ऐसी वास्तविकता है जो मानव-निरपेक्ष है। आइन्स्टीन को अगर प्रतिनिधि वैज्ञानिक माना जाय तो कह सकते हैं कि वैज्ञानिकों का यह विश्वास है कि कोई ऐसी वास्तविकता है अवश्य, जो मानव-निरपेक्ष है। मनुष्य रहे या न रहे, यह वास्तविकता रहेगी। मानव-निरपेक्ष कोई अलग वास्तविकता है, यह कहना उतना ठीक नहीं है।”⁴

आचार्य द्विवेदी कवीन्द्र रवीन्द्र पर लिखते समय मानवीय ज़िन्नीविया का चित्रण

1. सं. डॉ० शिवप्रसाद सिंह, भातिनिकेतन से शिवालय, पृ० 229

2. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-8, पृ० 22

3. उपरिबन्ध, पृ० 431

4. उपरिबन्ध, पृ० 433-434

करते हैं। मृत्युन्जय होने के लिए उम्र जिजीविषा का होना आवश्यक है—

“जीवनी शक्ति की यह वेगवती धारा विकारो को ध्वस्त करती जा रही है। उसकी चरितार्थता इन्ही बात में है कि वह अपने निश्शेष भाव से दान करती हुई आगे बढ़ रही है। जो अपने को निश्शेष भाव से दे देता है वही पवित्र होता है, वही जीवन-देवता को प्राप्त कर सकता है।”¹

मानव का निश्शेष भाव से यह दान प्रियतम के प्रति होता है। द्विवेदी जो इन्हीं भी समष्टि मानव का भाव मानते हैं। उनका यह भाव कालिदास से पुष्ट होता है। कालिदास के मेघदूत पर लिखते समय वे इस विचार को स्पष्ट करते हैं—“व्यक्ति मनुष्य के हृदय की व्याकुल वेदना को अग-जग में व्याप्त वेदना की पृष्ठभूमि में, उसी के साथ एकमेक करके निधारते हैं। कुछ भी विच्छिन्न नहीं है, कुछ भी अजनबी नहीं है, बिन्दु से लेकर पर्वत तक एक ही व्याकुल वेदना समुद्र की लहरों की तरह पछाड़ छा-धाकर लौट रही है। एक तार को छोड़ो और महल्लो तार झनझना उठते हैं। सब तार मिस्रकर पूर्ण संगीत के निर्माण का कार्य करते हैं। नरलोक से किन्नर लोक तक एक ही व्याकुल अभिलाप-भाव उत्ससित हो रहा है। मिस्रन स्थिति-बिन्दु है, विरह गति-वेग है। दोनों के परस्पर आकर्षण से रूप की प्रतीति होती रहती है, विचार मूर्त आकार ग्रहण करते हैं। भावना सौन्दर्य बनती है। विरह में सौभाग्य पनपता है, रूप निघरता है, मन निर्मल होता है, बुद्धि एकता का सन्धान पाती है।”²

वस्तुतः कालिदास को आधार बनाकर लिखी गयी उक्त पंक्तियाँ ही उनके वैष्णव कवियों की समीक्षा का आधार बनती हैं। ‘नरलोक में किन्नर लोक तक एक ही व्याकुल अभिलाप भाव’ भगवान् की लीला का गायन कराता है। वे स्वयं कहते हैं कि, “भारतवर्ष के वैष्णव भक्त कवि लीला के द्वारा भगवान् की उपलब्धि करते हैं। भगवान् शक्ति में अनन्त हैं, किन्तु प्रेम के क्षेत्र में शान्त; शक्ति में वह पूर्ण है, प्रेम में भिक्षुक; शक्ति में वह उदासीन है, प्रेम में आसक्त। सान्त और अनन्त के इस द्वन्द्व ने भारतीय प्रेम काव्य को एक विचित्र रस से मधुर कर दिया है। वैष्णव भक्तों की कल्पना में श्रीकृष्ण द्वारिका में पूर्ण, मथुरा में पूर्णतर और बृन्दावन में पूर्णतम है।”³

वैष्णव भक्त कवियों में क्रमशः कृष्ण की सुलना में राधा का महत्त्व बढ़ता गया क्योंकि राधा की कृपा के बिना कृष्ण का मिलन संभव नहीं है।

“श्रीकृष्ण शृंगार-रस के सर्वस्व है। श्री राधिका की कृपा के सिवा उस रस में श्रीकृष्ण-प्राप्ति अमम्भव है। इस जड़ जगत में प्रात्याहिक क्रिया के साधन-रूप में जड़ देह में वास करता हुआ भी भक्त भावना-दशा में सिद्ध रूप में वाग करता है। सखियों के नाम, रूप, वय, वेश, सम्बन्ध, यूय, आज्ञा, सेवा, पराकाष्ठा, पाल्यदात्री और निवास को अपने में चिन्ता करते हुए भक्तों के मन में ललिता आदि सखियों का अभिमान पैदा होता

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी श्रव्यावली-8, पृ० 383

2. उपरिक्त, पृ० 133

3. उपरिक्त, पृ० 344

है और वे उस रूप की अनुभूति की ओर अग्रसर होते हैं। आगे चलकर वे विशुद्ध माधुर्य रस के अधिकारी होते हैं।”¹

राधा भाव के द्वारा उपासना करके ही भक्त भगवान् को प्राप्त करता है। आचार्य द्विवेदी सूरदास के प्रेम-तत्त्व पर विचार करते समय सूरदास की राधा की तुलना विद्यापति और चण्डीदास की राधा से करते हैं। वे जयदेव की राधा को भी नहीं भूल सके। इन तीनों की राधा सुन्दर है किन्तु सबसे धन्य है सूरदास की राधा—

“विद्यापति की राधा ईपदुद्भिन्ना हैं, जयदेव की पूर्ण विलासवती, प्रगल्भा और चण्डीदास की राधा उन्मादमयी, मोम की पुतली। ये तीनों ही धन्य हैं; पर और भी धन्य है वह बाल-किशोरी, वह “साल की बतरस सालच से मुरली सुका” घरने वाली, वह “आख-मिचौनी में बहरी अखियान के कारण बदनम” बरसाने की छवीली वृषभानु-सली। वह बालिका है, वह किशोरी है, वह ग्वालिनी है, वह नजरानी है। शोभा उम पर सौ जान से निसार है, शृंगार उसका गुलाम है, श्र्लोक्यनाथ उसकी आखो की ओर के मुहताज है, फिर भी वह तद्गत-प्राणा है। विरह में वह करुणा की मूर्ति है, मिलन में लीला का अवतार। प्रेमी के सामने वह सरस है; गाती है, नाचती है, हिंडोले पर झूलती है—अपने को एकदम भूल जाती है। प्रेम की गंभीरता आनन्द-कल्लोल से भर जाती है, पर विरह में वह गंभीर है और गोपियों की तरह उसमें उतावलापन नहीं रहता। वह सच्ची प्रेमिका है। सूरदास की राधा तीन लोक से न्यारी सृष्टि है—अपूर्व, अद्भुत, विचित्र।”²

आचार्य द्विवेदी सूरदास में प्रेमिका के हृदय-सौन्दर्य और मातृ-हृदय की सफल अभिव्यक्ति को देखकर भाव-विह्वल हो उठते हैं। वे उसे अद्वितीय मानते हैं—‘सूर-सागर’ में गोपियों का इतना विस्तृत वर्णन है कि उसे स्त्री-चरित्र का काव्य कहे तो अनुचित न होगा। उसमें मातृ-रूप का अभूतपूर्व चित्र उतरा है। प्रेमिका का, कामिनी का, पत्नी का, लडकी का, रानी का, ग्वालिन का और पर-स्त्री का इतना सुन्दर रूप शायद ही किसी एक काव्य में स्पष्ट हुआ हो। कहा जाता है कि सूरदास बाल-लीला वर्णन करने में अद्वितीय हैं, मैं कहूँगा, सूरदास प्रेम के स्वरूप के अपूर्व पारखी थे, मैं कहता हूँ, प्रेमिका के हृदय-सौन्दर्य का तटस्थ भाव से चित्रण करने में सूरदास के माथ समार के कुछ ही कवियों की गणना हो सकती है।”³

आचार्य द्विवेदी राधा और यशोदा के प्रेम में मिलन और विरह को केवल मिलन और विरह के रूप में ही प्रस्तुतीकरण करने को महत्वपूर्ण मानते हैं। वे कहते हैं कि “यह वह प्रेम नहीं है जो मिलन को वियोग और वियोग को मिलन की रागिनी से भर देता है; जिस प्रेम में चेतना सदा जाग्रत रहकर प्रेमी को सचेत करती रहती है; बल्कि यह वह प्रेम है जो प्रेमी को मिलन के आनन्द से अज्ञान कर देता है और विरह के ताप से भी

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-4, पृ० 48

2. उपरिक्त, पृ० 89

3. उपरिक्त, पृ० 99-100

अज्ञान कर देता है, जो मिलन को केवल मिलन-ठोस मिलन और विरह को केवल विरह के रूप में देखता है। सूरदास की यशोदा और राधा इमी प्रेम की उपासिका है।¹

आचार्य द्विवेदी सूरदास के प्रेम-वर्णन में छिपी कवि की व्याकुलता को पकड़ पाने में समर्थ हो गए। यह व्याकुलता अनजान में आई है किन्तु अनजान में आई व्याकुलता मनुष्य की प्रधान चिन्ता होती है। वे कहते हैं कि—

“इस स्थान पर हम यही कहना चाहते हैं कि अपने समस्त मिलन और वियोग के गानों में सूरदास की व्याकुलता छिपी पड़ी है। राधिका के अति निकटवर्ती श्रीकृष्ण कभी भी वृन्दावन में घरेलू आदमी से ऊपर नहीं गये। राधिका के साथ वे सर्वदा समान-भूमि पर ही शीटा कौतुक में मग्न रहे, परन्तु फिर भी कवि ने इम सामीप्य में एक मुद्गर का सुर भर दिया है। यह बात शायद अनजान में हो गयी है, पर जो बात अनजान में हो जाती है, वही निश्चित रूप से मनुष्य के मस्तिष्क की प्रधान चिन्ता होती है।”²

“नर-लोक से किन्नर-लोक तक व्याप्त व्याकुल अभिलाषा भाव” उन्हें कबीर के निर्गुण राम में दूमरे ही रूप में दिखायी पड़ता है। इस परमात्मा के अनेक नाम हैं और कबीर ने उन अनेक नामों का प्रयोग अपने निर्गुण राम के लिए किया है। वे मानते हैं कि उनके राम किसी रूप में अवतरित नहीं हुए। “कबीरदास ने बहुत विचार करके कहा है कि ये सब ऊपरी व्यवहार है। जो ससार में व्याप्त हो रहा है वह राम उनकी अपेक्षा अधिक अगम अपार है। उसको दूर खोजने की जरूरत नहीं, वह सारे शरीर में भरपूर हो रहा है, लोह झूठ है, चाम झूठ है, सत्य है वह राम जो इस सारे शरीर में रम रहा है।”³

आचार्य द्विवेदी यह जानते हुए भी कि कबीर जिस ‘पंडित’ की आलोचना करते हैं, उन्हें पता ही नहीं कि उस ‘पंडित’ के पास भी कोई तत्त्वज्ञान है, कबीर की भक्ति और उसकी तत्त्वयत्ता के वे प्रशंसक हैं। वे अपने अध्ययन का उद्देश्य बताते हुए कहते हैं कि “इस अध्ययन का उद्देश्य भी ऐसा कुछ दिखाना नहीं है, पर कबीरदास का पाठक जानता है कि उनके पदों में उम एक कोई अनन्य-साधारण बात मिलती है, जो सिद्धों और योगियों की अखण्डता-भरी अभितर्पों में नहीं है, जो वेदातियों के तर्क-तर्कण ग्रन्थों में नहीं है, जो समाज-सुधारकों की ‘हाथ-हाथ’ में भी नहीं है। कोई अनन्य साधारण बात। वह क्या है? फिर वह वस्तु भी क्या है जिसे रामानन्द से पाकर कबीर-जैना मस्तमौला फकड़ हमेशा के लिए उनका कृतज्ञ हो गया? दोनों का एक ही उत्तर है। वह बात भक्ति थी। वह योगियों के पास नहीं थी, महजयानी सिद्धों के पास नहीं थी, कर्मकाण्डियों के पास नहीं थी, ‘पंडितों’ के पास नहीं थी, ‘मुत्लाओं’ के पास नहीं थी, काजियों के पास नहीं थी।”⁴

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-4, पृ० 102

2. उपरिचत्, पृ० 103-104

3. उपरिचत्, पृ० 291-292

4. उपरिचत्, पृ० 305

इस प्रकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानवतावाद निष्ठा की दृढ़ नींव पर स्थित है। आज के निराशावादी युग में तुलसीदास का काव्य और जीवन एक आशा प्रदान करता है। तुलसीदास ने अपने जीवन में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना किया था। उनकी कठिनाइयों को समझकर वे मनुष्य और उसकी जिजीविषा की वन्दना करते हैं। वे आज के मानव से कह उठते हैं कि "जो लोग कठिनाइयों में हैं, दरिद्रता की मार से ग्रस्त हैं, उन्हें निराशा होने की जरूरत नहीं। जब-जब मुझे तुलसीदास की बात याद आती है, तब-तब लगता है कि परिस्थितियाँ मनुष्य को कष्ट पहुंचा सकती हैं, धक्का दे सकती हैं, पर रगड़कर नष्ट नहीं कर सकती। मनुष्य परिस्थितियों से बड़ा है वशतः यह मनुष्य हो, काम-क्रोध का पुतला जड़-पिण्ड नहीं, लोभ-मोह का गुलाम पशु नहीं, किसी प्रकार जीवित रहकर मरने की तैयारी करते रहने वाला भुनगा नहीं 'मनुष्य'।"¹

लोक-तत्त्व :

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मध्यकासीन कवियों की आलोचना करते समय लोक-तत्त्व को विस्मृत नहीं कर पाते। कबीर और मूर की आलोचना में वे लोक में प्रचलित इससे पूर्व की स्थितियों को नीचे के रूप में देखते हैं। कबीर से पूर्व हठयोगी बाह्याचार मूलक धार्मिक कृत्यों का खण्डन कर रहे थे। उस सुदीर्घ परम्परा का लाभ कबीरदास को अनायास ही मिला था। कबीर ने परमात्मा के लिए जिस राम शब्द का प्रयोग किया है वह भी उसे लोक से मिला। कबीर से अधिक उन्होंने मूरदास की समीक्षा में लोक-तत्त्व को महत्व दिया। लोक में चली आती हुई परम्परा का विकास ही वे मूरदास में देखते हैं। उनका मत है कि 'मूर-सागर' में वैष्णव भक्ति का प्रभाव अवश्य है किन्तु वह लोक-धर्म के अधिक निकट है—

"असल में 'मूरसागर' शास्त्रीय वैष्णव भक्ति-शास्त्र से प्रेरणा अवश्य लेता है, पर शास्त्रीय की अपेक्षा लोक-धर्म के अधिक निकट है। उसकी भाषा, छन्द, पात्र और विचार-सरणि शास्त्रीय विश्लेषण की अपेक्षा लोक व्यवहार के बहुत निकट पर्यवेक्षण से अधिक प्रभावित है। हिन्दी प्रदेश के लोकगीतों में वैष्णव भक्ति, तथापि श्रीकृष्ण-लीला का प्रवेश, महाप्रभु बल्लभाचार्य से बहुत पहले हो चुका था। वर्षों पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अनुमान किया था कि 'मूर-सागर' के पद किमी पुरानी लोक-परम्परा के गीतों का मार्जित रूप है। एकाएक ऐसी व्यवस्थित और मार्जित भाषा का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। इसका यह मतलब नहीं है कि ये गान मूरदास के रचे नहीं हैं। इसका मतलब यह है कि इस प्रकार की प्रेम-गीतियाँ, जिनमें कुछ प्रेम और विरह की अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण या पहले से ही लोक में प्रचलित थी।"²

आचार्य द्विवेदी ब्रज क्षेत्र में प्रचलित गणगौर की पूजा, नरी-मंमरी, साचौली, करौली की केला देवी और नगरकोट की ज्वाला जी की पूजा के समय गाये जाने वाले

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-4, पृ० 494

2. उपरिखत, पृ० 152

लोक-गीतो की चर्चा सूरदास के सन्दर्भ में करते हैं। वे देवी के प्रिय 'सागुर' के सम्बन्ध में भी चर्चा करते हुए सागुर गीतो को प्रस्तुत करते हैं। लोक जीवन में कुमारियाँ देवी की पूजा करके अपने लिए घर मांगती हैं। सूरदास की गोपियाँ भी वर रूप में श्रीकृष्ण को प्राप्त करने के उद्देश्य से देवी की पूजा करती हैं। वे इसे लोक-तत्व का प्रभाव मानते हैं। वे कहते कि "सूरदास ने गोप कुमारियों से ऐसा व्रत भी कराया है और सांगुर नन्द-लाल को उस उत्सव में जोड़ भी दिया है।"¹

आचार्य द्विवेदी 'सूरसागर' में चित्रित विभिन्न नारी-चरित्रों को देखकर उसे लोक-जीवन का चित्रण ही कहते हैं। उनका मत है कि 'सूरसागर' में गोपियों का इनना अधिक विस्तारित वर्णन है कि इसे स्त्री-चरित्र का विशाल काव्य कहा जाये तो अनुचित नहीं होगा। माता के वात्सल्य में वह बेजोड़ तो है ही, प्रेमिका का, पत्नी का, कुमारी का, रानी का, गोप बधू का, परिहास-पेशला का, चुहल करने वाली का, विरहिणी का, वासकसज्जा का, प्रोषित पतिका का भी वह अद्भुत, स्वाभाविक और सरस चित्रण करता है। पर ये सब किसी नायिका-भेद के प्रथ या प्रथों पर आधारित नहीं है। सब कुछ लोक-जीवन के निपुण निरीक्षण पर आधारित है। सूरदास का लोक-जीवन का अद्भुत ज्ञान अपने ढंग का अनोखा और अद्वितीय है।²

इस प्रकार आचार्य द्विवेदी 'सूरसागर' को लोकगीतो की परम्परा का काव्य तो मानते ही हैं, वे उसमें भी लोक-जीवन के चित्रण की प्रधानता ही स्वीकार करते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि "लोक-जीवन ही 'सूरसागर' की वीलाओ की मुख्य सामग्री है। विसातन, दही बेचने वाली, नट-बाजीगर, मेला, पनघट आदि के प्रसंग में सूरदास की याणी सहस्र सुरों में मुखरित हो जाती है। टोना-टोटका, मन्त्र-जन्म, भाङ-फूक आदि के लोक-प्रचलित विषयासों के माध्यम से रस का महास्रोत उमड़ पड़ा है। इनका प्रधान किसी प्रस्थानत्रयी या प्रस्थान-चतुष्टय से योजना बेकार है। साप के विष उतारने वाले गारुडी गारवी में आज भी बहुत है, सूरदास के समय में और भी अधिक रहे होंगे। उनको उपलक्ष्य करके मोहन-मधुर रस की अवतारणा सूरदास की ही करामात है।"³

आचार्य द्विवेदी यह मानते हैं कि सूरदास ने लोकोत्त्व के माध्यम से लोकोत्तर की अभिव्यक्ति की है। यही उन्हें प्रिय है क्योंकि उनके लालित्य तत्त्व के आधार स्तम्भों में से यह एक है। इसलिए 'सूरसागर' उन्हें अद्भुत लगता है। वे कहते हैं कि "मा यशोदा, नन्द दावा, कीर्ति मैया, राधा और उनकी लखिया, खाल-वाल की विभिन्न परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न मनोभावों का ऐसा सहज मनोहर चित्रण अद्वितीय है, पर सब-कुछ लिया गया है गुनरीक्षित लोक-जीवन से। गृहस्थ के जीवन के सारे आनन्द, औरमुष्य, चिन्ता, प्यार, प्रेम, विरह, सुख-दुःख इतनी सन्चार्य के साथ चित्रित होकर भी अन्ततः भगवान् की मधुर वीलाओ में पर्यवसित हुए हैं। अद्भुत है लोकतत्व की लोकोत्तर

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-4, पृ० 158

2. उपरिचत्, पृ० 158

3. उपरिचत्, पृ० 159

परिणति।¹

आचार्य द्विवेदी ने इस लोक-जीवन के चित्रण से एक अर्थ यह भी निकाला कि सूरदास जन्मांध नहीं थे। उन्होंने अवश्य ही गृहस्थ जीवन भी बिताया था। जीवन के वे अनुभव उन्हें याद थे। वे वाद में ही विरक्त हुए होंगे। वे स्पष्ट कहते हैं—

"परन्तु पूर्व-जीवन के समृद्ध अनुभव बने रहे। लोक-जीवन को उन्होंने मर-जीवान्त रूप में देखा था। नाना प्रकार के व्यंजन, अनेक प्रकार के आभूषण, अनेक प्रकार के वस्त्र-उपवास, तीज-त्यौहार, खेल-खूद, मेला-बाजार, होली-दीवाली, चारण-भाट, पंडा-पुरोहित, विनातिन-पनिहारिन, शादी-ब्याह सब उनके देखे और जाने हुए थे। लोक-जीवन को गोपी-गोपाल-लीला के बढ़ाने उन्होंने अत्यन्त जीवन्त रूप में उजागर किया। दृगीत की बारीकियों के वे समझदार थे, नृत्य की चतुर भंगिमाओं का प्रत्यक्ष-दृष्टि प्राप्त होना आक सकते थे। हास-परिहास और बोली-ठिठोली के भी वे उस्ताद लगते हैं। अनेक प्रकार के उन अग्रविश्वासों को, जो उन दिनों लोक-जीवन का दिव्यमन करते थे, सरस-मनोहर बनाकर प्रस्तुत करने की असाधारण समता रखते थे। मध्यकालीन ब्रज लोक-जीवन को, उसके भारे गुण-दोषों के साथ उन्होंने प्राणवन्त बना दिया है। निपुण निरीक्षण का ही नहीं, स्वयं भोगे हुए मत्स्य का प्रत्यक्ष रूप है। समूचा लोक-जीवन गोपियों और ग्वालों के साथ सरस रूप में प्रत्यक्ष हो उठा है। सूरदास विरक्त हो भी अपनी समृद्ध अनुभूतियों को नहीं भूलें थे। उन्होंने उसे भगवान् श्रीकृष्ण की समर्पण कर दिया, प्राण बालकर, समूचा आपा निचोड़कर, उन्होंने परामाराध्य को सौंप दिया। सूर के श्रीकृष्ण लोक-जीवन में घुल-मिलकर तद्रूप बन गये।"²

वस्तुतः सूरदास ने गोपालों का सजीव चित्रण किया है। आचार्य द्विवेदी चित्रण में अभिभूत हैं किन्तु कृपक जीवन के चित्रण की कमी को उन्होंने उमारा 'सूरसागर' में जहाँ पशुपालक समाज का सादा जीवन जीवन्त हो उठा है वही कृपक जीवन-गतिविधियों का बहुत कम—नहीं के बराबर—चित्रण है। युद्ध की तो थोड़ी चर्चा आती है। किसी-किसी रूपक में उस समय के सरकारी कारिन्दों की, पटवारी—लिखत-मुमाहिब, अमीन, मुहरिर आदि की—चर्चा है जो अवश्य ही कृषि-जीवन से सम्बद्ध परन्तु मेती के बारे में विशेष कुछ नहीं है। वैसे उन्हें वस्त्रों की असाधारण जानकारी—तिषार का संहारा, पचरंग साड़ी, कटावदार और जड़ाऊ अंगिया, कुम्भो स-सूमर साड़ी, मेत-पीत चुनरी, पाटाभर, नीलाभर और पाण, अंगरक्षा आदि वि-वस्त्रों का केवल उल्लेख ही नहीं है, वरन् इस प्रकार काव्य में उन्हें गुंथा गया है। विविध रंगों का अद्भुत सामंजस्य पारखी को चकित कर देता है। फिर तेल, उब-दिन्दी, महावर, गहने आदि, जो प्रधानतः कृषि-जीवी समाज में बहुत समादृत थे, मनोरम होंकर उमरे हैं। लेकिन प्रधानरूप से गोपालक समाज के जीवन को ही उज

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी संवावली-4, पृ० 160

2. उपरिक्त, पृ० 167-168

किया गया है, हल, बैल, कुदालवाली जीवन-चर्या छूट ही गई है।¹

आचार्य द्विवेदी ने कालिदास पर विचार करते समय चित्रकला और नृत्य को लोक-तत्व के रूप में देखा है। नृत्य और चित्र गृहस्थ के लिए मंगलजनक माने गए हैं। इस मागल्य का अर्थ समझाते हुए वे कहते हैं कि "ताडव, कल्पवल्ली आदि को जब मागल्य कहा जाता है तब उसका मतलब यह होता है कि इनके द्वारा शरीर या बुद्धि का परितोष करने वाला प्रयोजन नहीं सिद्ध होता बल्कि इनमें ऐसा सौन्दर्य होता है जो हमारे अन्तरतर के चेतन्य को उल्लसित और आनन्दित करता है।"²

आचार्य द्विवेदी ने कालिदास द्वारा ब्रिजित लोक-जीवन के स्वस्थ स्वरूप की प्रशंसा ही की है। विलासिनियों के सुकुमार वर्णन में कालिदास ने उनके मदिरा-भ्रम को भी सुन्दर रूप दे दिया है। आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि "कालिदास ने विलासिनियों के सुकुमार वर्णन में अद्भुत कुशलता का परिचय दिया है। उन्होंने अनेक प्रकार के रत्न, माला, आभरण, मणि-मुक्ता, स्वर्ण आदि का बड़ा ही वैभवपूर्ण उज्ज्वल चित्र अंकित किया है। मदिरापान तक को उन्होंने इस प्रकार दिखाया कि मानो वह भी एक विशिष्ट मडन हो। 'मालविकाग्नि मित्र' नाटक में तो रानी इरावती अपनी बेटी से पूछती है कि "ऐसा सुना जाता है कि मदिरा स्त्रियों का विशेष मडन है, यह लोकापवाद क्या सत्य है?" निपुणिका उत्तर में कहती है कि "पहले तो यह लोकापवाद ही था, अब तुम्हें देख-कर सत्य सिद्ध हुआ है।" वस्तुतः कालिदास ऐसे सौन्दर्यप्राही कवि हैं कि वे हर जगह कुछ-न-कुछ सौन्दर्य खोज ही लेते हैं। इसलिए यह कह सकना कठिन हो जाता है कि अपने बताये हुए विविध अलंकरण द्रव्यों में वे किसे श्रेष्ठ समझते हैं।"³

कालिदास के ग्रंथों में नारी के अलंकारों, मडन द्रव्यों, आभरणों आदि का विस्तृत विवेचन है और हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने भी उनका विस्तार से विवेचन किया है। वस्तुतः आचार्य द्विवेदी ने लोक-तत्व का बिन्दु भी कालिदास से ही प्रहीत किया है। कालिदास लोक-जीवन का बड़ा सूक्ष्म वर्णन करते हैं। यही कारण है कि आचार्य द्विवेदी भी लोक-तत्व को महत्व प्रदान करते हैं।

मिथक सत्य

मिथक सत्य का ललित-साहित्य के लिए विशेष महत्व होता है। आचार्य द्विवेदी के ललित-निबन्धों और उपन्यासों में उसका विशेष उपयोग किया गया है किन्तु उन्होंने समीक्षा में भी उसे अपना लिया है। कालिदास की समीक्षा करते समय उन्होंने विश्व-व्यापक छन्द की चर्चा करके इच्छा, ज्ञान और क्रिया को स्वीकार किया। वे इस विश्व को चित्-शक्ति की सर्ववैच्छा का परिणाम मानते हैं। इसके द्वारा ही वे इच्छा, ज्ञान और क्रिया तक पहुँचते हैं। वे कहते हैं कि—

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभावली-4, पृ० 169

2. उपरिक्त, भाग-8, पृ० 245

3. उपरिक्त, पृ० 247-248

“मूल चैतन्य धारा केवलात्मा की इच्छा-शक्ति का रूप है। वह गतिमात्र है। त्रिया-शक्ति स्थिति मात्र है। गति और स्थिति के द्वन्द्व से ही रूप बनता है। गति चित्तत्व है। स्थिति अधित्तत्व है। चिद्रूपा गति वारम्बार अचिद्रूपा स्थिति से रोकी जाती है। चैतन्य धारा वारम्बार जड में स्थित आवर्षण शक्ति से नीचे की ओर खींची जाती है। वह बलिपत होती है, रूपायित होती है। जो कुछ विश्व-ब्रह्मांड में घट रहा है वह पिण्ड में भी हो रहा है। अन्तर यह है कि विश्व-ब्रह्मांड में केवलात्मक की मूल सितृक्षा बलवती है। पिण्ड में वह अचित् तत्व से मायाजन्य कंचुको या कोशों से आवृत है। विश्व-ब्रह्मांड में इच्छा-शक्ति और त्रिया-शक्ति में जितना साम्य है, उतना पिण्ड में नहीं है। भिन्न-भिन्न पदार्थों में इस वैषम्य की मात्रा भी भिन्न-भिन्न है। कहीं तो इच्छा-शक्ति अधिक जाग्रत है, कहीं अल्पधिक मुप्त। और जीवों की तुलना में वह मनुष्य अधिक जाग्रत है, मनुष्यों में भी जो मत्त्वगुणी है उनमें अधिक तीव्र है, औरों में कम। वस्तुतः गुणीभूत ज्ञान-शक्ति का नाम ही मत्त्व है, इच्छा-शक्ति का नाम ही रजस है और क्रिया-शक्ति का नाम ही तमस् है।”¹

आचार्य द्विवेदी भगवान् शिव के ताण्डव नृत्य को मिथक रूप में ही स्वीकार करते हैं क्योंकि ताण्डव को वे रस-विर्वाजित मानते हैं और नास्य को रस-युक्त। ताण्डव भगवान्, शिव द्वारा आरम्भ किया गया नृत्य है, यह मान्यता ही उसे मिथक के समीप पहुंचा देती है। आलोचना करते हुए भी कभी-कभी वे मिथकीय तत्वों का प्रयोग कर जाते हैं। कबीरदास की समीक्षा करते समय वे इसी प्रकार नृसिंह के मिथक को प्रस्तुत करते हैं।

“कबीरदास का रास्ता उल्टा था। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के सस्कार पड़ने के रास्ते हैं वे प्रायः सभी उनके लिए बंद थे। वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे, हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे, योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान् की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान् की नृसिंहावतार की मानव-प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भांति वे नाना असम्भव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे। हिरण्यकशिपु ने वर माग लिया था कि उसको मार सकने वाला न मनुष्य हो न पशु, मारे जाने का समय न दिन हो न रात, मारे जाने का स्थान न पृथ्वी हो न आकाश, मार सकने वाले का हृषिमार न धातु का हो न पाषाण का—इत्यादि। इसीलिए उसे मार सकना एक असम्भव और आश्चर्यजनक व्यापार था। नृसिंह ने इसीलिए नाना कोटियों के मिलन-बिन्दु को चुना था। असम्भव व्यापार के लिए शायद ऐसी ही परस्पर-विरोधी कोटियों का मिलन-बिन्दु भगवान् को अभीष्ट होता है, कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिन्दु पर खड़े थे। जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर में मुसलमानसत्त्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ पर एक ओर योगमार्ग निकल जाता

है, दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ से एक तरफ निगुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना—उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे धड़े थे।”¹

सालित्य

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानव-रचित सौन्दर्य को सालित्य की सजा प्रदान करते हैं। मानव-रचित सौन्दर्य सन्नित कलाएं हैं। चित्रकला, नृत्यकला, धूर्तिकला, संगीत कला और साहित्य के सौन्दर्य की व्याख्या वे सालित्य के अंतर्गत मानते हैं। कालिदास में वर्णित चित्रकला पर विचार करते समय वे भावानुप्रवेश और यथालिखितानुभव पर विचार करते हैं। किसी चित्र में मानसिक भावों के चित्रण को भावानुप्रवेश कहते हैं। नृत्य में नर्तकी जब जिन भावों को प्रदर्शित करना चाहती है, उन्हीं में विलीन हो जाती है तो उसे भावानुप्रवेश कहते हैं।

आचार्य द्विवेदी कालिदास के आधार पर भावाभिव्यक्ति और भावानुप्रवेश को समझते हुए कहते हैं कि “वास्तविक जीवन में उर्वशी का प्रेम राजा पुरुरथा से था। वास्तविक जीवन की यह मनोकामना ‘भावाभिव्यक्ति’ है। किन्तु जब उर्वशी ने लक्ष्मी के भाव का अनुभव किया तो उसे अपने वास्तविक जीवन की याद नहीं बहनी चाहिए थी। वह जिसका अभिनय कर रही है उस व्यक्ति (लक्ष्मी) के भावों को अपना भाव मानकर घटना चाहिए था। यदि वह ऐसा करती तो उसे ‘भावानुप्रवेश’ कहा जाता, क्योंकि उस अवस्था में वह लक्ष्मी के साथ अपने को एकमेक करके बोलने में समर्थ होती।”²

वस्तुतः ‘चित्रमोर्वशीय’ नाटक में उर्वशी को लक्ष्मी का अभिनय करते हुए दिखाया गया है। भेनका जो वादणी का अभिनय कर रही थी, उसने पूछा कि उसकी वृत्ति का एक सुन्दर पुरुष, लोकरूपान और विष्णु में से किस में लगी हुई है। लक्ष्मी का अभिनय करते हुए उसे ‘पुरुषोत्तम में’ यही उत्तर देना था किन्तु वह अभिनय को भूलकर अपने मन की ही बात कह गयी। अपने मन की बात भावाभिव्यक्ति है और पात्र का अभिनय करते हुए उसी में डूब जाना भावानुप्रवेश है।

आचार्य द्विवेदी यथालिखितानुभाव को समझते हुए कहते हैं कि “यथालिखितानुभाव स्वयं बनाये हुए चित्र से जिन प्रकार अनुभाव उत्पन्न होते हैं वैसे ही अन्य कलाकार द्वारा बनाये गये चित्र से भी हो सकते हैं।”³ इस प्रकार यथालिखितानुभाव में सहृदय कलाकार की अनुभूति का अनुभव करता है अथवा चित्र को देखकर उस व्यक्ति को ही समझता है। इस प्रकार कलाकार की दृष्टि से भावानुप्रवेश और सहृदय की दृष्टि से यथालिखितानुभाव है। ‘अभिज्ञान शकुन्तलम्’ में दुष्यन्त द्वारा बनाये गये चित्र को देखकर अदृश्य सानुमती भी उसे वास्तविक शकुन्तला को ही देख रही है, ऐसा

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-4, पृ० 339

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-8, पृ० 198

3. उपरिक्त, पृ० 199

समझती है।

आचार्य द्विवेदी कलाकार के महत्व के लिए उसके उपादानों को भी महत्वपूर्ण मानते हैं। कालिदास ने 'कुमारसंभव' में मानव-कलाकार के उपादानों और विधाता के उपादानों को समान महत्व दिया है, इसलिए द्विवेदी जी भी उसे महत्वपूर्ण मानते हुए कहते हैं कि "उपादान का ठीक-ठीक सन्निवेश आवश्यक तत्व है। वस्तुतः श्रेष्ठ कलाकार वह होता है जो अपनी इच्छा और उपादान की प्रकृति का ठीक-ठीक सामंजस्य कर सकता है। जिस या जिन उपादानों के सहारे कलाकृति का निर्माण होता है वे भी अपना व्यक्तित्व रखते हैं। उनका निर्देश मानना पड़ता है, उनकी प्रकृति के विरुद्ध यदि बलात् उनका उपयोग किया जाये तो कलाकृति की चारता को नष्ट कर देते हैं।"¹

कालिदास ने 'अन्यथाकरण' शब्द का प्रयोग भी किया है। आचार्य द्विवेदी ने भी स्वीकार कर लिया है। चित्रकार बाह्य जगत् की कुछ सामग्री को भी चित्र में प्रस्तुत करता है। यही 'अन्यथाकरण' है। आचार्य द्विवेदी उसे परिभाषित करते हुए कहते हैं कि 'अन्यथाकरण' अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा ही न रहने देना। फिर भी वह वस्तु को प्रथम रूप में चित्रित करने का प्रयास करता है। रेखा से, रंग से वह कमियों को पूरा करता है। इस कौशल में ही कलाकार का वैशिष्ट्य है। कालिदास ने 'अभिज्ञान शकुन्तलम्' में एक स्थान पर यह बात बड़े आकर्षक ढंग से कही है। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का चित्र बनाया था। उस चित्र को देखकर राजा ने कहा था कि चित्र में जो कुछ साधु नहीं होता अर्थात् जैसा है वैसा नहीं बन पाता उसे अन्यथा कर दिया जाता है। फिर भी उस (शकुन्तला) का लावण्य रेखाओं से कुछ निखर ही गया है, उसमें लगातार प्रभावित करते रहने की क्षमता जुड़ ही गयी है।"²

आचार्य द्विवेदी कालिदास को सौन्दर्य का ही कवि मानते हैं। कालिदास ने अपने काव्य में रूप, वर्ण, प्रभा और प्रभाव आदि का चित्रण सफलतापूर्वक किया है। आचार्य द्विवेदी इनही बातों के आधार पर कहते हैं कि :

"कौन नहीं जानता कि कालिदास सौन्दर्य के महान् गायक कवि हैं। रूप का, वर्ण का, प्रभा का और प्रभाव का ऐसा चितेरा दुर्लभ है, आभिजात्य और विलासिता का ऐसा उद्घोषी खोजे नहीं मिल सकता। कविता का सच्चा रसिक सिर धुनकर रह जाता है।"³

काव्य की समीक्षा भूलाघार रस है जिसका विवेचन हम आगे करेंगे।

भावप्रवणता

आचार्य द्विवेदी रसिक सहृदय हैं, इसलिए उनकी समीक्षा में भाव-प्रवणता का तत्त्व सहज ही उपस्थित हो जाता है। कालिदास और रवीन्द्रनाथ टैगोर की समीक्षा

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-8, पृ० 184

2. उपरिक्त, पृ० 187

3. उपरिक्त, पृ० 166

करते समय तो वे भाव-विभोर रहते ही हैं। गुरदास की समीक्षा में भी ऐसा हुआ है। 'संशय पर विजय' शीर्षक निबन्ध में वे तुलसीदास के संशय पर विचार करते हैं। 'राम-चरितमानस' के आरम्भ में तुलसीदास के मन का संशय व्यक्त है किन्तु शिव के प्रसाद की अनुभूति होते ही कविता की नदी बह निकलती है। द्विवेदी जी उस समय की स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं कि "हृदय ने जगाध सरोवर का रूप धारण किया। वेद पुराण रूपी अगाध समुद्र से रस घीचकर सन्तजन रूपी मेघ की धाराधार वर्षा से उगका हृदय लबालब भर गया और फिर उमगकर कविता की स्रोतस्विनी बह चली, उमड़कर बही, धमकाकर चली। कवि अपने विकल्प से दोलायमान सीमित चित्त से मुक्त होकर दूर खड़ा होकर इस हृदय-सिन्धु के उदेल उमंग को देख रहा है—कविता मरिता बह रही है। हा, वह भनिति-भदेस नहीं है, वह सचमुच सुकविता है। कवि स्वय-स्वय को देर रहा है। वह जैसे कोई और हो, दीन तुनसी अब वह नहीं है। वह सहज समाधि की अवस्था में आ गया है। सहज समाधि 'यत्र मनसा मन. समीक्ष्यते', जहां मन से ही मन को देखा जाता है।"¹

वस्तुतः आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी किसी कवि की कटु आलोचना नहीं करते अपितु जिन कवियों के प्रभाव से उनका हृदय और बुद्धि प्रभावित है, उन्हीं पर वे जमकर लिखते हैं। कबीरदास, गुरदास, तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ टैगोर और कालिदास ही ऐसे साहित्यकार हैं जिन पर उन्होंने जमकर लिखा है। उनकी आलोचना में इसलिए सर्जनात्मकता का समावेश हो जाता है। यही कारण है कि कुछ आलोचक तो द्विवेदी जी की समीक्षा में उतनी शक्ति मानने ही नहीं जितनी शक्ति उनके निबन्धों और उपन्यासों में मानते हैं। ऐसे आलोचकों को उत्तर देते हुए डॉ० रामदरश मिश्र कहते हैं कि "आलोचना में सर्जनात्मकता का रस देखकर ऐसे ही आलोचक चौंक उठते हैं और यह कहना शुरू करते हैं कि इस आलोचक को रचना के क्षेत्र में रहना चाहिए था जैसे कि आलोचना का सर्जनात्मकता से कोई सम्बन्ध नहीं।"²

आचार्य द्विवेदी की सर्जनात्मक शक्ति का सशक्त उदाहरण 'मेघदूत एक पुरानी कहानी' है। इसे आपने गप्प की तरह ही सिखा है, यद्यपि यह 'मेघदूत' की टीका ही है। इसका आरम्भ ही हमारे कथन की पुष्टि करता है, "कहानी बहुत पुरानी है, किन्तु बार-बार नये सिले से कही जाती है। अतः एक बार फिर सुहराने में कोई नुकसान नहीं है।"³ इसी प्रकार मेघ को दूत बनाते समय तो वह बिलकुल ही भावात्मक होकर कह उठते हैं—

"लेकिन यह तो पागलपन की हद है। 'धाम-धूम-नीर औ समीरन को सन्निपात, ऐसो जड़ मेघ कहा दूत-काज करिहै?'—आज तक यह हुआ भी है? घुएँ, प्रकाश, जल और वायु से बना मेघ कहा, और सन्देश ले जाने वाला चतुर सन्देशवाहक कहा। यक्ष का

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-4, पृ० 507

2. स० डॉ० शिवप्रसाद सिंह, शांतिनिकेतन में शिवालयिक, पृ० 212

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-8, पृ० 20

दिमाग खराब हो गया क्या ?”¹

आचार्य द्विवेदी समीक्षा में अपनी कल्पना, ‘गण्य’ देने की प्रवृत्ति और भाव-प्रवणता को छोड़ नहीं पाते। पंडितों द्वारा तैयार की गई मूरदास की जीवनी को वे वास्तविक नहीं मानते अपितु कल्पना करते हुए और रवीन्द्रनाथ की ‘मूरदासेर प्रार्थना’ शीर्षक कविता का सहारा लेते हुए एक जीवनी ही प्रस्तुत कर देते हैं जिसमें मूरदास एक युवा सुन्दर साधु था किन्तु एक दिन अनायास ही उसका ध्यान भंग हो जाता है। उसे अपना भगवान एक अपूर्व अभिनव मोहिनी मूर्ति में दिखायी पड़ता है। वह साधु उस नारी के पीछे-पीछे उसके घर जाकर दो काटों से अपनी आंखें फुडवा लेता है। इस कहानी को लिखने के पश्चात् वे भावातिरेक में कह उठते हैं, “उस पारस-मणि के स्पर्श करते ही अवश्य काटों से—युवक कवि हो गया, कवि, भक्त। चक्षुष्मान अन्धा हो गया, अन्धा, प्रज्ञाचक्षु।”²

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी राधा-कृष्ण के पारस्परिक प्रेम पर सन्देह करने वालों को भावात्मक ढंग से समझाते हैं। वे मतिराम की दो पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए कहते हैं कि ब्रज भाषा का कवि तो कह उठेगा, “धूल डाल दो उसकी आंख में, जो इसमें कल्प प्रवृत्ति देखता है। एक मूढ़ी नहीं, हजार मूढ़ी—दस हजार मूढ़ी।” मतिराम के उद्धरण के पश्चात् वे प्रश्नात्मक भाषा के द्वारा अपने हृदय के भाव को ही अभिव्यक्त करते हैं—

“क्या कहेंगे आप ईश्वर को ? इस भावना को ? इस विश्वास को ? पागलपन ? छीछालेदर ? ना, कृपा करके यह न कहिए। उस रहस्यमय ईश्वर को समझने की कोशिश कीजिए। कवि की आंखों से ही एक बार उसके मनमोहन को देखिए। उस आखिन में राखिए जोग’ को सम-व्यधिदेव के साथ देखिए। देखिएगा, वासुदेव और आभारो के बाल देवता के इस संयुक्त संस्करण के चारों ओर ठोस प्रेम की कितनी जमावट आ जमी है। अति प्राकृत का रूप कितना प्राकृत हो गया है। देखिएगा, ‘राधारानी’ के विशुद्ध काल्पनिक रूप के चारों ओर कितना सरस प्रेम, सहज सौन्दर्य घनीभूत हो उठा है, शून्य को जकड़कर किस मधुर स्नेह का स्तूप तैयार हो गया है। गोपियों को देखियेगा—प्रेम की असंख्य प्रतिमाओं के रूप में।”³

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी रवीन्द्रनाथ के ‘पुनश्च’ शीर्षक कविता-पुस्तक की आलोचना करते समय ‘छुट्टी’ नाम की कविता पर अपनी टिप्पणी करते हैं, “कितना उदास होगा वह स्थान, जहाँ दिन-रात शिरीषवन के गन्ध पथ पर मधुमन्दिषया उड़ा ही करती है, सुदूर मेघ उड़ते नजर आते हैं, जहाँ जल की कल-कल ध्वनि प्राणों को उदास कर देती है, जहाँ पुरानी स्मृतियाँ इतनी पुरानी हो गयी हैं कि बादल-भरी रात को अब अधिक नींद नहीं तोड़ती। उस स्थान की कल्पना भी मन को उदास कर देती है। कल्पना

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-8, पृ० 26

2. उपरिचत्, भाग-4 पृ० 124

3. उपरिचत्, पृ० 141

कीजिए उस गाय चराने वाले मैदान के पुराने बरगद के पेड़ की, जिनके नीचे कोई प्रहर-भर आकर बैठ जाता है, कोई पाव फँसाकर बशी बजा जाता है, नयी आशाओं और अभिनायाओं की अधिष्ठात्री नव वधू की पालकी भी उदास दुपहरिया में रक जाती है। पर कोई रुकने का नाम भी नहीं लेता, कोई रोकने का आग्रह भी नहीं करता, ऐसा कोई भी नहीं है, जो, दूर रखे जाने या धुलाये न जाने के कारण मान भी करे। मिस्ली की आवाज में जब चाद की शीर्ष प्रभा मिस जाती होगी, तो वह स्थान सचमुच उदास की रंगभूमि हो जाता होगा। और हमारा कवि उसी स्थान की यात्रा के लिए कहता है— 'दो ना (मुझे) छुट्टी !' सहृदय का प्राण भी कातरता के साथ कह उठता है— 'दो ना (मुझे) छुट्टी !' पर कहाँ, छुट्टी तो नहीं मिलती।¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा-जैली भाव-प्रवण ही है। वे जब भी किसी कविता से प्रभावित होते हैं, उसका बौद्धिक विवेचन तो करते ही हैं किन्तु भाव-प्रवण भी हो जाते हैं। रवीन्द्रनाथ की कविता 'एक कुत्ता और एक मैना' का विवेचन कर चुकने के पश्चात् अन्त में दी गयी उनकी टिप्पणी इसी प्रकार की है—

"जब मैं इस कविता को पढ़ता हूँ तो उस मैना की करण मूर्ति अत्यन्त साफ होकर सामने आ जाती है। कैसे मैंने उसे देखकर भी नहीं देखा और किस प्रकार कवि की आँखें उस बिचारी के मर्मस्थान तक पहुँच गयीं, सोचता हूँ तो हैरान हो रहता हूँ। एक दिन वह मैना उड़ गयी। सायकाल कवि ने उसे नहीं देखा। जब वह अकेले जाया करती है उस डाल के कोने में, जब धीगुर अन्धकार में झनकारता रहता है, जब हवा में बास के पत्ते झरझराने रहते हैं, पेड़ों की फाक से पुकारा करता है नींद तोड़ने वाला सन्ध्या तारा ! कितना कर्ण है उसका गायब हो जाना।"²

रस सम्बन्धी दृष्टिकोण और साहित्य-विधान

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी यद्यपि काव्य को साध्य न मानकर साधन ही मानते हैं किन्तु वे हैं रसवादी आचार्य। रस और भाव को ही वे सर्वत्र खोजते-फिरते हैं, नृत्य हो, चित्र हो, काव्य हो, लोक-जीवन हो, मिथक हो—सर्वत्र रस और भाव की ही सर्चा रहती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि उनके साहित्य सिद्धान्त की आत्मा रस ही है। 'कालिदास की साहित्य योजना' के 'करण विगम और रसास्वाद की प्रक्रिया' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने रस और रसास्वाद की प्रक्रिया पर विस्तार से विचार किया है। वे कलाकार और सहृदय के बीच समाधि का नाता जोड़ते हैं। वे कहते हैं कि "कलाकार के चित्त में जो व्याकुलता होती है, उसे रूप देने का प्रयत्न ही कला है। उसके लिए उसे साधना की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार की व्याकुलता उसके चित्त में होगी उसी प्रकार की व्याकुलता उसकी कृति सहृदय के हृदय में उत्पन्न कर सकती है, उससे ज्यादा नहीं। इसीलिए यदि कलाकार समाधि-निष्ठ हो सका है तो बदले में सहृदय को भी

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-8, पृ० 409-410

2. उपरिखत्, पृ० 286

समाधिनिष्ठ कर सकता है। यदि वह शिथिल-समाधि है, तो सहृदय की भी समाधि शिथिल होगी।¹

आचार्य द्विवेदी ने रस-निष्पत्ति पर विस्तार से विचार किया। वे ध्वनिवादी आलंकारिकों की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते कि रस व्यंग्यार्थ होता है। इस सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत है कि "रस अनुभूति है, अनुभूति का विषय नहीं। भाव तो विभाव के चित्त में ही उठने हैं। दर्शक के मन में उनका एक मानस-सूक्ष्म रूप उत्पन्न होता है जिससे वह अपनी ही अनुभूतियों का आनन्द लेने में समर्थ होता है। सभी आलंकारिक आचार्य मानते हैं कि रस न तो 'कार्य' होता है और न 'शाप्य'। वह पहले से उपस्थित भी नहीं रहता। जो वस्तु पहले से उपस्थित नहीं रहती, वह व्यञ्जना-वृत्ति का विषय भी नहीं हो सकती। रस सहृदय श्रोता या दर्शक के चित्त में अनुभूत होता है, पात्र के चित्त में नहीं। अतः व्यञ्जना-वृत्ति केवल श्रोता या दर्शक के चित्त में सूक्ष्म विभाव, अनुभाव और संचारी भाव को उपस्थित कर सकती है और जो कुछ कहा जा रहा है उससे भिन्न, जो नहीं कहा जा रहा है, या नहीं कहा जा सका है, उस अर्थ की उपस्थिति करा सकती है।"²

आचार्य द्विवेदी कबीर पर विचार करते समय उन्हें अन्य सन्त कवियों, नाय-पदियों आदि से श्रेष्ठ जिस तत्त्व के आधार पर करते हैं, वह तत्त्व भक्ति है—भक्ति रस। वे स्वयं कहते हैं कि "तो, जिस दिन से महागुरु रामानन्द ने कबीर को भक्ति रूपी रसायन दी, उस दिन से उन्होंने सहज समाधि की दीक्षा ली, आख मूढ़ने और कान घने के टण्टे को नमस्कार कर लिया, मुद्रा और आसन की गुलामी को सलामी दे दी। उनका चक्रता ही परिक्रमा हो गया, काम-काज ही सेवा हो गये, सोना ही प्रणाम बन गया, बोलना ही नाम-जप हो गया और खाने-पीने में ही पूजा का स्थान ले लिया। हठ-योग के टण्टे दूर हो गये, खुली आँखों से ही उन्होंने भगवान् के मधुर मादक रूप को देखा, खुले कानों से ही अनहद नाद सुना, उठते-बैठते सब समय समाधि का आनन्द पाया"³

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के काव्य में भक्ति और प्रेम की चर्चा करते समय स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि कबीर की भक्ति का विरोध शास्त्र में नहीं है। वे कहते हैं कि, "यही है वह अपूर्ण तन्मयता, अहेतुक प्रेम, अनन्य परायण विश्वास और एकान्त-निष्ठा, जो भक्ति की एकमात्र शर्त है। कबीर निस्सन्देह ऐसे भगवान् को मानते थे जो द्वन्द्वातीत है, पलातीत है, द्वैताद्वैत विलक्षण है, त्रिगुणरहित है, 'अपरम्पार पारंपुरसोत्तिम' है, अकथ है, अकल है, अतीत है, परन्तु कौन भक्त भगवान् को ऐसा नहीं मानता? जो सोग शास्त्र-ज्ञान का दावा करते हैं और फिर भी कबीर की भक्ति और अद्वैत-भावना और निर्गुण-प्रेम को परस्पर-विरोधी समझते हैं उनका उद्देश्य क्या है, यह वही जाने।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी श्रवावली-8, पृ० 204

2. उपरिवत्, पृ० 205

3. उपरिवत्, पृ० 315

हम तो दृढ़ता के साथ कहने का साहस करते हैं कि कबीर की भक्ति और भगवद्भावना में न तो युक्ति से विरोध है और न शास्त्र से।¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सात्विक अनुभूति में ही रस मानते हैं। वे महादेवी की कविताओं पर विचार करते समय कहते हैं कि उनकी कविताएं आरम्भ से ही अनुभूति की प्रधानता से युक्त रही हैं। वे आलंकारिकों के इस मत को स्वीकार करते हैं कि अनुभूति के तीन प्रकार होते हैं। उनके सम्बन्ध में अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि "तामस अनुभूति में कवि स्वयं थका-सा प्रतीत होता है, उसके पाठक भी कविता पढ़कर हताश और क्लान्त हो उठते हैं। राजस अनुभूति आसक्ति-प्रधान होती है। इसमें कवि की आसक्ति का वेग तीव्र होता है। उसका पाठक भी आसक्ति का अनुभव करता है, उसका मन हलका नहीं हो पाता। सात्विक अनुभूति में ही रस का परिपाक होता है। कवि उस समय अपनी आसक्तियों पर विजयी होता है। वह जो कुछ कहता है, साफ कहता है, हृदयप्राही कहता है—पाठक उससे आनन्द पाता है, उसके चित्त पर दुःख या सुख का बोझ नहीं होता। महादेवी जी की कविताओं में राजस और सात्विक अनुभूतियाँ पास-ही-पास पड़ी दिखायी देती हैं। यहाँ वे आसक्तियों से ऊपर उठ जाती हैं, वहाँ आसक्तियों उन्हें ले डूबती हैं। आसक्ति की प्रबलता के समय उनकी भाषा दुर्बोध, बोझिल और अस्पष्ट हो उठती है। वे स्वयं भूल जाती हैं कि उन्हें क्या कहना है।"²

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी महादेवी जी पर विचार करते समय रस-परिपाक की दृष्टि से ही समीक्षा कर रहे हैं। वे आधुनिक युग के कवियों में रस-परिपाक कम ही पाते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि "किन्तु वर्तमान युग का कवि अपनी अनुभूतियों, अपने व्यक्तिगत मुख-दुःखों, हर्ष-विपादों, लज्जा-असूयाओं का गान करना अत्यन्त आवश्यक समझता है। ऐसी अवस्थाओं में वह 'रस' के परिपाक की ओर उतना ध्यान नहीं देता, जितना स्वाधी या सचारी भावों को खोल-खोलकर—निरतिशय वाच्य रूप में—प्रकट करने की ओर।"³

वस्तुतः आचार्य द्विवेदी सस्कृत साहित्य के रस-परिपाक से अत्यन्त प्रभावित थे। सस्कृत में उभयपक्षी प्रेम का चित्रण है। सस्कृत के आचार्य भी एकपक्षीय प्रेम को रस नहीं अपितु रमाभाम मानते हैं, इसीलिए द्विवेदी जी को आधुनिक युग के कवियों का रोना-धोना पसंद नहीं आता होगा। वे स्वयं परम्परावादी को स्पष्ट दृष्टि करते हुए कहते "प्राचीन आचार्य प्रेम आदर्श का चित्रण करना उतना जरूरी नहीं समझते, जितना रस है कि के ध्येय करने को। आज का कवि अपने प्रेम-यात्र के अज्ञान में भी—उसका प्रेम अपने प्रति न होने हुए भी घुल-घुलकर मरता है, निराश और क्लान्त मुर में गान करके आवाश-पाताल एक कर देता है। वहते हैं, फारसी-साहित्य में इस प्रकार के आदर्श प्रेम के गान भरे पड़े हैं, अंग्रेजी में तो हैं ही। इस समय मुझे याद नहीं आता कि सस्कृत-

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-4, पृ० 314

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10 पृ० 166

3. उपरिक्त, पृ० 172

साहित्य में ऐसा एकतरफा प्रेम का चित्रण कही पढ़ा है या नहीं। शायद नहीं पढ़ा। इतना जरूर याद आ रहा है कि प्राचीनों ने एकतरफा प्रेम को—अनुभयनिष्ठा रति को—‘रस’ नहीं ‘रस-भास’ कहा है।¹

रस-परिपाक के कारण ही आचार्य द्विवेदी मूरदास पर जमकर लिख सके हैं। मूरदास ‘कामजा रति’ और ‘वत्सला रति’ में अपना मन रमाने में बेजोड़ हैं और अपना सानी नहीं रखते। सूर का वात्सल्य-वर्णन तो अनोखा है ही। आचार्य द्विवेदी उस सम्बन्ध में कहते हैं कि “वात्सल्य के चित्रण में तो उनके साथ ज्ञात जगत् के किसी भी कवि का नाम लेना कठिन है। उनकी वर्णित बाललीला में माता और शिशु की प्रायः सभी चेष्टाओं का अत्यन्त मोहक और फिर भी पूर्णतः मनोवैज्ञानिक चित्रण है। जन्म से ही शिशु की विविध चेष्टाओं का ऐसा यथार्थ-सलित चित्रण है कि उनकी पर्यवेक्षण शक्ति को देखकर ससार के सभी सहृदय आश्चर्यचकित रह जाते हैं। केवल विविध चेष्टाओं का वर्णन ही उसका उद्देश्य नहीं है, उद्देश्य है निश्चितरत्ना प्रेममय श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति की अभिव्यक्ति। इसीलिए, इनमें यथार्थ चित्रण के साथ एक विशेष प्रकार का लुभावना आत्मसमर्पण भी है। यही इन रचनाओं को कविजनोचित सलित वर्णन से अधिक मोहक बना देता है।”²

आचार्य द्विवेदी ने ज्ञात कथा के आधार पर श्रेष्ठ काव्य-लेखन में रस के अवयवों पर ध्यान देने, अनुभूति की तीव्रता तथा सवेद्यता पर विशेष बल दिया है। मूरदास ने कोई नवीन कल्पना नहीं की थी अपितु ‘भागवत’ की अत्यन्त परिचित कथा के ऐसे प्रसंगों पर कलम चलायी जो रमोद्रेक करने में समर्थ हों। परमात्मा के माधुर्य वर्णन में मूरदास अत्यन्त सफल रहे। आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि “संसार के थोड़े ही कवि इस दिशा में मूरदास की तुलना में रखे जा सकते हैं। रूप का, रंग का, आकृति का, ऐसा सुखद रूप काव्य की दुनिया में कम ही उपलब्ध होता है, दृग्विम्बों के निर्माण में मूरदास बेजोड़ हैं। परन्तु रूप या विग्रह में वे केवल श्रीकृष्ण तक ही सीमित नहीं रहते। राधा का, गोपियो का, ग्वाल-बालो का, कुंजों का, ऋतु-प्रवर्तक चिह्नों का उन्होंने जम कर वर्णन किया है। पर इससे भी अधिक उनका मन ध्रुतिविम्बों के निर्माण में लगता है। बहाना है वेणुनिनाद—मुरली की चमत्कारी ध्वनि।”³

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य द्विवेदी रस को लालित्य का एक अंग ही मानते हैं। वे अपनी समीक्षा में रस को आधार बनाते हैं और उसी आधार पर प्राचीन काव्य को नवीन काव्य की तुलना में श्रेष्ठ स्थापित करते हैं। श्रेष्ठ काव्य के लिए रस-परिपाक एक शर्त बन जाती है। उस शर्त पर कालिदास खरे उतरते हैं, कबीर भी खरे हैं, सूर और तुलसी खरे हैं और रवीन्द्रनाथ भी खरे हैं। उन्हीं में मन रमा है और व्यवहारिक आलोचना के समय उन्हीं पर जमकर लिखा भी है।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 172

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-4, पृ० 184-185

3. उपरिखण्ड, पृ० 170

समीक्षा की भाषा में लालित्य-योजना

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने समीक्षा करते समय सामान्य विवेचनात्मक शैली का प्रयोग तो किया ही है किन्तु भावनात्मक और व्यंग्यात्मक शैली के माध्यम से उन्होंने व्यवहारिक समीक्षा को एक नया आयाम ही दे दिया है। जब वे समीक्षा में ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करते हैं तो भाषा विवेचनात्मक ही उठती है। इसी प्रकार से जब वे शब्दों के विकास पर विचार करते हैं तो विवेचन शैली को अपनाते हैं। 'अवधूत' शब्द पर विचार करते हुए कहते हैं कि "भारतीय साहित्य में यह 'अवधू' शब्द कई सम्प्रदायों के सिद्ध आचार्यों के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। साधारणतः जागतिक द्वन्द्वों से अतीत, मानापमान-विवाजित, पहुंचे हुए भोगी को अवधूत कहा जाता है। यह शब्द मुख्यतया तांत्रिकों, सहजयानियों और योगियों का है। सहजयान और वज्रयान नामक बौद्ध तांत्रिक मतों में 'अवधूतीवृत्ति' नामक एक विशेष प्रकार की योगिक वृत्ति का उल्लेख मिलता है।"¹

वरसुत आचार्य द्विवेदी जब अपने हृदय को अभिव्यक्त करते हैं तो समीक्षा की भाषा भी भावात्मक ही उठती है। कबीर की शक्ति पर विचार करते हुए वे 'गुरु' और 'गुरो' का सम्बोधन करते समय 'धन्य' कहने से नहीं चूकते। ये धन्य न केवल भाषा को भावात्मक रूप प्रदान करता है अपितु कबीर की साधियों के अर्थ की समीक्षा भी कर देता है, "धन्य हैं वे गुरु" वे सचमुच उस भ्रमरी के समान हैं जो निरन्तर ध्यान का अभ्यास कराकर कीट को भी भ्रमरी (तितली) बना देती है। कीड़ा भ्रमरी हो गया, नमी पावें फूट आमी, नया रंग छा गया, नयी शक्ति स्फुरित हुई। उन्होंने जाति नहीं देखी, वृत्त नहीं विचारा। अपने-आप में मिला लिया। नाले का पानी गंगा में जाकर गंगा ही जाता है, कबीर गुरु में मिलाकर तद्रूप हो गये। धन्य हो गुरो, तुमने चंचल मन को पगु बना दिया, तत्त्व में सत्वातीत को दिखा दिया, बन्धन से निर्वन्ध किया, अगम्य तक गति कर दी। केवल एक ही प्रेम का प्रसंग तुमने सिखाया, पर कौसा अचरज है कि इस प्रेम मेघ की वर्षा में यह शरीर भीग गया।"²

भाषा में लालित्य साधना का एक अन्य रूप उन्हें और भी प्रिय था और वह रूप है मुहायरेदार टक्काली भाषा का। लगभग प्रत्येक वाक्य में एक मुहावरा ठीक देना बैसे ही है जैसे कालिदास की नायिका के प्रत्येक अंग के पुष्पाभूषण हो। कबीर द्वारा योग मार्ग को त्याग कर शक्ति की ओर चले जाने के प्रसंग पर वे लिखते हैं कि "इमीतिए ये फक्कड़राम किसी के घोबे में आने वाले न थे। दिल जम गया तो ठीक है और न जमा तो राम-गम करके आगे चल दिये। योग-प्रक्रिया को उन्होंने ठटकर अनुभव किया, पर जंबी नहीं। उन नकटों के सपान बुप्पी साधना उन्हें मालूम न थी जिन्हीने इस आशा पर नाक बटा ली थी कि इस बाधा के दूर होते ही स्वर्ग दियायी देने लगता है। उन्हें यह

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-4, पृ० 217

2. उपरिक्त, पृ० 315

परवाह न थी कि लोग उनकी असफलता पर क्या-क्या टिप्पणी करेंगे। उन्होंने बिना लाग-लपेट के बिना झिझक और संकोच के ऐलान किया...।”¹

हिन्दी समीक्षा में मुहावरा और भावात्मकता का ऐसा मजिदुराचन सयोग अन्यत्र दुर्लभ है। ये फक्कड़राम (हजारी प्रसाद द्विवेदी) किसी कवि पर दिल जम गया तो उसकी नाक ऊंची करने के लिए यह परवाह नहीं करते थे कि और आलोचक उसकी आलोचना को पढ़कर राम-राम तो नहीं करने लगेंगे। वे बिना लाग-लपेट के, बिना झिझक और बिना संकोच के ऐलानिया ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं क्योंकि वे उन नकटों के समान चुप्पी नहीं साध सकते जिन्होंने इस भाषा पर नाक कटा ली थी कि इस वाधा के दूर होते ही स्वर्ग दिखायी देने लगता है। भला द्विवेदी जी से बड़ा फक्कड़ हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में और कौन हो सकता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपर्युक्त उद्धरण में ‘फक्कड़राम’, ‘घोखे में आना’, ‘दिल जमना’, ‘राम-राम करना’, ‘नकटों के समान चुप्पी साधना’, ‘नाक काटना’, ‘ऐलान करना’ जैसे मुहावरों के द्वारा भावात्मक शैली के माध्यम में अपने मत को प्रस्तुत करने में उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। भावात्मकता को प्रस्तुत करने के और रूप भी उन्हें आते हैं। उनकी शैली का एक अन्य प्रमुख रूप है—बहुत लम्बी वाक्य रचना। कबीर और रबीन्द्रनाथ की प्रेम सीला की तुलना करते हुए एक ही वाक्य में वे सब कुछ कह देते हैं। उनका वह वाक्य ‘सतसैया का दोहरा’ ही जाता है, “एक की केलि यत साधित है, दूसरे की स्वयं प्राप्त, एक अपने को और अपने पौरुष को भूलकर भी भूलना नहीं जानता, दूसरे अपने को और अपनी शक्ति को स्मरण रखकर भी भूल जाता है, एक श्रियात्मक है, दूसरा भावनात्मक, एक का मार्ग साधना का मार्ग है, दूसरे का मार्ग सौन्दर्य का, एक करने में विश्वास करता है, दूसरा होने में, एक प्रधान रूप से सन्त है, दूसरा कवि।”²

इस प्रकार की भाषा का रूप अनेक स्थलों पर मिलता है। जहाँ कहने को बहुत कुछ है, मन रम रहा है, वहाँ वे इसी शैली का प्रयोग कर जाते हैं। कबीर के राम दगरप-पुत्र नहीं थे, इसी बात को कहने के लिए वे एक बहुत लम्बे वाक्य का प्रयोग करते हैं, “वे न तो दशरथ के घर उतरे थे और न लंका के राजा का नाश करने वाले हुए, न तो दैवकी की कोख से पैदा हुए थे और न यशोदा ने उन्हें गोद खिलाया था, न तो वे ग्वालोर के मंग पूजा करते थे और न उन्होंने गोवर्धन पर्वत को धारण ही किया था, न तो उन्होंने सामन होकर बलि को छला था और न वेदोद्धार के लिए बराह रूप धारण करके धरती को अपने दातों पर ही उठाया था, न वे गण्डक के शालिग्राम हैं, न बराह, मत्स्य, कच्छप आदि वेपधारी विष्णु के अवतार, न तो वे नर-नारायण के रूप में बदरिका आश्रम में ध्यान लगाने बैठे थे और न परशुराम होकर शत्रुओं का ध्वंस करने गये थे,

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-4, पृ० 320

2. उपरिच्युत, पृ० 355

और न तो उन्होंने द्वारिका में शरीर छोड़ा था और न वे जगन्नाथ-धाम में वृद्ध-रूप में ही अवतरित हुए।¹

आचार्य द्विवेदी भाषा में एक प्रयोग और करते हैं। वे प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर भाषा को काव्यात्मक बनाते हैं। ऐसे स्थल हैं भी अनेक ! रवीन्द्रनाथ की कविता 'शेषा' पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि "भक्त हैरान है ! इसे ही क्या दान कहने हैं ? हाय, हाय, उमे वह कहाँ छिपा कर रखे ? स्थान कहाँ है ? हाय प्यारे, यही क्या तुम्हारा दान है ? मैं शक्तिहीन नारी, मुझे क्या यह आभूषण शोभेगा ?"²

आचार्य द्विवेदी समीक्षा में काव्यात्मक भाषा का प्रयोग भी करते हैं। कोई सागरूपक बाधकर अपनी बात कह जाते हैं। मध्यकाल के हिंदी साहित्य के लिए वे महानद का उपमान प्रस्तुत करते हैं और फिर उससे संबंधित अन्य उपमानों को भी समेट लेते हैं—“उम युग का काव्य महानद के समान है, उसके दस-बीस-गचास तरंग निरर्थक या शिथिल भी हो तो कोई हर्ज नहीं, बीच-बीच में र्शवाल-पुन के कारण अविलता भी गयी हो तो कुछ बात नहीं—अन्त में वह रस के महासमुद्र की ओर ले जायेगा ही।”³ इस प्रकार के रूपक कही-कही तो अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। कबीर के सदस्रं में वे कहते हैं कि “इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कही काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।”⁴

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी स्वयं के तो बहुत अधिक धनी हैं। वर्तमान युग के समस्या नाटक पर विचार करते हुए वे ध्यमात्मक भाषा का ही प्रयोग करते हैं, “वर्तमान युग का समस्या—नाटक आपकी आँख में उगली घुसेडकर कानून की दुर्बलता, न्याय की अन्त्याम-धरायणता, प्रेम की अप्रियता, विवाह की विच्छिन्नता, धर्म की अधार्मिकता, घृणा का प्रेम दिखा देगा और बस। आप जिस दुनिया में हैं, वह दुनिया और भी गहन होकर आपके सामने आ जायेगी।”⁵ ‘घार हिन्दी कवि’ निबन्ध में वे आधुनिक युग के साहित्यकारों की खर्चा करते हुए वे आधुनिक युग के मनुष्य के लिए एकान्त को सबसे बड़ा बोझ बताते हुए कहते हैं, “हम हर्ष मनाते हैं सभा करके, शोक मनाते हैं सभा करके, किसी बात का विरोध करते हैं सभा करके, धर्म की रक्षा करते हैं सभा करके, पूजा भी करते हैं सभा करके ! हमें ज्ञान मिलता है पब्लिक अखबारों से, शिक्षा मिलती है पब्लिक स्कूलों से, अध्ययन मिलता है पब्लिक लाइब्रेरियों से, उत्तेजना मिलती है पब्लिक मीटिंगों से, सम्मान मिलता है सम्मेलनों से, दबा मिलती है पब्लिक

1 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग 4, पृ० 291

2 उपरिबत्, पृ० 345

3 उपरिबत्, पृ० 118

4 उपरिबत्, पृ० 367

5 उपरिबत्, पृ० 118-119

अस्पतालों से—आधुनिक काल शुरू से आखिर तक भीड़-भम्भड़ का गुण है।”¹ इसी प्रकार द्विवेदीजी ‘मृत्युञ्जय रवीन्द्र’ में आज के दुखवाद पर विचार करते हुए कहते हैं कि “हमारी सबसे बड़ी ‘ट्रेजेडी’ दुखवाद यह है कि हम प्रेम जैसी चीज को नापते हैं सामाजिक नियमों से, वस्तुओं से, और सांसारिक चीजों को नापना चाहते हैं प्रेम के माप-दण्ड से। मुकदमे की जीत-हार को हम भगवान् की भक्ति से तौलना चाहते हैं और सत्यनारायण की पूजा को हजारों रुपये के व्यय से।”²

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी दो प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं। कही वाक्य छोटे और संस्कृत के तत्सम शब्द प्रधान होते हैं और ही वाक्य बड़े और अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों से युक्त होते हैं। तत्सम शब्द प्रधान भाषा का एक रूप यहा प्रस्तुत है, “साहित्य-सृष्टि की मूल शक्ति का नाम संश्लेषणी है, विश्लेषणी नहीं। स्थायी साहित्य की रचना के लिए आवश्यक है एक अत्यन्त दृढ़ समुन्नत भूमि। वह एक तरफ जहा मानव-चित्र के अर्थ निकट नहीं होना चाहिए, वही दूसरी ओर उसमें सामयिकता की ऐसी निकटता भी नहीं होनी चाहिए जो चित्त को तत्तद् समस्याओं में उलझा दे। वर्तमान साहित्य इस रास्ते पर नहीं चल रहा है। उसमें विश्लेष की प्रधानता है, संश्लेष या संघात की नहीं, वह किसी दृढ़ समुन्नत भित्ति पर अवस्थित नहीं है, अथवा उसमें सामयिकता की मात्रा पर्याप्त है।”³ विवेचनात्मक शैली होने के कारण ही संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। दूसरी ओर जहा भावात्मकता का समावेश करते हैं अथवा भाषा में गति लाना चाहते हैं वहा वे शोक प्रचलित अरबी-फारसी के शब्दों का जमकर प्रयोग करते हैं, यथा—

“जो दुनियादार किये-कराये का सेखा-जोखा दुरुस्त रखता है वह मस्त नहीं हो सकता। जो अतीत का चिट्ठा छोले रहता है, वह भविष्य का श्रान्तदर्शी नहीं बन सकता। जो इश्क का मतवाला है, वह दुनिया के माप-जोख से अपनी सफलता का हिसाब नहीं करता। कबीर जैसे फनकड़ को दुनिया की हौशियारी से क्या वास्ता ? ये प्रेम के मतवाले थे मगर अपने को उन दीवानों में नहीं गिनते थे जो माशूक के लिए सिर पर कफन बांधे फिरते हैं, जो बेकरारी की तड़पन में इश्क का चरम फल पाने का भान करते हैं, क्योंकि बेकरारी उस वियोग में होती है जिसमें प्रिय दूर ही—उसे पाना कठिन हो।”⁴

आचार्य द्विवेदी की भाषा में विविधता है। उन्होंने एक ओर आलंकारिकता का प्रयोग किया है तो दूसरी ओर सरल भाषा का भी, एक ओर उनकी भाषा में भावात्मकता का गुण है तो दूसरी ओर विवेचन की शक्ति भी, एक ओर वाक्य-गठन में कसावट है तो दूसरी ओर हावरेदार टकसाली भाषा का प्रयोग भी, एक ओर धन्य-धन्य करने वाली

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग 10, पृ० 177

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली 8, पृ० 345

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग 10, पृ० 120

4. उपरिधत् पृ० 320

192 हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में साहित्य-योजना

प्रशस्ततात्मक भाषा के प्रयोग हैं तो दूसरी ओर पंने व्यंग्य के तीर जँती भी है। वस्तुतः द्विवेदीजी प्रसंग के अनुरूप भाषा-प्रयोग के पसापाती हैं, इसलिए विषय बदलते ही उनकी भाषा भी बदल जाती है। सही अर्थों में वे बीसवीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य में क्षयतरित भाषा के 'डिबटेटर' थे। सीधे-सीधे बात कह दी गई तो ठीक, नहीं तो बबोर की तरह बरेरा देकर अपनी बात को कह ही दिया।

पंचम अध्याय

साहित्य का इतिहास और लालित्य-विधान

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के द्वारा रचित 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' का प्रकाशन सन् 1940 ई० में हुआ और उसके प्रकाशन के साथ ही हिन्दी के साहित्येतिहास के क्षेत्र में एक युगान्तकारी कदम को मान्यता मिल गयी। आचार्य द्विवेदी ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का अनुकरण न करके एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जिसको परवर्ती काल में मान्यता मिल गयी। नलिन बिलोचन शर्मा के अनुसार "द्विवेदी जी ने स्पष्टतः विधेयवादी शुक्ल परम्परा से भिन्न प्रतिज्ञा की है। वे साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और उसके मूल और वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट परिचय देना ही अपना लक्ष्य घोषित करने हैं।" इस प्रकार द्विवेदी जी अनेकानेक शुक्लोत्तर साहित्येतिहासकारों की तुलना में, हिन्दी में पहली बार,—यद्यपि समस्त भारतीय भाषाओं में सबसे पहले—आचार्य शुक्ल के द्वारा प्रवर्तित, विधेयवादी साहित्येतिहास से भिन्न, साहित्यिक साहित्येतिहास लिखने के श्रेय के अधिकारी हैं।¹

आचार्य द्विवेदी के इस ग्रन्थ को इतिहास-दृष्टि प्रदान करने वाला ग्रन्थ माना गया। अनेक आचार्यों ने इस ग्रन्थ की प्रशंसा की। डॉ० नामवर सिंह के अनुसार, "आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' ऐसे ही समय नवीन युग की भूमिका बनकर प्रकाश में आई। पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी इतिहास प्रणाली के स्थान पर सामाजिक अथवा जातीय ऐतिहासिक प्रणाली का आरम्भ करने वाली यह पहली हिन्दी पुस्तक है। अनेक साहित्यकारों का वैयक्तिक परिचय देने का मोह छोड़कर इन पुस्तक ने हिन्दी साहित्य के विराटपुरुष और उसके सामूहिक प्रभाव तथा साहित्यिक इतिहास के माध्यम से युग-युगान्तर से आती हुई अबाध हिन्दी जाति की विचार-सारणी और भाव-परम्परा का दर्शन कराया।"²

वस्तुतः सभी आचार्यों ने एक मत से यह स्वीकार किया कि आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने में एक नवीन परम्परा को जन्म दिया। डॉ० इन्द्र-

1. साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० 94

2. आलोचना (इतिहास विशेषांक), सन् 1952, पृ० 12

नाथ मदान ने तो स्पष्टतः उन्हें शुक्ल-परम्परा से भिन्न स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि "आचार्य द्विवेदी वास्तव में भारतीय सस्कृति के इतिहासकार हैं। इसका निरूपण करने के लिए उन्होंने हिन्दी साहित्य को माध्यम बनाया है। वे शुक्ल परम्परा के इतिहासकार नहीं हैं। वे उसकी सीमाओं से मुक्त होकर अपनी सीमाओं में बंध गये हैं।" इन बातों को ध्यान में रखकर यह आवश्यक हो जाता है कि हम संक्षेप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास-लेखन की विशेषताओं पर विचार करने के पश्चात् ही आचार्य द्विवेदी के इतिहास-दर्शन पर विचार करें।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में द्वांदात्मक और विकासवादी दृष्टिकोण अपनाया है।¹ इसके साथ ही उन्होंने समाज की स्थिति को भी महत्व प्रदान किया। वे जनता की चित्तवृत्ति की परम्परा को परछते हुए साहित्य का उसके साथ सामजस्य दिग्गाने को ही साहित्य का इतिहास मानते हैं।² इस प्रकार वे विभिन्न परिस्थितियों और साहित्यिक प्रवृत्तियों का पारस्परिक संबंध स्थापित करते हैं। आचार्य शुक्ल ने काल-विभाजन भी किया है।

आचार्य द्विवेदी जी को इतिहास-दृष्टि

जैसाकि उपर्युक्त विवेचन में संकेत मिलता है, आचार्य द्विवेदी ने शुक्ल जी की दृष्टि को स्वीकार नहीं किया। उनके तीन प्रमुख इतिहास-ग्रन्थ हैं—(1) हिन्दी साहित्य की भूमिका, (2) हिन्दी साहित्य का आदिकाल तथा (3) हिन्दी साहित्य उसका उद्भव और विकास। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपना इतिहास-ग्रन्थ मानवतावादी समाजशास्त्रीय दृष्टि को केन्द्र में रखकर ही लिखा। वे व्यक्ति मानव की मुक्ति को महत्व नहीं देने अपितु सामाजिक मानवता को ही सर्वप्रमुख मानते हैं। उनके ही शब्दों में, "आज नाना स्वरो में वैचिन्त्य-सर्ववित्त आकार धारण करके एक ही उत्तर मानव-चित्त की गभीरतम भूमिका से निकल रहा है—मानवतावाद ठीक है। पर मुक्ति किसकी? क्या व्यक्ति-मानव की? नहीं। सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को व्यक्ति-मनुष्य की नहीं, बल्कि समष्टि-मनुष्य को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा। आज के सुसंस्कृत मनुष्य की यही कामना है, यही उसके अन्तरतम की चाह है।"⁴

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सम्पूर्ण साहित्य में मानवतावादी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की प्रमुखता मिलती है। साहित्य के इतिहास के लिए वे मनुष्य का इतिहास भी देखने का प्रयास करते हैं। उन्होंने जातीय सस्कृति के इतिहास के द्वारा साहित्यिक प्रवृत्तियों को समझने-समझाने का प्रयास किया है। इतिहास-लेखन की सामग्री पर

1. धर्मयुग, I अगस्त 1964, पृ० 10

2. रामकृपाल पाण्डेय, कथा-अंक 5, नवम्बर 1975, पृ० 27

3. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 3

4. मध्यकालीन बोध का स्वरूप, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-5, पृ० 119

विचार करते हुए वे कहते हैं कि—

“मेरी दृष्टि में सम्पूर्ण साहित्यबोध को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन कवियों, ग्रन्थकारों और कृतियों की जानकारी प्राप्त करें जो उस काल-विशेष में आदर्श अनुकरणीय और व्याख्येय समझे गये थे। फिर हमें उन आचार्यों का परिचय भी प्राप्त करना होगा जिनके बताये हुए कायदे-कानून, विधि-निषेध और आदर्श इस काल में स्वीकार कर लिये गये थे। फिर हमें उन लोकप्रिय किंवदन्तियों का विश्लेषण करना भी आवश्यक हो सकता है, जो श्रेष्ठ समझे जाने वाले कवियों और साहित्यकारों में प्रचलित हो गयी थी। इन किंवदन्तियों में प्रच्छन्न रूप से लोकप्रिय साहित्यिक मान और उत्तम रचना की कसौटी विद्यमान रहती है। फिर विभिन्न रचनाओं पर लिखी गयी टीका-टिप्पणियाँ भी हमें उस काल-विशेष की प्रवृत्तियों का परिचय दे जाती हैं। कभी-कभी साहित्य-क्षेत्र के बाहर भी जाने की जरूरत पड़ सकती है, क्योंकि साहित्य के पीछे अनेक प्रकार की धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक शक्तियाँ काम करती रहती हैं और किसी प्रयत्न के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उसे बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में रखकर देखना आवश्यक हो जाता है।”¹

आचार्य द्विवेदी ने प्रस्तुत विचार अपना प्रथम इतिहास-ग्रन्थ लिखने के लगभग 30 वर्ष पश्चात् ‘मध्यकालीन साधना’ में प्रस्तुत किये लेकिन यह स्पष्ट है कि ये विचार उनके मर्मोत्पन्न नहीं थे। ‘हिन्दी साहित्य की भूमिका’ लिखते समय वे इन विचारों से अनुप्राणित थे। इस इतिहास-ग्रन्थ में इन विचारों का पूर्ण समावेश देखने को मिलता है।

इतिहास संबंधी भाष्यताएं और उनका लालित्य-सिद्धान्त

सर्वप्रथम हम उनके मानवतावाद पर विचार करते हैं। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आचार्य द्विवेदी व्यक्ति-मानव के स्वान पर समष्टि-मानव के कल्याण की कामना करते हैं। समष्टि-मानव-कल्याण की कामना हीगल और मार्क्स में भी है। आचार्य द्विवेदी ने इतिहास-दृष्टि में नैतिक समर्थन की आकांक्षा की है, इसलिए वे हीगल के अधिक निकट ठहरते हैं। डॉ० रघुवंश का भी मत यही है। वे कहते हैं कि “द्विवेदी जी ने इतिहास की प्रक्रिया को समझने में व्यापक मानवीय प्रकृति को समझने की चेष्टा की है, और राजनीति, अर्थनीति, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि के साथ इतिहास को परखने की चेष्टा की है। मार्क्स की समाजवादी दृष्टि और अर्थ-व्यवस्था के प्रति आकर्षित होने हुए भी द्विवेदी जी ने युगविशेष के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में निरन्तर घटित होने वाली प्रक्रिया को स्वीकार किया है और उसमें एक गहरा नैतिक और व्यापक मानवीय प्रयोजन स्वीकार किया है, जो मार्क्स की आर्थिक वर्ग-संघर्ष की दृष्टिकोण से भिन्न है और प्रायः हीगल के अधिक निकट है।”²

1. मध्यकालीन बोध या स्वरूप, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-5 पृ० 18

2. गं० डॉ० शिवप्रसाद मिश्र, ज्ञातिनिवेदन से निवानिच, पृ० 154

वस्तुतः तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानवतावाद कालिदास और रवीन्द्रनाथ टैगोर से ही प्रभावित है किन्तु संभव हो सकता है कि वे हीगल आदि से भी प्रभावित हो। वे इसी मानवतावाद के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी-साहित्य के इतिहास का विवेचन करते हैं। इसके लिए वे समन्वयपरमक दृष्टि को अपनाने हैं क्योंकि एक ओर वे कालिदास, रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गांधी से प्रभावित हैं तो दूसरी ओर पाश्चात्य चिन्तक हीगल और मार्क्स का मानवतावाद भी अपने ज्ञान का प्रकाश फैलाकर उन्हें प्रकाशित कर रहा है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान का भी यही मत है। वे कहते हैं कि "श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आदर्शवाद के धरातल पर परस्पर विरोधी विचारधाराओं, परंपरा तथा प्रयोग, सस्कृति तथा सभ्यता, समाज तथा विज्ञान, मानववाद तथा मानवतावाद, गांधी तथा मार्क्स, प्राचीन तथा नवीन जीवन-बोध में सामंजस्य एवं समन्वय स्थापित कर रखा है।"¹

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का दृष्टिकोण भी मानवतावादी था, इसलिए इस आधार पर दोनों में बिजेप अन्तर नहीं है। आचार्य शुक्ल ने 'लोकमगल भी साधनावस्था' का सिद्धान्त मानवता को केन्द्र-बिन्दु मानकर ही प्रस्तुत किया था। इसीलिए डॉ० रघुवंश कहते हैं कि 'रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी दोनों साहित्य के इतिहास को मानवीय परिवेश में रखकर देखते हैं, और उस दृष्टि से 19वीं शती के विधेयवाद और ऐतिहासिकता से प्रभावित है।'² आचार्य द्विवेदी जी शुक्ल जी से जहां अलग होने हैं, वह बिन्दु हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के सदर्भ में देखने के आकांक्षी हैं। उन्होंने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के 'निवेदन' में लिखा था कि "एसा प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से बिच्छिन करके न देखा जाय। मूल पुस्तक में भार-वार सस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य की चर्चा आयी है, इसीलिए कई मन्वे परिशिष्ट जोड़कर संक्षेप में वैदिक और जैन साहित्यों का परिचय करा देने की चेष्टा की गयी है।"³ 'नये संस्करण की भूमिका' (मन् 197) का संस्करण में उन्होंने 'निवेदन' में कहा कि "हिन्दी साहित्य की एक विशाल परंपरा के अग के रूप में देखने का प्रयास स्वीकार योग्य माना गया, इससे बढ़कर प्रमत्नता क्या हो सकती है।"⁴

इस प्रकार आचार्य द्विवेदी सम्पूर्ण भारतीय साहित्य और प्राचीन परंपरा के सदर्भ में हिन्दी साहित्य को परखने की दृष्टि से शुक्ल जी से भिन्न हो जाते हैं। वे किंवदन्तियों के पीछे भी कुछ तथ्य ढूँढ निकालते हैं। लोरुघुति को वे अपूलक नहीं मानते। इसीलिए कोमल कोठारी कहते हैं कि "शुक्ल जी की यह परिपाटी यदि किसी ने भग की है तो यह है आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी। इतिहास को लिखते समय तथ्य तो एक

1 म० धनपति चन्द्र गुप्त, आचार्य हजारी प्रसाद, द्विवेदी, आमुध, पृ० 2

2 सं० शिवप्रसाद मिह, शांति-निकेतन से शिवालिक, पृ० 157

3 हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 29

4 उपरिबत, पृ० 31

होंगे ही—इसमें मन्देह नहीं—तुलसी के स्थान पर तुलसी होंगे और इतिहास की व्यवस्था के समय तुलसी का रामचरितमानस ही उल्लेख करना होगा। तब इतिहास की परिपाटी कैसे भंग होती है? इसमें तात्पर्य यह है कि ऐतिहासिक तथ्यों के मिलान, उसका समन्वय, शक्तिशाली प्रयोग, विकास के प्रमुख कारण और कारणों के तत्संबंधी सामाजिक आन्दोलन आदि का कोई लेखक किस प्रकार निरूपण करता है? उससे साहित्य की समस्याओं और समाज के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का कौसा स्वरूप निखरता है? यही एक महत्वपूर्ण मौलिक प्रश्न है जो आचार्य द्विवेदी को अन्य इतिहासकारों से पृथक् कर देता है।¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य का सबध आतीय संस्कृति से स्थापित करके अपनी लालित्य-दृष्टि को ही निरूपित किया है। उनकी लालित्य-दृष्टि के जो प्रमुख बिन्दु हैं, वे हैं—मानव तत्त्व, लोक तत्त्व, मिथक तत्त्व और लालित्य तत्त्व। इनमें से लालित्य तत्त्व तो साहित्य तथा कलाओं के सौन्दर्य से संबंधित है जिस पर बाद में विचार किया जायेगा। मानव तत्त्व उनका मानवतावाद है तथा लोक तत्त्व और मिथक संस्कृति के अंग बन जाते हैं। 'वे साहित्य के इतिहास को, साहित्यिक प्रवृत्ति को, काव्य रूप तथा कथानक ढाँचों को धारावाहिक क्रम देने का यत्न करते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि युगान्तर परिवेश पर केन्द्रित होने के साथ-साथ साहित्यिक प्रवृत्ति के उत्पन्न को ध्यान में रखने में भी तल्लीन रहती है। शुक्ल जी ने भी इस ओर ध्यान अवश्य दिया है, किन्तु उनका लक्ष्य मुख्यतः सामाजिक संदर्भ में साहित्य का विश्लेषण करना था। द्विवेदी जी साहित्य के इतिहास को अविरल और अविच्छिन्न धारा प्रवाह के रूप में देखते हैं।'² इस प्रकार उनका इतिहास-देवता लालित्य-सिद्धान्त पर आधारित कहा जा सकता है।

आचार्य द्विवेदी के साहित्येतिहास ग्रन्थ

हिन्दी साहित्य की भूमिका

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रथम साहित्येतिहास ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' है और सर्वाधिक खचित ग्रन्थ भी यही है। द्विवेदी जी ने इसे परम्परावादी इतिहास-ग्रन्थ के रूप में नहीं लिखा था। प्रथम संस्करण के 'निवेदन' में लेखक ने कहा था कि 'विश्वभारती' के अहिन्दी-भाषी साहित्यिकों को हिन्दी साहित्य का परिचय बनाने के बहाने इस पुस्तक का आरंभ हुआ था। बाद में कुछ नये अध्याय जोड़कर इसे पूर्ण रूप देने की चेष्टा की गयी है। मूल अध्यायों में गं बटन-ने अंग छोड़ दिने गये हैं जो हिन्दी-भाषी साहित्यिकों के लिए अनावश्यक थे। फिर भी इस

1. साहित्य, गंगोत्र और वत्सा, पृ० 133

2. डॉ० निबकुमार, हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० 219

वात का यथासम्भव ध्यान रखा गया है कि प्रवाह में बाधा न पड़े।¹ इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण में तो यह भी स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी थी कि यह हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं है—“यह पुस्तक हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं है और न यह ऐसे किसी इतिहास का स्थान ही ले सकती । आधुनिक इतिहासों को अधिक स्पष्ट करती है और भविष्य में लिखे जाने वाले इतिहासों की मार्गदर्शिका है।”² यह कथन निश्चित रूप से द्रम और संकेत करता है कि इसमें किसी भी युग का सामान्य परिचय, राजनैतिक परिस्थितियों का वर्णन तथा फुटकर कवियों का वर्णन नहीं किया गया है। यह सब किसी भी इतिहास के लिए अनिवार्य होता है। इसके अध्यायों का वर्गीकरण भी इतिहास जैसा प्रतीत नहीं होता, यथा—

- (1) हिन्दी साहित्य भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास
 - (2) हिन्दी साहित्य . भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास
 - (3) सन्त मत
 - (4) भक्तों की परम्परा
 - (5) योगमार्ग और सन्तमत
 - (6) सगुण-मतवाद
 - (7) मध्ययुग के सन्तों का सामान्य विश्वास
 - (8) भक्तिकाल के प्रमुख कवियों का व्यक्तित्व
 - (9) रीति-काव्य
 - (10) उपसंहार
- परिशिष्ट³

इस प्रकार हम देखने हैं कि प्रथम दो अध्यायों का शीर्षक एक ही है। तृतीय अध्याय से लेकर अष्टम अध्याय तक भक्तिकाल पर ही लिखा गया है। एक अध्याय रीतिकाल पर है और उपसंहार में आधुनिक हिन्दी साहित्य की मूल चेतना को समझाने का प्रयास भर है। इस प्रकार प्रकाशक की ओर से जो कुछ कहा गया है वह एक सीमा तक सत्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्णतः ऐतिहासिक ग्रन्थ न होते हुए भी इतिहास-चेतना को प्रस्तुत करने में समर्थ है, इसीलिए वह विशेष खर्चा का विषय बना। आचार्य द्विवेदी ने सत मत पर सबसे अधिक लिखा क्योंकि शुक्ल जी उसके प्रति न्याय नहीं कर पाये थे। आचार्य शुक्ल के इतिहास से भिन्न चिन्तन प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ यही धन गया क्योंकि इसमें अनेक नवीन स्थापनाएँ की गयी थी।

आचार्य द्विवेदी ग्रन्थारम्भ में ही अपने इस मत को प्रस्तुत कर देते हैं कि हिन्दी साहित्य पराजित जाति का साहित्य अथवा पतनशील जाति की विशेषताओं से युक्त साहित्य नहीं है। उनकी मान्यता है कि यदि इस्लाम धर्म भारत में नहीं भी आया होता

1 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 29

2 प्रकाशक की ओर से, हिन्दी साहित्य की भूमिका, 1969

3. विषय-सूची, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 11-16

तो भी पिचहतर प्रतिशत साहित्य इसी प्रकार का होता :

“दुर्भाग्यवश, हिन्दी साहित्य के अध्ययन और लोक चक्षु गोचर करने का भार जिन विद्वानों ने अपने ऊपर लिया है, वे भी हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध हिन्दू जाति के साथ ही अधिक बतलाते हैं और इस प्रकार अनजान आदमी को दो ढग से सोचने का मौका देते हैं—एक यह कि हिन्दी साहित्य एक हतदुर्ग जाति की सम्पत्ति है, इसलिए उसका महत्व उस जाति के राजनीतिक उत्थान-पतन के साथ अगाधि भाव से सम्बद्ध है, और दूसरा यह कि ऐसा न भी हो तो भी वह एक निरन्तर पतनशील जाति की चिन्ताओं का मूल प्रतीक है, जो अपने-आप में कोई विशेष महत्व नहीं रखता। मैं इन दोनों बातों का प्रतिवाद करता हूँ और अगर ये बातें मान भी ली जायें तो भी यह कहने का साहस करता हूँ कि फिर भी इस साहित्य का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि दस-सी वर्षों तक दस करोड़ कुचले हुए मनुष्यों की बात भी मानवता की प्रगति के अनुसन्धान के लिए केवल अनुपेक्षणीय ही नहीं बल्कि अवश्य ज्ञातव्य वस्तु है। ऐसा करके मैं इस्लाम के महत्व को भूल नहीं रहा हूँ, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।”²

आचार्य द्विवेदी का मत है कि बौद्ध धर्म भारत से समाप्त नहीं हुआ अपितु राजाओं की कृपा समाप्त हो जाने पर उसके मठों पर शैवों का आधिपत्य हो गया होगा। वह धर्म सामान्य जनता में भीतर-ही-भीतर अपने सिद्धान्तों को पनपाता रहा। यह धर्म लोकमत की ओर अग्रसर हो गया, इसलिए हिन्दी साहित्य के आरंभ में उसका प्रभाव शेष था—

“ऊपर की बातों से अगर कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता हो तो यह यही हो सकता है कि भारतीय साहित्य ईसा की एक सहस्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्र में स्वभावतः ही लोक की ओर झुक गया था, यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी पडी होती तो भी यह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेके लिये जा रही थी। उनका वक्तव्य विषय कथमपि विदेशी न था।”²

इस प्रकार आचार्य द्विवेदी सर्वप्रथम यह प्रमाणित करते हैं कि हिन्दी साहित्य स्वाभाविक विकास का ही परिणाम है और तत्पश्चात् वे लोकवाद की स्थापना करते हैं। इन स्थापना के पश्चात् वे यह प्रमाणित करते हैं कि तुलसी दास और मूरदास के काव्य में संस्कृति शब्दों की प्रचुरता का कारण बौद्ध धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण धर्म के पुनस्त्यान का होना है। ब्राह्मणों के पुनस्त्यान से संस्कृत का प्रभाव बढ़ा। उनका स्पष्ट मत है कि “मकराचार्य का उत्कर्ष ईसा की आठवीं शताब्दी के आसपास हुआ। उनके मत की छाप सर्वसाधारण पर पडी। उक्त मत का प्रसार संस्कृत भाषा के द्वारा ही होने के कारण सर्वसाधारण की भाषा में संस्कृत शब्द आ गये और धीरे-धीरे संस्कृत में ही हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि संस्कृत-प्रचुर भाषाएँ बनीं। तमिल आदि भाषाओं का

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 34

2. हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, पृ० 44

इतिहास भी ऐसा ही है। इसलिए तुलसीदास और मूगदास की भाषाओं में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता होना, अपभ्रंश भाषाओं के स्वाभाविक विकास के विरुद्ध नहीं ले जाना और न हमें उनमें किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव ही गिद्ध होता है।¹

आचार्य द्विवेदी अपभ्रंश भाषाओं के विकास और संस्कृत की पुनर्स्थापना से यह प्रमाणित करने हैं कि हिन्दी का भक्तिकाल विदेशी आक्रमण के प्रभाव का परिणाम नहीं है अपितु उगता स्वाभाविक विकास है। वे न तो निर्गुण कवियों को 'मुसलमानी जोश' से भोतप्रोत मानते हैं और न ही वैष्णव मत के उदय को विदेशी आक्रमण की प्रतिक्रिया स्वीकार करते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि—

“कभी-कभी यह शंका की गयी है कि हिन्दी साहित्य का सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अर्थात् भक्ति-साहित्य मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया है और कभी-कभी यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि निर्गुणिया मन्तों की जानि-पाति की विरोधी प्रवृत्ति, अवतारवाद और मूर्ति-पूजा के छण्डन करने की चेष्टा में 'मुसलमानी जोश' है। किसी-किसी ने तो कबीरदास आदि की वाणियों को 'मुसलमानी हथकण्डे' भी बताया है। ये सभी बातें भ्रममूलक हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि निर्गुण मतवादी मन्तों के केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं, उनको समस्त रीति-नीति, साधना, वस्तुस्थिति, धर्म के उपस्थापन की प्रणाली, छन्द और भाषा पुराने भारतीय आचार्यों की देन है। इसी तरह यद्यपि वैष्णव मत अचानक ही उत्तर भारत में प्रबल रूप ग्रहण करता है, पर मूरदास और तुलसीदास आदि वैष्णव कवियों की समूची कविता में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव नहीं है।”²

भक्ति काल को भारत का परम्परित युग प्रमाणित करने के पश्चात् वे रीतिकाल को भी प्राचीन परम्परा से जोड़ते हैं। उन्होंने आर्यों के दो भेद किये—पूर्वी आर्य और पश्चिमी आर्य। “पूर्वी आर्य अधिक भाव-प्रवण, आध्यात्मिकतावादी और उद्दि मुक्त थे और पश्चिमी या मध्यदेशीय आर्य अपेक्षाकृत अधिक कृद्धि-रूढ़, परम्परा के पक्षपाती, शास्त्रप्रवण और स्वर्गवादी थे।”³ इन दो परम्पराओं को बताने के पश्चात् वे कहते हैं कि ईसवी सन् के बाद ऐहिकतामूलक सरस कवित्व का प्रस्फुटन हुआ। सर्वप्रथम यह प्राकृत में हाल की 'गाथा सप्तशती' के रूप में हमारे सामने आता है, उसके पश्चात् संस्कृत की 'आर्या सप्तशती' लिखी गयी। आगे वे कहते हैं कि “हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल की मतमई भी इसी ग्रन्थ से प्रभावित है जो सुकुमारता में अतुलनीय है। संकडों वर्षों से वह रमिको का हिपहार बनी हुई है और जब तक सहृदयता जीती रहेगी तब तक बनी रहेगी।”⁴

आचार्य द्विवेदी अन्य कुछ विद्वानों के समान ही इस ऐहिकतापरक काव्य को

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 58
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 58
3. उपरिक्त पृ० 123
4. उपरिक्त पृ० 124-125

आभीरो के समग्र का फल मानते हैं। वे मानते हैं कि ऐसी रचनाएँ फुटकल होती थी, पर अपभ्रंश में, जो निश्चयपूर्वक पहले आभीरों की ओर बाद में उनके द्वारा प्रभावित आर्य-भाषा थी, उसकी धारा बराबर जारी रही और उन दिनों अपने पूरे वेग में प्रकट हुईं जिन दिनों संस्कृत और प्राकृत के साहित्य पहले ही घटाये हुए नाना कारणों से लोकरचि के लिए स्थान खाली करने लगे थे। हमारा मतलब हिन्दी साहित्य के आविर्भाव फल से है।¹

आचार्य द्विवेदी रीतिकाल को संस्कृत के अलंकार शास्त्रों से भी प्रभावित मानते हैं। उन्होंने अलंकार शास्त्र की परम्परा को प्रस्तुत करने के बाद बताया कि "आगे चल कर काव्य-विवेचना के नियमों को दृष्टि में रखकर कवि लोग कविता लिखने लगे और वे काव्य जिन्हें संस्कृत में 'बृहद्शयो' (माघ, भारवि और श्रीहर्ष के लिये हुए 'शिशुपाल-वध', 'किरातार्जुनीय' और 'नैमधीय चरित') कहते थे, निश्चयपूर्वक इस अभिनयशास्त्र द्वारा प्रभावित थे। हिन्दी के आविर्भाव वक्त में भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है।"² वे रीतिकाल पर एक अन्य परम्परा का प्रभाव भी मानते हैं। यह प्रभाव है—संस्कृत के स्तोत्र-साहित्य का। आचार्य द्विवेदी का मत है कि आभीरो का प्रभाव सर्वप्रथम लोक में आया, उसके पश्चात् भागवत धर्म में। लोक में गोपी कृष्ण के प्रेमगीत रहे होंगे। वे निष्कर्ष निकालते हैं कि "इन्हीं ग्रन्थों में पहले-पहले अलंकारों और नायिकाओं के विवेचन के लिए राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं को उदाहरण के रूप में सजाया गया। नाट्य-शास्त्रीय रस के अन्याय अंगों की उपेक्षा करके केवल नायिकाओं का वर्णन इस उद्देश्य से किया गया था कि गोपियों की विभिन्न प्रकृति के साथ रसराज श्रीकृष्ण के प्रेम-भाव के विविध रूपों को दिखाया जा सके। इस प्रकार लोक भाषा का यह रूप, जो बहुत दिनों तक भीतर-ही-भीतर पक रहा था, शास्त्र की उंगली पकड़कर अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा। हिन्दी में वह अपने गीत रूप में स्वतंत्र होकर विकसित हो सका, अर्थात् अपने प्राचीन फुटकल पद्य-रूप में भी विकसित हुआ।"³

आचार्य द्विवेदी की यह मान्यता है कि रीतिकालीन कवियों ने गोपियों का भेद 'उज्ज्वल नीलमणि' के आधार पर नहीं किया अपितु उन्होंने रस का निरूपण करते समय प्राचीन रस-शास्त्रियों की परम्परा का ही अनुसरण किया है। संस्कृत के पश्चर्तों साहित्य पर 'कामशास्त्र' का प्रभाव भी पड़ा था। 'कामशास्त्र' में युवा-युवतियों की बहुविध शृंगार-चेष्टाओं के साथ-साथ विभिन्न प्रकार की मर्यादाओं की स्थापना भी की गयी है। "नायक-नायिकाओं की शृंगार-चेष्टाओं में, दैनिक जीवन में, आहार-शयन भोजन में, एक विशेष प्रकार के शिष्टाचार की धारणा कवियों ने इसी ग्रन्थ के आधार पर बनायी थी।"⁴ यह प्रभाव मानने के पश्चात् भी आचार्य द्विवेदी रीतिकाल को केवल इन प्रभावों

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 126

2. उपरिचरित, पृ० 129

3. उपरिचरित, पृ० 131

4. उपरिचरित, पृ० 134

ने युक्त ही नहीं मानते। उनका दृष्टिकोण है कि “फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि रीतिकाल का कवि केवल नाट्य-शास्त्र और कामशास्त्र की रटन्त विद्या का जानकार था, यह स्पष्ट करके समझ लेना चाहिए कि रीतिकाल में सस्रण-ग्रन्थों की भरमार होने पर भी वह उत प्राचीन लोक-भाषा के साहित्य का ही विकास था जो कभी संस्कृत साहित्य को अत्यधिक प्रभावित कर सका था।”¹

आचार्य द्विवेदी भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति संयम, श्रद्धा और निष्ठा को मानते हैं। आधुनिक साहित्यकारों ने अपनी इस प्राचीन सम्पत्ति को त्याग ही दिया है जिस पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं कि “इस अनन्य साधारण गुण के अभाव में कई जगह हमारी वैयक्तिकता साहित्य में दण्डशु-भावुकता से आरम्भ करके हिस्टोरिक प्रमाद तक का रूप धारण करती जा रही है, प्रकृति का आलंबन थोड़ी बकवाद और शून्य गर्भ प्रस्ताप-वाक्यों के रूप में प्रकट हो रहा है, व्यक्तिगत प्रेम-चर्चा विज्ञापनवाजी-सी मालूम होती है और मानवता के प्रति ‘अभिन्त श्रद्धाजलि’ रटी हुई मूर्कियों का आकार ग्रहण कर गयी है। हमने सगर को नयी दृष्टि से देखा जरूर है, पर साधना और संयम के अभाव से हमारी दृष्टि व्यापक नहीं हो सकी है। नकल की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इसके अपवाद भी हैं और भाषा का कारण इन अपवादों की बढ़ती हुई सत्या ही है।”²

आचार्य द्विवेदी ने तरकामीन समय में आरम्भ हुई प्रगतिवादी काव्य परम्परा पर विचार किया है। वे उस परम्परा को अभी शंकावावस्था में ही मानते हैं। वस्तुतः आचार्य द्विवेदी ने जब ‘हिन्दी साहित्य की भूमिका’ की रचना की थी, उस समय प्रगतिवाद शंकावावस्था में ही था। आधुनिक युग की उल्लेखनीय घटना वे वैयक्तिकता के ह्रास और वस्तु-वस्तु के मयार्थ को मानते हैं। ऐसे काव्य में व्यंग्य की तीव्रता होनी चाहिए किन्तु व्यंग्य गुणीभूत हो गया है। अन्त में ‘परिनिष्ठ’ के द्वारा वे संस्कृत साहित्य, महाभारत, रामायण, बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य, कवि प्रमिद्धिया तथा स्त्री रूप की चर्चा करते हैं।

आचार्य द्विवेदी ने आधुनिक युग से पूर्व हिन्दी साहित्य के प्रधान छ अंग माने— “इंग्ल कवियों की बीर-गाथाएँ, निर्गुणिया मन्त्रों की बाणिया, कृष्णभक्त या रागानुगा भक्तिमार्ग के माधको के पद, रामभक्त या वैधी भक्ति मार्ग के उपासकों की कविताएँ, सूफी माधना में पुष्ट मुगलमान कवियों के तथा ऐतिहासिक हिन्दू कवियों के रोमान और रीति काव्य।”³ इन छ. परम्पराओं को वे अपभ्रंश का स्वाभाविक विकास मानते हैं।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने प्रस्तुत ग्रन्थ में हिन्दी साहित्य के आदिकाल पर विस्तार से विचार किया है। वस्तुतः प्रस्तुत पुस्तक ‘विहार-राष्ट्रभाषा-परिपद्’ के तरवावधान में मन् 1952 ई० में दिये गये पाच भाषणों का मकलन है। यह

1 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 134

2 उपरिखन्, पृ० 142

3 उपरिखत्, पृ० 58

ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' का पूरक ग्रन्थ कहा जा सकता है क्योंकि इसमें उन्हीं मान्यताओं की दृष्टि की गयी है जिनकी स्थापना 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में की गयी थी। निश्चयनाथ त्रिपाठी का मत भी यही है। उनके अनुसार "भक्ति साहित्य को पूर्ववर्ती साहित्य का स्वाभाविक विकास सिद्ध करने के लिए भक्तिकाल पूर्व हिन्दी साहित्य यानी आदिकाल का अध्ययन आवश्यक था। द्विवेदी जी ने आदिकाल का जो विशद और गम्भीर अध्ययन किया है, उसकी शुरुआत 'भूमिका' में ही हो गई थी। पता नहीं लोगों के ध्यान में यह बात आई है या नहीं कि वस्तुतः 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' और 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' दोनों मिलकर एक पूर्ण ग्रन्थ बनने हैं और भूमिका का प्रथम अध्याय 'भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास' उस पूर्ण ग्रन्थ की सिनाप्सिस है।"¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने प्रथम भाषण के आरम्भ में ही इस काल की विरोधां और स्वतोऽप्यापातो का युग कहने हैं। वे आगे चलकर इसे भारतीय विचारों के मग्नन का काल मानते हैं। वे सभी साहित्येतिहास ग्रन्थों पर विचार करते हैं। शुक्लजी के इतिहास के सम्बन्ध में उनका मत महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं कि "शुक्लजी ने प्रथम बार हिन्दी-साहित्य के इतिहास को कविवृत्त सग्रह की पिटाड़ी में बाहर निकाला। पहली बार उनमें स्वामोच्छ्वास का स्पन्दन सुनायी पड़ा। पहली बार वह जीवन्त मानव-विचार के गतिशील प्रवाह के रूप में दिखायी पड़ा। त्रुटियाँ इसमें भी हैं। 'वृत्त सग्रह' की परम्परा इसमें समाप्त नहीं हुई है और साहित्य को मानव-समाज के सामूहिक चित्त की अभिव्यक्ति के रूप में न देखकर केवल 'शिक्षित समझी जाने वाली जनता' की प्रवृत्तियों के परिवर्तन-विवर्तन के निर्देशक के रूप में देखा गया है। शुक्ल जी की यह विशेष दृष्टि थी और इस दृष्टि-भंगिमा के कारण उनके इतिहास में भी विशिष्टता आ गयी है।"²

आचार्य द्विवेदी ने अपभ्रंश साहित्य की नई शोधों में परिचित कराया। इसके परिचात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन चरित को उपजीव्य बनाकर काव्य लिखने की प्रथा इस देश में सातवीं शताब्दी के बाद तेजी से चली है। हमारे आलोच्य काल में यह प्रथा खूब बढ़ गयी थी। इनमें कई ऐतिहासिक पुरुष कवियों के आश्रयदाता हुआ करते थे। चन्द्र के आश्रयदाता पृथ्वीराज थे और विद्यापति के आश्रयदाता कीर्तिसिंह। इन आश्रयदाताओं का चरित लिखते समय भी उसे कुछ धार्मिक रंग देने का प्रयत्न किया जाता था।"³ चन्द्र के 'पृथ्वीराज रासो' को वे प्रशिक्षित मानते हैं। अन्य रासोग्रन्थों में भी कुछ परिवर्तन हैं तथा कुछ 'नोटिस मात्र'। यही कारण है कि वे शुक्ल जी द्वारा दिये गये नाम 'वीरगाथा काल' को अस्वीकृत कर देते हैं।

दूसरे भाषण में ऐतिहासिक परम्परा का विवेचन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष

1. स० शिवप्रसाद मिह, शांतिनिकेतन में शिवालय, पृ० 96
2. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 546
3. उपरिचरित, पृ० 557

निकालते हैं कि राज्याश्रय प्राप्त कवि इतिहास के पक्ष पर ध्यान नहीं देते थे। वे कहते हैं कि "इन कवियों ने राजस्तुति के नाम पर असंभव घटनाओं और अपतथ्यों की योजना की। विवाह भी इस धीरता का एक बहाना बनाया गया। आजकल के ऐतिहासिक विद्वान बेकार ही इन घटनाओं और अपतथ्यों से इतिहास खोज निकालने का प्रयास करते हैं। इन काव्यों में कवियों ने व्यापक रुढ़ियों के आधार पर अपने राजा को या काव्य-नायक को उत्साह का आश्रय और रति का आलम्बन बनाना चाहा है। इनमें इतिहास को समझने का कम और तत्काल प्रचलित काव्यरुढ़ियों को समझने का अधिक साधन है।"¹

आचार्य द्विवेदी की मान्यता है कि इस काल में धार्मिक सन्तो ने भी काव्य-रचना की किन्तु उसका सरक्षण न हो पाने के कारण वह लुप्त हो गया। ऐसा साहित्य जनता की जिज्ञा पर ही बच रहा। इनके पश्चात् वे एक भाषाशास्त्री के समान उस काल की भाषा पर विचार करते हैं। वे निष्कर्ष निकालते हैं कि "इन प्रकार प्रायः उन सभी प्रवृत्तियों का धीजारोपण इस काल की प्रामाणिक रचनाओं में मिल जाता है जो आगे चलकर भाषा काव्य में व्यापक रूप से मिलने लगती हैं।"²

तीसरे भाषण में वे 'पृथ्वीराज रासो' को एकदम प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं मानते किन्तु उसे एकदम जाली भी नहीं कहते। उनकी मान्यता है कि "अब यह मान लेने में किसी को आपत्ति नहीं है कि रासो एकदम जाली पुस्तक नहीं है। उसमें बहुत अधिक प्रक्षेप होने से उसका रूप बिहृत जहर हो गया है, पर इस विशाल ग्रन्थ में कुछ मार भी अवश्य है।"³ वे कथा-आख्यायिका की संस्कृत-परम्परा बताकर रासो ग्रन्थों को उसी परम्परा का काव्य मानते हैं।

चतुर्थ भाषण में वे ऐतिहासिक नाम के काव्यों की परम्परा पर प्रकाश डालते हैं। 'हर्ष चरित', 'नयसाहसिक चरित', 'विजयनगरदेवचरित' आदि इसी प्रकार के काव्य हैं। विवेच्य युग के काव्यों में वे 'कीर्तिलता' को विशिष्ट स्थान प्रदान करते हैं। वे इन सभी ऐतिहासिक काव्यों को ऐतिहासिक और निजगथरी कथाओं का सम्मिश्रण कहते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' और 'पद्मावन' को वे इसी परम्परा के काव्य प्रमाणित करते हैं जिनमें ऐतिहासिक कथाओं के साथ निजगथरी कथाओं का सम्मिश्रण किया गया है। इन दोनों ही काव्यों में कथानक-रुढ़ियों का प्रयोग हुआ है। वे इस व्याख्यान का निष्कर्ष निम्नलिखित रूप में कहते हैं कि "आरम्भ में हमने ऐतिहासिक स्थितियों के नाम से सम्बद्ध भारतीय काव्यों की मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है। उस पृष्ठभूमि में रासो का यह रूप अनुचित नहीं माना जाता। सभी ऐतिहासिक कहे जाने वाले काव्यों के समान इसमें भी इतिहास और कल्पना का केंद्र और फलन का मिश्रण है। सभी ऐतिहासिक माने जाने वाली रचनाओं के समान इसमें भी काव्यगत और कथानक-प्रक्षेप रुढ़ियों का

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 590

2. उपरिबन्ध, पृ० 600

3. उपरिबन्ध, पृ० 602

सहारा लिया गया है। इसमें भी रस-सृष्टि की ओर अधिक ध्यान दिया गया है, संभावनाओं पर अधिक जोर दिया गया है और कल्पना को महत्वपूर्ण रूप से स्वीकार किया गया है।¹

पंचम व्याख्यान में आचार्य द्विवेदी ने श्लोक को लौकिक संस्कृत का, गाथा को प्राकृत का और दोहे को अपभ्रंश का प्रतीक माना है। चौपाई-दोहा का छन्द वे वीरू मिट्टो की रचनाओं में विकसित मानते हैं। वे कहते हैं कि "सम्भवतः पूर्वी प्रदेश के कवियों ने प्रबन्ध काव्य में चौपाई और दोहा से बने कदम्बकों का प्रयोग शुरू किया था। जायसी आदि सूफ़ी कवियों ने इसी प्रथा का अवलम्बन किया था परन्तु वीरू रूप में यह प्रथा सिद्धों की रचनाओं में मिल जाती है।"² वे रोला, उल्लाला, वीर, कव्व, छप्पय और दुष्यन्तिका को अपभ्रंश के छन्द मानते हैं। चन्दबरदाई ने छप्पय छन्द का विशेष प्रयोग किया है। कवित्त और सर्वैया को वे ब्रजभाषा के छन्द मानते हैं किन्तु उनकी प्रथा कव चली, इनका उन्हें पता नहीं है। बरबँ अवधी का अपना छन्द है। पद अथवा गेय पदों की परम्परा भी प्राचीन है। लीला के छन्दों को वे लोक भाषा से जोड़ते हैं। आचार्य द्विवेदी 'आल्हा' को तुलसीदास-परवर्ती काव्य मानते हैं क्योंकि तुलसीदास ने अपने समय में प्रचलित सभी छन्दों को अपनाया है किन्तु आह्ला-छन्द को नहीं अपनाया। वे कहते हैं कि "या तो वह उन प्रदेशों में उस समय तक आया ही नहीं जिनमें तुलसीदास विचरण किया करते थे या फिर वह तब तक लिखा ही नहीं गया—क्योंकि इतनी प्रभावशालिनी और लोकाकर्षक काव्यपद्धति को जानते हुए भी तुलसीदास न अपनाते "यह बात ममज्ञ में आने लायक नहीं है। विशेष करके जब राम का चरित्र इस पद्धति के लिए बहुत ही उपयुक्त था।"³

हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत इतिहास-ग्रन्थ छात्रों को दृष्टि में रखकर लिखा है। वे स्वयं अपने इस उद्देश्य को ग्रन्थ के 'निवेदन' में स्पष्ट करते हैं, "इस पुस्तक में हिन्दी साहित्य के उद्भव और विकास का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। पुस्तक विद्यार्थियों को दृष्टि में रखकर लिखी गयी है। प्रयत्न किया गया है कि घटासंभव सुबोध भाषा में साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और उसके महत्वपूर्ण बाह्य रूपों के मूल और वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट परिचय दे दिया जाये। परन्तु पुस्तक को संक्षिप्त रूप देने समय ध्यान रखा गया है कि मुख्य प्रवृत्तियों का विवेचन छूटने न पाये और विद्यार्थी अद्यावधिक शोध-रायों के परिणाम से अपरिचित न रह जायें। उन अनावश्यक अटकल-वाजियों और अप्रासंगिक विवेचनाओं को छोड़ दिया गया है जिनसे इतिहास-नामधारी पुस्तकें प्रायः भरी रहती हैं। आधुनिक काल की प्रवृत्तियों को समझने का प्रयत्न तो

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 643

2. उपरिबन्, पृ० 650

3. उपरिबन्, पृ० 667

किया गया है, पर बहुत अधिक नाम गिनाने की प्रवृत्ति से बचने का भी प्रयास है। इसके बहुत-से सेवकों के नाम छूट गये हैं, पर यथासंभव साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ नहीं छूटी हैं।¹

आचार्य द्विवेदी ने स्वयं अपने प्रस्तुत साहित्य-इतिहास-ग्रन्थ की प्रमुख दिशा-रताओं पर प्रकाश डाला है। इसकी विशेषताएँ हैं—साहित्यिक प्रवृत्तियाँ और द.वा.वा.घि शोध-कार्यों से परिचित कराना। यद्यपि उन्होंने यह भी कहा है कि बहुत अधिक नाम गिनाने की प्रवृत्ति से बचने का प्रयास है किन्तु वे पूर्णतः बचे नहीं हैं। नलिन विसोचन शर्मा इस पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि “द्विवेदी जी अपनी प्रतिज्ञा का दृढ़तापूर्वक पालन नहीं कर गये हैं। सभी प्रमुख कवियों के विषय में आवश्यक विवरण और न्यूनतम अनुसंधानों के परिणाम देने के प्रयास के कारण, बहुत अंशों में, हिन्दी साहित्य का यह इतिहास भी, अपनी पूर्वोक्त विशेषता के बावजूद, विवरणप्रधान बन गया है। यह ठीक है कि आचार्य शुक्ल की तरह द्विवेदी जी ने साहित्य को अपने द्वारा बनाये गये साँचे में जड़-बन्द करने की चेष्टा नहीं की है, न उसे किसी अतिसरलीकृत पारिपार्श्विक योजना में बिठाने की आवश्यकता समझी है—‘तत्त्वतः’ शुक्लैतरे पद्धति अपनाते हुए भी, बहुधा बनी-बनायी गहरी लीक पर चल पड़े हैं।”²

आचार्य द्विवेदी ने प्रस्तुत पुस्तक में अपनी पूर्व की दो पुस्तकों ‘हिन्दी साहित्य की भूमिका’ और ‘हिन्दी साहित्य का आदि काल’ के अनुरूप अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। अन्तर इतना है कि यहाँ सरल भाषा में अपने मत को स्पष्ट करने का प्रयास है। वे प्रस्तावना में ही कह देते हैं कि “इस प्रकार हिन्दी साहित्य में प्रायः पूरी परम्पराएँ ज्यों-की-ज्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्रान्तीय साहित्य में ये सारी-जो-सारी विशेषताएँ इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों।”³ ‘आदिकाल’ के नामकरण के सदर्भ में वे कहते हैं कि “कुछ आलोचकों को इस काल का नाम ‘आदिकाल’ ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इस पुस्तक में भी इस काल को इसी नाम में कहा गया है। इस नाम से एक धामक धारणा की सृष्टि होती है। हमने ऊपर इस बात को दिया है। यदि पाठक इस धारणा में सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है। क्योंकि यद्यपि साहित्य की दृष्टि से यह काल बहुत कुछ अपभ्रंश काल का बढ़ावा ही है, पर भाषा की दृष्टि में यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना लेकर आता है। इसमें भावी हिन्दी भाषा और उसके काव्यस्वरूप अंकुरित हुए हैं।”⁴

आचार्य द्विवेदी भवित-साहित्य को हिन्दी साहित्य का वास्तविक प्रारम्भ मानते हैं। इस काल की प्रवृत्तियों का उन्होंने सुन्दर विवेचन किया है और प्रमुख कवियों पर

1 हिन्दी साहित्य उसका उद्भव और विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 257

2 साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० 95

3 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 267

4 उपरिबत्, पृ० 305

परिचयात्मक टिप्पणियाँ भी दी हैं। आचार्य द्विवेदी रीति-काव्य के संदर्भ में कहते हैं कि “भक्त कवियों की गोपी-गोपाल-लीला ने क्षीण रूप में जीवित रहने वाली लौकिक रस को काव्यधारा को थोड़ा सहारा दिया, और इस जरा-से सहारे को पा करके लौकिक रस की कविताएं फिर उठाने लगीं। शुरू-शुरू में इनकी धारा बहुत क्षीण थी, किन्तु जैसे-जैसे भक्तिकाल के आरम्भिक उन्मेष का उत्साह शिथिल पड़ता गया, और भक्तों में भी गतानुगतिका की भावना बढ़ती गयी, वैसे-वैसे लौकिक रस की कविता भी तेजी में सिर उठाती गयी। भद्रहृवी जताथ्दी के बाद लगभग प्रत्येक कवि की कविता में श्लोकुष्ण और गोपियों का नाम तो अवश्य आ जाता है, पर प्रधानता ऐहिकतापरक शृंगार रस की ही रह जाती है।”¹

आचार्य द्विवेदी आधुनिक काल का आरम्भ सन् ईसवी की उन्नीसवीं जताथ्दी के आरम्भ से ही मानने के पक्ष में हैं। वे प्राचीन साहित्य की तुलना में आधुनिक साहित्य के प्रचारित होने के माधन का महत्व बताते हुए कहते हैं कि “वस्तुतः साहित्य में आधुनिकता का वाहन प्रेस है और उसके प्रचार के सहायक हैं : यातायात के समुन्नत माधन। पुराने साहित्य से नये साहित्य का प्रधान अन्तर यह है कि पुराने साहित्यकार की पुस्तकें प्रचारित होने का अवसर कम पाती थी।”² आचार्य द्विवेदी आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में अंग्रेजों की अप्रत्यक्ष सहायता मानते हैं। वे कहते हैं कि “परन्तु कम्पनी सरकार की शासन-व्यवस्था ने इस ओर से तो नहीं, किन्तु दूसरी ओर से हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के उद्धार और उन्नयन का कार्य बड़ी ईमानदारी और मुस्ती के साथ किया। इतिहास और पुरातत्व के शोध में, प्राचीन भारतीय साहित्य और धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन में, और नयी-पुरानी भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक विवेचन में यूरोपियन पद्धतों ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया। इस उद्धार और शोध कार्य की कहानी अद्भुत है। इसने आगे चलकर प्रत्यक्ष रूप में हिन्दी साहित्य का उपकार किया। इन भौतिकार्यों के ही परिणामस्वरूप आगे चलकर मैथिलीकरण गुप्त, प्रसाद और रामचन्द्र शुक्ल का प्रेरणादायक साहित्य रचित हुआ।”³

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ‘छायावाद’ के संदर्भ में ‘असहयोग आन्दोलन’ को नवीन सांस्कृतिक चेतना की लहर मानते हैं। वे कहते हैं कि “असहयोग आन्दोलन इसी प्रयत्न का राजनीतिक मूर्त रूप था। इसे सिर्फ राजनीतिक तक ही सीमित न रामझाना चाहिए। यह सम्पूर्ण देश का, आत्म स्वरूप समझने का प्रयत्न था और अपनी गलतियों को मुधारकर ससार की समृद्ध जातियों की प्रतिद्वन्द्विता में अग्रसर होने का संकल्प था। संघर्ष में यह एक महान् सांस्कृतिक आन्दोलन था। उस समय देश की स्वाधीनता को केवल देग को महान् बनाने का माधन-भर समझा गया था। आधुनिक काल में आत्म-विश्वास को ऐसी प्रचण्ड लहर इसके पूर्व कभी देश में नहीं दिग्वायी पड़ी थी। जनता का

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 415-416

2. उपरिक्त, पृ० 454

3. उपरिक्त, पृ० 455

जो भाग पिछड़ा हुआ था, जो पर्दे में कँद था, जो अपमानित और उपेक्षित था, उसके प्रति सामूहिक रूप से सहानुभूति का भाव उत्पन्न हुआ। सौभाग्य से इस महान् आन्दोलन का नेता महात्मा गांधी जैसा सत्यनिष्ठ महापुरुष था। संसार ने पहली बार शत्रु के विरुद्ध निःशस्त्र सैनिक युद्ध—जिसका प्रधान अस्त्र मैत्री और प्रेम था—देखा। यह पूरा-का-पूरा आन्दोलन मानवीय प्रयत्नों की सार्विक अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुआ था, इसलिए इसका बाह्य और आन्तर रूप सांस्कृतिक था। भारतवर्ष में सब प्रकार से नवीन जागरण का सूत्रपात हुआ। इस महान् आन्दोलन ने भारतीय जनता के चित्त को बन्धनमुक्त किया। यही बन्धनमुक्त चित्त काव्यों, नाटकों और उपन्यासों में नाना भाव से प्रकट हुआ। परन्तु काव्य में वह जिस रूप में व्यक्त हुआ वह कुछ काल तक अपरिचित जैसा लगा।¹

आचार्य द्विवेदी सन् 1920 के बाद की कविता में कल्पना, चिन्तन और अनुभूति को प्रधान मानते हैं। उनकी दृष्टि में व्यक्तिगत अनुभूति की प्रधानता के कारण गीतात्मक मुक्तको का प्रचलन हुआ। अंग्रेजों के वैयक्तिक स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव छायावाद पर मानते हुए वे कहते हैं कि प्रमाद, निराशा, पन्त और महादेवी वर्मा ने उस विदेशी प्रभाव के साथ भारतीय परिस्थितियों के साथ सामंजस्य किया। वे इस दाय्य को मानवतावादी भी मानते हैं। वे कहते हैं कि “मानवीय दृष्टि के कवि की कल्पना, अनुभूति और चिन्तन के भीतर से निकसी हुई, वैयक्तिक अनुभूतियों के आवेग की स्वतः समुच्छित अभिव्यक्ति—बिना किसी आयास के और बिना किसी प्रयत्न के, स्वयं निकल पडा हुआ भावस्रोत—ही छायावादी कविता का प्राण है।”²

आचार्य द्विवेदी ‘प्रगतिवाद’ के सम्बन्ध में यह बताने हैं कि “अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है—सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का। अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की मिट्टि से माधन बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद हो सकते हैं। इस प्रकार हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुरण और बैठ रहा है—व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव का प्राधान्य।”³

प्रस्तुत इतिहास-ग्रन्थ निश्चित ही शुवल जी के इतिहास-ग्रन्थ से भिन्न है। दोनों ग्रन्थों की विषय-सूची की तुलना करके यह भी स्पष्ट हो जाता है—

हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

विषय-सूची

बाल-विभाग

जनता और साहित्य का सम्बन्ध, हिन्दी साहित्य के इतिहास के चार बाल, इन बालों के नामकरण का तात्पर्य।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 506

2. उपरिक्त, पृ० 512-513

3. उपरिक्त, पृ० 531

आदि काल
प्रकरण 1
सामान्य-परिचय

हिन्दी साहित्य का आविर्भाव-काल, प्राकृताभास, हिन्दी के सबसे पुराने पद्य, आदिकाल की अवधि, इस काल के प्रारम्भ की अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति, 'रासो' की प्रबन्ध परम्परा, इस काल की साहित्यिक सामग्री पर विचार, अपभ्रंश परम्परा, देशी भाषा ।

प्रकरण 2
अपभ्रंश काल

अपभ्रंश या लोक प्रचलित काव्य-भाषा के साहित्य का आविर्भाव काल, इस काव्यभाषा के विषय, अपभ्रंश शब्द की व्युत्पत्ति, जैन ग्रन्थकारों की अपभ्रंश रचनाएँ, इनके छंद, बौद्धों का सहजयान सम्प्रदाय, उसके सिद्धों की भाषा, इन सिद्धों की रचना के कुछ नमूने, बौद्ध धर्म का तांत्रिक रूप, 'सध्या', बज्रयान सम्प्रदाय का प्रभाव, इसकी महामुहुराख्या, गोरखनाथ के नाथपंथ का मूल, इसकी वज्रयोनियों से भिन्नता, गोरखनाथ का समय, मुसलमानों और भारतीय योगियों का संसर्ग, गोरखनाथ की हठयोग साधना, 'नाथ' सम्प्रदाय के सिद्धान्त, इनका वज्रयोनियों से साम्य, 'नाथ' पंथ की भाषा, इस पंथ का प्रभाव, इसके ग्रन्थों के विषय, साहित्य के इतिहास में केवल भाषा की दृष्टि से इनका विचार, ग्रन्थकार परिचय, विद्यापति की अपभ्रंश रचनाएँ, अपभ्रंश कविताओं की भाषा ।

प्रकरण 3
देश भाषा काव्य
धीरगाथा

देश-भाषा कवियों की प्रामाणिकता में सन्देह, इन काव्यों की भाषा और छन्द, तराहीन राजनीतिक परिस्थिति, धीरगाथाओं का आविर्भाव, इनके दो रूप, रामो की व्युत्पत्ति, ग्रन्थ-परिचय, ग्रन्थकार-परिचय ।

प्रकरण 5
फुटकल रचनाएँ
लोक भाषा के पद्य, खूसरो, विद्यापति
पूर्व मध्यकाल
भक्तिकाल (1375-1700)

प्रकरण 1

का विकास, इसके मूल स्रोत, नामदेव का भक्तिमार्ग, कबीर का निर्गुण पन्थ की अंत-साधना में भिन्नता, निर्गुणोपासना के मूल स्रोत, निर्गुण पंथ का जनता पर प्रभाव, भक्ति के विभिन्न मार्गों पर मार्मिक दृष्टि से विचार, कबीर के सामान्य भक्तिमार्ग का स्वरूप, नामदेव, इनकी हिन्दी रचनाओं की विशेषता, इन पर नाथपंथ का प्रभाव, इनकी गुरु-दीक्षा, इनकी भक्ति के चमत्कार, इनकी निर्गुण बानी, इनकी भाषा, निर्गुण पंथ के मूल स्रोत, इसके प्रवर्तक, निर्गुण धारा की दो शाखाएँ, ज्ञानाश्रयो शाखा प्रभाव, प्रेममार्गी सूफी कवियों का आधार, कवि ईश्वरदास की 'सत्यवती नथा', सूफियों के प्रेम साधनों की विशेषताएँ, कबीर के रहस्यवाद में भिन्नता, सूफी कवियों की भाषा, सूफी रहस्यवाद में भारतीय साधनात्मक रहस्यवाद का समावेश ।

प्रकरण 2

निर्गुण धारा

ज्ञानाश्रयो शाखा

कवि परिचय, निर्गुण मार्गी सन्त कवियों पर समष्टि रूप से विचार

प्रकरण 3

प्रेममार्गी सूफी (शाखा)

कवि परिचय, सूफी कवियों की कबीर से भिन्नता, प्रेमशाखा परम्परा की समाप्ति, सूफी आख्यान काव्य का हिन्दू कवि ।

प्रकरण 4

सगुण धारा

रामभक्ति शाखा

भक्तिवाद के विविध स्वरूप, वैष्णव थी सम्प्रदाय, रामानंद का समय, इनकी गुरु परम्परा, इनकी उपासना पद्धति, इनकी उदारता, इनके शिष्य, इनके ग्रन्थ, इनके वृत्त के सम्बन्ध में प्रवाद, इन प्रवादों पर विचार, कवि परिचय, हनुमान जी की उपासना के ग्रन्थ, रामभक्ति काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता, भक्ति के पूर्ण स्वरूप का विकास, रामभक्ति की भृंगारी भावना ।

प्रकरण 5

कृष्णभक्ति शाखा

वैष्णव धर्म के आन्दोलन के प्रवर्तक थी बल्लभाचार्य, इनका दार्शनिक सिद्धान्त, इनकी प्रेम साधना, इनके अनुसार जीवन के तीन भेद इनके समय की राजनीतिक और धार्मिक परिस्थिति, इनके ग्रन्थ, बल्लभ सम्प्रदाय की उपासना पद्धति का स्वरूप, कृष्ण भक्ति का स्वरूप, वैष्णव धर्म का साम्प्रदायिक स्वरूप, देश की भक्ति भावना पर सूफियों का प्रभाव, कवि परिचय, अष्टछाप की प्रतिष्ठा, कृष्णभक्ति परम्परा के थीकृष्ण, कृष्ण-चरित कविता का रूप ।

प्रकरण 6

भक्तिकाल की फुटकर रचनाएँ

भक्ति काव्य प्रवाह उमड़ने का मूल कारण, पठान शासकों का भारतीय साहित्य एवं संस्कृति पर प्रभाव, कवि परिचय, सूफी रचनाओं के अतिरिक्त भक्तिकाल के अन्य आख्यान काव्य ।

उत्तर मध्यकाल

रीतिकाल 1700-1900

प्रकरण 1

सामान्य परिचय

रीतिकाल के पूर्ववर्ती लक्षण ग्रन्थ, रीतिकाव्य परम्परा का आरम्भ, रीति ग्रन्थों के आधार, इनकी अखंड परम्परा का आरम्भ, संस्कृति, रीति ग्रन्थों से इनकी भिन्नता, इन भिन्नता का परिणाम, लक्षण ग्रन्थकारों के आचार्यत्व पर विचार, इन ग्रन्थों के आधार, शास्त्रीय दृष्टि से इनकी विवेचना, रीति ग्रन्थकार कवि और उनका उद्देश्य, उनकी कृतियों की विशेषताएँ, साहित्य विकास पर रीति परम्परा का प्रभाव, रीति ग्रन्थों की भाषा, रीति कवियों के छंद और रस ।

प्रकरण 2

रीति ग्रन्थकार कवि परिचय

प्रकरण 3

रीतिकाल के अन्य कवि

इनके काव्य के स्वरूप और विषय, रीति ग्रन्थकारों से भिन्नता, इनकी विशेषताएँ, इनके 6 प्रधान वर्ग (1) शृंगारी कवि (2) कथा प्रबन्धकार (3) वर्णनात्मक प्रबन्धकार (4) सूक्तिकार (5) ज्ञानोपदेशक पद्यकार (6) भक्त कवि, बीर रस की फुटकर कविताएँ, इस काल का गद्य साहित्य, कवि परिचय ।

आधुनिक काल

(स० 19८9-198१)

गद्य रूप

प्रकरण 1

गद्य का विकास

आधुनिक काल के पूर्व गद्य की अवस्था

(ब्रजभाषा गद्य)

गौरवर्ण्यी ग्रन्थों की भाषा का स्वरूप, वृष्ण भक्ति शाखा के गद्य ग्रन्थों की भाषा का स्वरूप, नाभादाय के गद्य का नमूना, उन्नीसवीं शताब्दी में और उसके पूर्व

लिखे गए गद्य ग्रन्थ, इन ग्रन्थों की भाषा पर विचार, काव्यों की टीकाओं के गद्य का स्वरूप।

(खड़ी बोली गद्य)

शिष्ट समुदाय में खड़ी बोली के व्यवहार का आरम्भ, फारसी मिश्रित खड़ी बोली या रेस्ता में शायरी, उर्दू-साहित्य का प्रारम्भ, खड़ी बोली के स्वाभाविक देशी रूप का प्रसार, खड़ी बोली के अस्तित्व और उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भ्रम, इस भ्रम का कारण, अपभ्रंश काव्य-परम्परा में खड़ी बोली के प्राचीन रूप की झलक, संत कवियों की शायरी में खड़ी बोली, गद्य कवि के गद्य ग्रन्थ में उसका रूप, इस बोली का पहला ग्रन्थ-कार पंडित दत्ततराम के अनुवाद ग्रन्थ में इसका रूप, मडोवर वर्णन में इसका रूप, इसके प्राचीन कवित्त साहित्य का अनुमान, व्यवहार के शिष्ट भाषा स्वरूप में इसका ग्रहण, इसके स्वाभाविक रूप की मुसलमानी दरबारी रूप उर्दू से भिन्नता, गद्य-साहित्य में इसके प्रादुर्भाव और व्यापकता का कारण, जान गिलब्राइस्ट द्वारा इसके स्वतंत्र अस्तित्व की स्वीकृति, इनके गद्य की एक साथ परम्परा चलाने वाले चार प्रमुख लेखक (1) मुंशी सदासुखलाल और उनकी भाषा (2) इशा अल्ता खा और उनकी भाषा, (3) सल्लू-लाल और उनकी भाषा, सदासुखलाल की भाषा से इनकी इशाकी भिन्नता (4) सद्दलमिश्र और उनकी भाषा, सल्लूलाल की भाषा से इनकी भाषा की भिन्नता, चारों लेखकों की भाषा का सापेक्षिक महत्व, हिन्दी में गद्य साहित्य की परम्परा का प्रारम्भ, इस गद्य के प्रसार में ईसाइयों का योग, ईसाई धर्म प्रचारकों की भाषा का स्वरूप, मिशन सोसाइटी द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की हिन्दी, ब्रह्म समाज की स्थापना, राजा राममोहनराय के वेदान्त भाष्य के अनुवाद की हिन्दी, उदक मार्तण्ड पत्र की भाषा, अंग्रेजी शिक्षा प्रसार, स० 1860 ई० पूर्व की अदासती भाषा, अदालती में हिन्दी प्रवेश और उसका निष्कासन, हिन्दी उर्दू के सम्बन्ध में गार्सादातामी का मत।

प्रकरण 2

गद्य साहित्य का आविर्भाव

हिन्दी के प्रति मुसलमान अधिकारियों के भाव शिक्षापयोगी हिन्दी पुस्तकें, राजा शिवप्रसाद की भाषा, राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवादों की भाषा, फेडरिक पिकाट का हिन्दी-प्रेम, राजा शिवप्रसाद के 'गुटका' की हिन्दी, 'लोकमित्र और वध' अखबार की भाषा, बाबू नवीनचन्द्र राय की हिन्दी सेवा, गार्सादातामी का उर्दू पक्षपात, हिन्दी गद्य-प्रसार में आर्यसमाज का योग, प० यद्वाराम की हिन्दी सेवा, हिन्दी गद्य भाषा का स्वरूप निर्णय।

आधुनिक गद्य साहित्य परम्परा का प्रवर्तन

प्रथम उत्थान

(1925-50)

भारतेन्दु का प्रभाव, उनके पूर्ववर्ती और समकालीन लेखकों से उनकी शैली की भिन्नता, गद्य साहित्य पर उनका प्रभाव, खड़ी बोली गद्य साहित्य की प्रवृत्त साहित्यिक रूप प्राप्ति, भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की शैली, इनका दृष्टिकोण और मानसिक अवस्थान, हिन्दी का प्रारम्भिक नाट्य साहित्य, भारतेन्दु के लेख और निबन्ध, हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास, इसका परवर्ती उपन्यास साहित्य, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, उनकी उपन्यास यात्रा, उसका पहला अनूदित नाटक, उनकी पत्र-परिभाषा, उनकी 'हरिश्चन्द्र-चरित्र' की भाषा, इन चरित्रों के सहयोगी, इनके मनोरञ्जक लेख, भारतेन्दु के नाटक, इनकी विवेकपत्रा, उनकी गर्वतोमुग्धी प्रतिभा, उनके सहयोगी, उनकी शैली के दो रूप, पं० प्रतापनारायण मिश्र, भारतेन्दु से उनकी शैली की भिन्नता, उनका पत्र, उनके विषय, उनके नाटक, पं० बालकृष्ण भट्ट, उनका हिन्दी प्रदीप उनकी शैली, उनके गद्य प्रबन्ध उनके नाटक, पं० बदरी नारायण चौधरी—उनकी शैली की विवेकपत्रा, उनके नाटक, उनका उपन्यास, ठाकुर जगमोहन मिश्र, उनका प्रकृति प्रेम, उनकी शैली की विवेकपत्रा, बाबू सोलाराम, उनका पत्र, उनकी हिन्दी सेवा, भारतेन्दु के अन्य सहयोगी । हिन्दी का प्रचार-कार्य, इसमें बाधाएँ, भारतेन्दु और उनके सहयोगियों का उद्योग, काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना, इनके सहायक और उनका उद्देश्य, बलिया में भारतेन्दु का व्याख्याना, पं० श्रीराम का प्रचारकार्य, सभा द्वारा नागरी उद्धार के लिए उद्योग, सभा के साहित्यिक धायोजन, सभा की स्थापना के बाद की चिन्ता और व्ययता ।

प्रकरण 3

गद्य साहित्य का प्रसार

द्वितीय उत्थान

(1950-75)

सामान्य परिचय

इस काल की चिन्ताएँ और आकाशवाण, इस काल के लेखकों की भाषा, इसके विषय और शैली, इस काल के नाटक, निबन्ध, समालोचना और जीवन-चरित्र, नाटक-बगमापा से अनूदित, अंग्रेजी और संस्कृत से अनूदित, मौलिक, उपन्यास-अनूदित, मौलिक, छोटी कहानियों का स्वरूप-विकास, पहली मौलिक कहानी, अन्य भावप्रधान कहानियाँ, हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानी, प्रेमचन्द का उदय, निबन्ध—उनके भेद, इसका आधुनिक स्वरूप, निबन्ध लेखक की तत्त्वचिन्तक या वैज्ञानिक से भिन्नता, निबन्ध परम्परा का आरम्भ, दो अनूदित ग्रन्थ, निबन्ध लेखन परिचय, समालोचना—भारतीय समालोचना का उद्देश्य, योरोपीय समालोचना, हिन्दी में समालोचना—साहित्य का विकास ।

गद्य साहित्य की वर्तमान गति

तृतीय उत्थान

[सं० 1975 से]

कुछ लोगो का अनधिकार चेष्टा, आधुनिक भाषा का स्वरूप, गद्य साहित्य के विविध अंगों का सक्षिप्त विवरण और उनकी प्रवृत्तिया, (1) उपन्यास—कहानी, (2) छोटी कहानी (3) नाटक (4) निबन्ध (5) समालोचना, काव्य भीमासा ।

आधुनिक काल
(स० 1900 से)
काव्य छह
प्रकरण ।
पुरानी धारा

प्राचीन काव्य-परम्परा, ब्रजभाषा काव्य-परम्परा के कवियों का परिचय, पुरानी परिपाटी से सम्बन्ध रखने के साथ ही साहित्य की जीवन गति के प्रवर्तन में योग देने वाले कवि, भारतेन्दु द्वारा भाषा-परिष्कार, उनके द्वारा स्थापित कवि समाज, उनके भक्ति, शृंगार के पद, कवि परिचय ।

खंड 2
नई धारा
प्रथम उत्थान
(स० 1925-50)

काव्य धारा का क्षेत्र विस्तार, विषयों की अनेकरूपता और उनके विधान ढंग में परिवर्तन, इस काल के प्रमुख कवि, भारतेन्दु वाणी का उच्चतम स्तर, उनके काव्य-विषय और विधान का ढंग, प्रताप नारायण मिश्र के पद्यारमक निबन्ध, ब्रह्मनारायण चौधरी का काव्य, कविता में प्राकृतिक दृश्यों की सश्लिष्ट योजना, नये विषयों पर कविता, खड़ी बोली कविता का विकास-क्रम ।

द्वितीय उत्थान
(स० 1950-75)

प० श्रीधर पाठक की कथा की मार्वाभीम मामिकता, ग्रामगीतों की मामिकता, प्रकृत स्वच्छन्दतावाद का स्वरूप, हिन्दी काव्य में 'स्वच्छन्दता' की प्रवृत्ति का सर्वप्रथम आभास, इसमें अवरोध की प्रतिक्रिया, श्रीधर पाठक, हरिऔध, द्विवेदी मंडल के कवि, इस मंडल के बाहर की काव्य-भूमि ।

तृतीय उत्थान
(स० 1975 से...)
वर्तमान काव्य धारायें
सामान्य परिचय

खड़ी बोली पद्य के तीन रूप और उनका सांकेतिक महत्त्व, हिन्दी के नये छन्दों पर विचार, काव्य के वस्तु विधान और अभिव्यजन शैली में प्रकट होने वाली प्रवृत्तिया,

खड़ी बोली में काव्यत्व का स्फुरण, वर्तमान काव्य पर कला का प्रभाव, चली आती हुई काव्य-परम्परा के लिए प्रतिप्रिया, नूतन परम्परा प्रवर्तक कवि, इनकी विशेषताएँ, इनका वास्तविक लक्ष्य, रहस्यवाद, प्रतीकवाद और छायावाद, हिन्दी में छायावाद का स्वरूप और परिणाम, भारतीय काव्यधारा से इसका पार्थक्य, इसकी उत्पत्ति का मूल स्रोत, 'छायावादी' शब्द का अनेकार्थी प्रयोग, छायावाद, के साथ ही योरोप के अन्य वादों के प्रवर्तन की अनधिकार चेष्टा, 'छायावाद' की कविता का प्रभाव, आधुनिक कविता की धाराएँ, स्वाभाविक स्वच्छन्दता की ओर प्रवृत्त कवि, खड़ी बोली पद्य की तीन धाराएँ, राजभाषा काव्य-परम्परा, द्विवेदी काल में प्रवर्तित हुई खड़ी बोली काव्यधारा, इस धारा के प्रमुख कवि, छायावाद का आरम्भ, इसका स्वरूप, इसके दो अर्थ, इन अर्थों के अनुसार छायावादी कवियों का वर्गीकरण, इनकी कविता का स्वरूप, कवि परिचय।

हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

विषय सूची

प्रस्तावना

"हिन्दी शब्द का अर्थ—अपभ्रंश का साहित्य, जैनतर अपभ्रंश साहित्य को भाषा काव्य कहा गया है—अपभ्रंश के तीन बंध—साहित्यिक अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी, हिन्दी की पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषा—अपभ्रंश के जैन साहित्य का महत्व—अपभ्रंश जैन रचनाओं का वर्गीकरण, संघा भाषा या उलटवासियों की परम्परा, दसवीं शताब्दी तक के लोकभाषा साहित्य के मुख्य लक्षण।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल

आदिकाल—दो श्रेणी की रचनायें—सामाजिक रचनाओं के अभाव का कारण—पुराने साहित्य का संरक्षण—ध्रुमान रासो—वीसलदेव रासो—भट्ट केदार, मधुकर, अमीर रासो, पृथ्वीराज रासो के प्रमाणिक अंश, इन अंशों की विशेषता रासो में कविता, परमाल रासो, डिगल काव्य ऐतिहासिक काव्य क्या है, सन्देश रासक—सन्देश रासक और पृथ्वीराज रासो, प्राकृत वंगलम के उदाहरण, कीर्तिलता की विशेषता, विद्यापति, कीर्तिलता की भाषा—कवित्व कीर्तिलता का द्वाभ्य रूप दो प्रकार के साहित्यिक प्रयत्न इस काल का नाम।

भक्ति साहित्य का आविर्भाव

वास्तविक हिन्दी साहित्य का आरम्भ

भक्ति साहित्य का आरम्भ, उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन, मध्यकालीन भक्ति साहित्य का प्रधान स्वर, अवतारवाद, दो मुख्य आचार्य, चत्तभाचार्य-नेप पदों की परम्परा-भाषा में परिवर्तन, सांस्कृतिक दृढ़ का काल, जाति प्रथा की बढोतरता का कारण—टीका गुण, नाचमत्त और भक्ति मार्ग—क्या भक्ति आन्दोलन प्रक्रिया है? गुरु रामानन्द,

आनन्द भाष्य और प्रमथ—पारिजात—रामानुज और रामानन्द, आनन्द भाष्य का मत—रामानन्द और बल्लभाचार्य का प्रभाव—महान आदर्श का साहित्य—वास्तविक लोक-साहित्य ।

निर्गुण भक्ति का साहित्य

रामानन्द के शिष्य—नाथपथी योगियों के सम्पर्क, नामदेव, महाराष्ट्र के हिन्दी कवि—जयदेव—कबीरदास, कबीर की विशेषता, कबीर के गुण, कबीर पन्थावती आदि ग्रन्थ के पद, बीजक-रमनी-साधो शब्द का व्यक्तित्व धीजक में कम है। कबीर सम्प्रदाय का साहित्य गुरुसंगोपासीशाखा—धर्मदासीशाखा-भगताही-मंथ-नबीन शास्त्रीय साहित्य की आवश्यकता—रैदास । रैदास की विशेषता, साधना, मेवा, पीपा, धना, बाबरी साहिवा और उनका सम्प्रदाय, कमाल, दादूदयाल, दादू का व्यक्तित्व और साहित्य-मुन्दरदास तथा अन्य शिष्य, दादू के साहित्य शिष्य, जभनाथ-हरिदाम, निरजनी-गुरनानक देव इनकी विशेषता शेष फरीद-गुरु अगद, दादू अमरदास गुरु, अर्जुनदेव गुरु, तेगबहादुर और गुरु-गोविन्द सिंह, अदर अनतरात तुलसी धरणीदास, गुरुनानक साहब हुसनदास, गरीबदास, धरणदाम, संतमत में गतानुगतिकता ह्रास का कारण, पर जोड़ने की माया ।

कृष्णभक्ति का साहित्य

लीलागान की परम्परा—चण्डीदास और विद्यापति गीत गोविन्दचन्द का दत्तम-सूरदास—व्या सूरदास जन्माद्य ये ? सूर की रचनायें—साहित्य सहरी, सूर की वैशिष्ट्य राधिका के रूप में भक्त हृदय-चिन्मुख और जडोन्मुख प्रेम-विरहिणी राधा-प्रेम का माजित रूप-सूरदास का कवित्व-अष्टछाप, कृष्णदास कुभनदास, परमानन्द, नन्ददास के नन्ददास काव्य नन्ददाम, नन्ददास-नाथ्य का कवित्व, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, अष्टछाप के कवियों की विशेषता—मीराबाई, मीराबाई का कवित्व गोस्वामी हितहरिवंश—हितहरिवंश का भक्तिमत-निम्बार्क सम्प्रदाय से भिन्नता, रचनायें—इस काल के कुछ अन्य कवि, अकबरी दरबार के कवि—रहोम, गंग, रसखानि, ध्रुवदास, आनन्दधन, नागरीदास अलबेसी भक्ति, चाचा हित वृदावनदास भागवतरसिक हठी सह-चरिशरण-प्रेम भक्ति का साहित्य, इस साहित्य के गुण-दोष ।

सगुण मार्गी रामभक्ति का साहित्य

रामभक्ति की दो शाखायें—तुलसीदास का आविर्भाव, तुलसीदास का महत्व, तुलसीदास विषयक जानकारी, तुलसीदास का देखा हुआ समाज, हिन्दू समाज में संकीर्णता का कसाव, उनका आत्म-परिचय, उनका व्यक्तित्व, उनके परिचय के अन्य स्रोत, भक्त-माल आदि का परिचय, जन्म स्थान, तुलसीदास के रचित ग्रन्थ, सफलता के कारण, समन्वय बुद्धि, चरित्र निर्माण, भाषा पर प्रभुत्व सारसाहिणी दृष्टि, कृष्णदास पयहारी नामादास (प्रियदास-केशवदास केशव का कवित्व, अन्य राम काव्य, रामभक्ति साहित्य

की विशेषता कृष्ण भक्ति का प्रभाव, मधुर भाव का प्रवेश, जनकपुर के भक्तों की विशेषता, विश्वनाथ सिंहजू-स्वमुखी सम्प्रदाय-सत्मुखी शाखा ।

प्रेम कथानकों का साहित्य

प्रेम कथानकों की परम्परा-प्रेम कथानकों की आधारभूत कहानिया-सूफी कवियों द्वारा निपट प्रेम कथानक मूफी मत का भारतवर्ष में प्रवेश, कुतुबन-सूफी कवियों द्वारा व्यवहृत काव्य रूप-मञ्जन-मलिक मुहम्मद जायसी का रहस्यवाद, पद्मावती का रूप, समा-सोक्त पद्धति-परोक्ष-सकेत के उत्साह का अतिरेक-उसमान-जानकवि-कासिमशाह—अन्य सूफी कवि, अन्य सन्तों के प्रेम कथानक, लौकिक प्रेम कथानक ।

रीतिकान्य

(1) रीतिग्रन्थों का सामान्य द्विवेदन—भक्ति काव्य के व्यापक प्रभाव का काल-भक्ति और शृंगार भावना-उज्ज्वल-नीलमणि-रीतिकान्य-नायिका भेद के भक्त कवि कृपाराम की हित तरंगिणी केशवदास के रीतिग्रन्थ दण मनोभाव का काल-जाति पाति व्यवस्था का नया रूप कवियों के प्रेरणा स्रोत मूल स्वर मस्ती नहीं नारी का चित्रण अलंकार शास्त्र का हिन्दी में प्रवेश-रीति कवि की मनोवृत्ति-संस्कृत के अलंकार शास्त्र का प्रभाव-भौतिकता का अभाव-अलंकार-ग्रन्थों की सकुचित वृत्ति-अन्य आकर्षक विषय ।

(2) प्रमुख रीति ग्रन्थकार—भक्ति प्रेरणा का शैथिल्य-चिन्तामणि-भूषण-मति-राम-जमवर्तसिंह और भिखारीदास-रीतिग्रन्थ कवियों का आवश्यक कर्तव्य-सा हो गया था—देव कवि-गद्य का प्रयोग-कुछ प्रसिद्ध अलंकारिक कवि-सब समय प्रसिद्धि का कारण रीति ग्रन्थ ही नहीं थे, पद्माकर-ग्वाल कवि और प्रतापसाहि ।

(3) रीतिकाल के लोकप्रिय कवियों की विशेषता—बिहारीलाल-शतक और सतमई की परम्परा-गाथा सप्तशती और बिहारी सतमई में अन्तर-परम्परा की विरासत बिहारी के साथ अन्य कवियों की तुलना का साहित्य-बिहारी सजग कलाकार थे, मध्दा-लकारों की योजना, बिहारी अर्थालंकारों की योजना-बिहारी की अमफलता कहा है ? बिहारी के अनुकर्ता-बिहारी और मतिराम-बिहारी और देव और पद्माकर-स्वच्छन्द प्रेम धारा-रीतिकान्य मादक कविता का साहित्य है ।

(4) रीतिभूत काव्यधारा—रीतिभूत साहित्य-रीतिभूत शृंगारी कवि-बेनी-फारसी साहित्य के पश्चिम का फल—सैनापति, बनधारी, द्विजदेव, फारसी प्रभावापन्न कवि : मुबारक, आलम, रगनिधि, बोधा, ठाकुर, रीतिकान्य-बूँद और बेताल, गिरिधर कविराय, प्रवन्ध काव्य, फुटकर, सालकवि, जोधराज, मूदन, जोहलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव, महाराज विश्वनाथ सिंह, त्रय कवि जीयमाण दीप्ति की कविता ।

आधुनिक काल

(1) गद्य युग का आरंभ—आधुनिकता का आरंभ, ऐतिहासिक न्यून, अघेन्द्रों की अन्वयस सहायता-त्राचीन साहित्य में गद्य, हिन्दी, गद्य, गोरखरायो गद्य, बंजव गद्य

साहित्य, परवर्ती काल के ब्रजभाषा गद्य के रूप: टीकायें, स्वतंत्र गद्य ग्रन्थ, राजस्थानी गद्य साहित्य, मैथिली भाषा के गद्य ग्रन्थ, छडी बोली का प्रचार, हिन्दी गद्य का सूत्रपात, फोर्टे विलियम कालेज का हाथ कितना था, मुन्शी सदासुखलात, मुन्शी इशा अल्ला खां, सल्लू लाल जी, प० सदलमिथ ।

(2) परिमार्जित भाषा और साहित्य का आरंभ—परिमार्जित भाषा का सूत्रपात, ईसाई मिशनरियों की सहायता, नवीन सम्पर्क का परिणाम, हिन्दी वक्ताकारिता का जन्म, नई शिक्षा का सूत्रपात, नवीन शिक्षा का प्रचार और विद्रोह, नवीन युग का जन्म काल, हिन्दी की उपेक्षा, उसकी भीतर की शक्ति, राजा शिवप्रसाद क्षित्तारे हिन्द, बनारस, मुधाकर और बुद्धिप्रकाश, भाषा के सम्बन्ध में प्रतिप्रिया, राजा लक्ष्मणसिंह, आर्य समाज, बाबू नवीनचन्द्र राय, भद्वाराम फुल्नोरी, आर्य समाज की प्रतिप्रिया ।

(3) भारतेन्दु का उदय और प्रभाव—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, नवीन भाषा शैली का वैशिष्ट्य, नवीन ढंग की राष्ट्रीयता का जन्म, भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का प्रवेश, भारतेन्दु की साहित्यिक विशेषता, भारतेन्दु की सफलता का रहस्य, महानेता भारतेन्दु, हिन्दी का जन-आन्दोलन, भारतेन्दु मठल, विभिन्न दृष्टिकोणों का विकास, प्रहसन, स्वच्छन्दतावादी धारा, राष्ट्रीय भावना के नाटक, हिन्दी प्रचार का आन्दोलन, उर्दू के साथ सघर्ष, भूले हुए इतिहास का उद्धार, भाषा के स्वरूप पर मतभेद ।

(4) साहित्य की बहुमुखी उन्नति का काल—बहुमुखी साहित्य, उपन्यास और कहानियाँ, प्राचीन भारत में कथा-साहित्य, उपन्यास का स्वरूप, आधुनिक गद्य का कथा-साहित्य, आधुनिक ढंग के उपन्यास, तिलिस्मी उपन्यास, बगला उपन्यास, बगला उपन्यासों की देन, छोटी कहानियाँ, आधुनिक कहानियों के पहले की अवस्था, भारतेन्दु काल तक कहानी कला अविकसित रही, वास्तविक कहानी का आरंभ, प्रसाद और गुलरी की कहानियाँ, प्रेमचन्द का आगमन, मुद्रर्शन, यथार्थवादी चित्रण आवश्यक है, यथार्थवाद का अर्थ, रोमांस, प्रकृतिवाद और यथार्थवाद, मानवतावादी दृष्टि, मानवतावाद और राष्ट्रीय-वाद, प्रेमचन्द, प्रेमचन्द का महत्त्व, प्रेमचन्द का बतव्य, प्रेम का स्वरूप—'प्रसाद' के नाटक, निबन्ध और समालोचना, नवीन युग ले जाने वाला काल, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, अन्य कवि ।

(5) छायावाद—प्रथम महायुद्ध, नवीन सांस्कृतिक चेतना की लहर, नवीन शिक्षा पद्धति का परिणाम, नवीन कवियों की शक्ति, साहित्य की नयी मान्यतायें, विषयो प्रधान साहित्य, कल्पना-चिन्तन अनुभूति, नवीन प्रगति, मुक्तक, मुक्तक कवो प्रभावित करते हैं, पुराने और नये मुक्तको में अन्तर, छायावाद नाम, ऊपर के विचारों का निष्कर्ष, छायावादी कविता का प्राणत्व, रहस्यवाद, प्रसाद का रहस्यवाद, महादेवी वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सियारामशरण गुप्त, गुरु भक्तसिंह भक्त, सरम गीतो का दाहृत्य, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, दिनकर, छायावादी भाषा की प्रतिप्रिया का आरंभ, घोर मन्थन और उथल-पुथल का काल, उपन्यास और कहानी लेखिकायें, नाटक, एकांकी नाटक, भावात्मक गद्य, गद्य के विविध रूप ।

(6) प्रगतिवाद—मानवतावाद का विकृत रूप, गतिशील और प्रगतिवादी साहित्य, प्रगतिवादी साहित्य का आधारभूत, तत्त्वदर्शन, वर्तमान अवस्था, नये साहित्यकार, प्रगतिवाद के विरोधी साहित्यकार कौन हैं ? प्रगतिशील आन्दोलन की सभावनायें।

उपर्युक्त दोनों विषय सूचियों का अन्तर करने से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य द्विवेदी ने शुक्ल जी की परम्परा को नहीं अपनाया है। शुक्ल जी की सूची में विस्तार अधिक है। द्विवेदी जी के साहित्येतिहास में विस्तार से बचने की प्रवृत्ति है। उनके काल-विभाजन में भी लचीलापन है। द्विवेदी जी आदिकाल को 1000 ई० से 1400 ई० तक मानते हैं। दूसरी ओर उन्होंने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में इसे इससे भी पूर्व माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल का आरंभ स० 1050 (993 ई०) से माना है। भक्तिकाल के आरंभ-अन्त की वे कोई तिथि नहीं देते। रीतिकाल को वे 16वीं शताब्दी के मध्य भाग से मानते हैं। इस प्रकार भक्तिकाल 1400 ई० से 1550 ई० ठहरता है। रीतिकाल को वे 19वीं शताब्दी के मध्य तक ले जाते हैं किन्तु आधुनिक काल का आरंभ 1900 ई० के आस-पास से मानने हैं। "उपर्युक्त विभाजन से एक बात स्पष्ट होती है कि द्विवेदी जी साहित्येतिहास में काल-विभाजन और युग की सीमा निर्धारण में कठोरता नहीं बरतना चाहते।"¹ भक्तिकाल की उन्होंने कोई तिथि नहीं दी।

अन्य ग्रन्थ

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के कुछ अन्य ग्रन्थ भी साहित्येतिहास के ग्रन्थ ही हैं। 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप', 'सहज साधना', 'मध्यकालीन धर्म साधना', 'नाथ सम्प्रदाय', 'सिद्ध गुरुओं का पुण्य स्मरण', 'अपभ्रंश साहित्य और सन्त साहित्य (फुटकर रचनाएँ)' इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में उन्होंने अपनी उसी ऐतिहासिक दृष्टि का प्रस्तुतीकरण किया है जो 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में प्रस्तुत की गयी थी। ये सकलन या तो व्याख्यान के रूप में लिखे गये हैं अथवा फुटकर लिखे गये निबन्धों को संकलित कर दिया गया है। ये साहित्येतिहास हिन्दी की पूर्व-पीठिका से लेकर मध्य युग तक का चित्रण करते हैं और 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के पक्षों का विस्तृत विवेचन करते हैं।

आचार्य द्विवेदी के साहित्येतिहास की नवीनता का मूल कारण उनके हृदय में स्थित कालित्य तत्व ही रहा है। हम पहले ही यह प्रमाणित कर चुके हैं कि उसी के परिणामस्वरूप उन्होंने इतिहास-लेखन की नवीनता दी। नवीनता के प्रश्न पर सभी आचार्य एक मन हैं। शिवकुमार का निम्न कथन इस तथ्य को पुष्ट करता है, "पूर्वता का कोई भी दावा मत्त नहीं होता और आचार्य जी ने यह दावा कभी नहीं किया जैसा कि कुछ इतिहासकारों ने किया है। फिर भी इसमें सभी विद्वान एक मत हैं कि द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को नया जीवन दिया और नयी गति दी। यही कारण है कि उनके समय में और उनके पश्चात् छोटे-बड़े अनेकानेक इतिहास लिखे गए, परन्तु

1. शिवकुमार, हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० 228

अभी तक भी ऐसा साहित्येतिहास देखने में नहीं आया जो द्विवेदी जी के हिन्दी साहित्य संबंधी इतिहास ग्रन्थों से अधिक प्रौढ़ हो या उनका समकक्ष हो।¹

विभिन्न युगों के कवियों के चित्रचित्रण में लालित्य-विधान

आचार्य द्विवेदी ने विभिन्न युगों के प्रमुख कवियों पर अपनी टिप्पणी प्रस्तुत की है। इन टिप्पणियों में उनका लालित्य संबंधी दृष्टिकोण प्रस्तुत रहता है। काव्य-चिन्तन तो स्वयं में ही लालित्य है। आदिकाल का प्रमुख कवि चन्द्रबरदाई है। उसके काव्य को लोक से प्रभावित और पुरानी परम्परा का विकास ही मानते हैं। वे चन्द्रबरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' के कुछ अंशों को ही प्रामाणिक मानते हैं। इन प्रामाणिक अंशों के संबंध में उनका मत है कि—

"इन अंशों में भाषा उस प्रकार का बेडौल और कवित्त का सहज प्रवाह है। इसमें चन्द्रबरदाई ऐसे सहज-प्रफुल्ल कवि के रूप में दृष्टिगत होने के जो परिस्थितियों के भी जीवनरस वीचर रहते हैं। वे केवल कल्पनाविलासी कवि ही नहीं, निपुण मन्त्रशक्ता के रूप में भी सामने आते हैं। चाहे रथ और शोभा का वर्णन हो, चाहे ऋतु वर्णन की उत्फुल्लता का प्रसंग हो, या युद्ध की भेरी का प्रसंग हो, चन्द्रबरदाई सर्वत्र एक समान अविचलित और प्रसन्न दिखायी पड़ते हैं। रूप और सौन्दर्य के प्रसंग में उनकी कविता रुकना ही नहीं जानती। निस्संदेह उन्होंने काव्यगत रुढ़ियों का बहुत व्यवहार किया है..."²

आचार्य द्विवेदी ने कबीर के संबंध में वही मत दिया है जो उन्होंने 'कबीर' में दिया है। वे कहते हैं कि—

"इसी अनावृत आत्मप्रसमरण ने कबीर की रचनाओं को श्रेष्ठ काव्य बना दिया है। सत्कार में जहाँ कहीं भी यह रचना गयी है वही इसने लोगों को प्रभावित किया है। सहज सत्य को सहज ढंग से वर्णन करने में कबीरदास अपना प्रतिद्वन्दी नहीं जानते। वे मनुष्य बुद्धि की ध्यात करने वाली सभी वस्तुओं को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर अचरित्य हुए थे। पंडित, श्रेष्ठ, मुनि, पीर, औलिया, कुरान, पुरान, राजा, नमाज, एकादशी, मंदिर और मस्जिद उन दिनों मनुष्य चित्त को अभिभूत कर बैठे थे, परन्तु वे कबीरदास का मार्ग न रोक सके। इसीलिए कबीर अपने युग के सबसे बड़े ज्ञान्तदर्शी थे।"³

आचार्य द्विवेदी ने तो सूरदास पर विचार करते हुए अपना हृदय ही उडेल दिया है। सूरदास का वास्तव्य और शृंगार वर्णन, दोनों ही उन्हें अत्यन्त आकर्षक लगता है। सूरदास जैसा वास्तव्य-वर्णन दुर्लभ है। वे इसका कारण प्रस्तुत हुए कहते हैं कि—

"यशोदा की उपलक्ष्य करके वस्तुतः सूरदास का भक्त चित्त ही शत-शत रस-

1. शिवकुमार, हिन्दी साहित्य का इतिहास वर्णन, पृ० 229
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 293-294
3. उपरिबत्, पृ० 329-330

स्रोतो में उडेल हो उडता है। वही चित्त गोपियो, गोपालो और सबमे बढकर राधिका के रूप में ही अभिव्यक्त हुआ है। इसलिए सूरदास की पुनरुक्तियाँ जरा भी नहीं खटकती और वाक्-चातुर्य इतना उत्तम कोटि का होकर भी व्यंग्यार्थ के सामने अत्यन्त तिरस्कृत हो गया है। वर्णन-कौशल वहाँ प्रधान नहीं है, वह भक्त के महान् आत्मसमर्पण का अग भाव है, किन्तु माधक भक्त लोग लीला से विरह-रूप को जितनी आसानी से अनुभव कर सकते हैं, मिलन-रस को उतना नहीं। जिस दिन साधक सिद्ध हो जाता है और भक्ति अर्थात् चिन्मय रस के एकमात्र आकर निखिसानन्द मन्दोह भगवान् से मिलकर एकमेक हो जाता है, उस दिन कुछ कहने की चाकी नहीं रह जाता। यही कारण है कि भक्त की विरह कथा अधिक सरस, अधिक भावप्रवण और अधिक द्रावक होती है।¹

आचार्य द्विवेदी का मन सूरदास पर खूब रमता है। उन्होंने सूरदास के कृतित्व का विवेचन करने के लिए एक पुस्तक भी लिखी है। वे सूरदास की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि "सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रफ्तार की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है। वह अपने को भूल जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है।"²

आचार्य द्विवेदी ने मीराबाई के काव्य को भी उत्कृष्ट माना है। वे कहते हैं, कि "मीराबाई के पदों में अपूर्व भाव-विह्वलता और आत्मसमर्पण का भाव है। इनके माधुर्य ने हिन्दी-भाषी क्षेत्र के बाहर के भी सहृदयों को आकृष्ट और प्रभावित किया है। माधुर्य भाव के अन्यान्य भक्त कवियों की भाँति मीरा का प्रेम-निवेदन और विरह-व्याकुलता अभिमानाश्रित और अध्यन्तरित नहीं है, बल्कि सहज और साक्षात् संबधित है। इसीलिए इन पदों में जिस श्रेणी की अनुभूति प्राप्त होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वह सहृदय को स्पन्दित और चालित करती है और अपने रग में रग डालती है।"³

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पर भी आचार्य शुक्ल के समान तुलसी का प्रभाव है। दोनों में अन्तर यह है कि आचार्य शुक्ल की समीक्षा के सिद्धान्त तुलसी के काव्य पर आधारित है किन्तु आचार्य द्विवेदी के समीक्षा-सिद्धान्त कालिदास के काव्य पर आधारित है। आचार्य द्विवेदी तुलसी के समन्वयवाद पर अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि, "लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी। उनमें केवल लोक और शास्त्र का ही मध्यम्य नहीं है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाग और संस्कृति का, निर्गुण और मगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनामकत चिन्तन का, ब्राह्मण और चाण्डाल का, पंडित और अशिक्षित का ममन्वय, 'रामनरितमानम' के आदि से अन्त दो छोरों पर जाने वाली परा-कोटियों को मिला देने का

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 357-358

2. उपरिचत्, पृ० 360

3. उपरिचत्, पृ० 366

प्रयत्न है।¹²

केशवदास की आचार्य द्विवेदी हृदयहीन कवि ही मानते प्रतीत होते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि "कवि को जिस प्रकार का संवेदनशील और प्रेपण-धर्मवाला हृदय मिलना चाहिए, वैसा केशवदास को नहीं मिला था। दूसरा कवि जिन स्थानों पर अधिक जमकर लिखता, उन स्थानों पर उनका मन जमा ही नहीं। राम को वनवास देने वाले दशरथ-कैकेयी प्रसंग को सात पंक्तियों में समाप्त कर दिया है, लेकिन स्वयंवर सभा में राजाओं के वर्णन में बहुत अधिक परिश्रम किया है। किसी प्रकार के रस या भाव को उद्भक्त करने का अवसर जब मिल जाता है, तब भी वे अलंकार-योजना और श्लेष-निर्वाह के चक्कर में पड़ जाते हैं।"¹³

आचार्य द्विवेदी प्रेम-पद्धति के प्रमुख कवि मलिक मुहम्मद जायसी को प्रेम-परायण हृदय का कवि मानते हैं। वे पद्मावती के रूप-वर्णन के प्रसंग में कहते हैं कि— "फिर कवि बराबर परोक्ष की ओर इशारा करता है और इस प्रकार सहृदय का मन प्रस्तुत विषय से हटकर अप्रस्तुत परोक्ष सत्ता की ओर जाता रहता है। इसका फल यह होता है कि अन्यान्य कवियों की इस श्रेणी की अत्युक्तिपों में वस्तु पर दृष्टि निबद्ध होने के कारण जिस प्रकार का हास्यास्पद भाव पाया जाता है, वैसा जायसी में नहीं पाया जाता। इस प्रकार जायसी के सादृश्यमूलक अलंकार सौन्दर्य के सृष्टिव्यापी प्रभाव को और हादिक संवेदना को प्रकट करने में समर्थ हुए हैं।"¹⁴

आचार्य द्विवेदी रीतिकाल के प्रमुख कवियों पर भी टिप्पणी करते हैं। चिन्तामणि के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि "चिन्तामणि के उदाहरणों में सबसे कवि-हृदय की झलक है। कभी-कभी तो वे सरसता में अपने छोटे भाई मतिराम से होड़ करते हैं। कई रचनाओं में भाषा का अकृत्रिम प्रवाह और भावों का सामञ्जस्य-विन्यास देखने योग्य होता है।"¹⁵ आचार्य द्विवेदी ने भ्रूषण के काव्य में सचाई और ईमानदारी की गद्य पायी— "और कवियों के काव्य-नायक सचमुच ही उम गोरख के अधिकारी नहीं होते जिनके अधिकारी शिवाजी जैसे सच्चे शूर थे। इसलिए भ्रूषण की कविता में सचाई और ईमानदारी की गुगुन्धि आ गयी है।"¹⁶

आचार्य द्विवेदी रीतिकाल का सबसे अधिक लोकप्रिय कवि बिहारीलाल बोलताते हैं। वे बिहारी को 'सजग कलाकार' या 'कन्शम आर्टिस्ट' कहते हैं। "बिहारी उन कवियों में से थे, जिन्हें आजकल 'सजग कलाकार' या 'कन्शम आर्टिस्ट' कहते हैं। एक प्रकार के कवि होने हैं जो भावानुभूति के बाद आविष्ट की-सी अवस्था में काव्य लिख जाते हैं। ऐसे कवि का चेतन मन उस समय निष्क्रिय बना रहता है, किन्तु इसके अचेतन

1 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 387

2 उपरिबत्, पृ० 408

3. उपरिबत्, पृ० 408

4. उपरिबत्, पृ० 427

5 उपरिबत्, पृ० 428

चित्त में जो संस्कार जमे होते हैं, जो अनुभूतियां संचित रहती हैं वे बांध तोड़कर निकल पड़ती हैं। अनुभूत भाव का वेग इन विविध अनुभूतियों में एकसूत्रता स्थापित करता है। ऐसे कवि सचेत कलाकार नहीं होते। वे अपने अवचेतन चित्त में चालित होते हैं। बाह्य वस्तु उनके चित्त में केवल ऐसे आवेगों की सृष्टि करती है जो अनुभूतियों में शृंखला स्थापित करते हैं। किन्तु एक-दूसरे प्रकार के कवि होते हैं जिनका चेतन चित्त आविष्ट नहीं होता। वे शब्दों और उनके अर्थों पर विचार करते रहते हैं, उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द बाह्य जगत् में जिस रूप को अभिव्यक्त करते हैं उसको वे मन-ही-मन समझते रहते हैं और तोलते रहते हैं। शृंगार रस की अभिव्यंजना के समय ऐसे कवि रसोद्दीपन-परक चेट्टाओं की पूरी मूर्ति को ध्यान में रखते हैं। वे प्रिया की शोभा, दीप्ति, कान्ति के साथ-साथ माधुर्य, औदार्य आदि मानस गुणों को भी जब व्यक्त करना चाहते हैं तो उन आंगिक और वाचिक चेट्टाओं का चित्र खींचते हैं, जो तत्तद्गुणों की मानसिक अवस्था की व्यंजना करते हैं। अनेक प्रकार के हावों, हेलाओं, कुट्टमित-मोट्टामितों और अनुभावों की योजना में उनकी काव्य-लक्ष्मी प्रकट होती है। बिहारी इस कला में बड़े पटु हैं।¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आधुनिक युग के आरम्भकर्ता भारतेन्दु के व्यक्तित्व को जीवन-प्राणधारा से युक्त मानते हैं। उनकी दातृत्व-शक्ति की प्रशंसा करते हैं जिसने महान् साहित्यकारों की मण्डली तैयार कर दी। उनकी साहित्यिक विशेषताओं पर विचार करते हुए कहते हैं कि—“उन्होंने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मन्दाकिनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ उसे दरवारीपन से निकालकर लोक जीवन के आमने-सामने खड़ा कर दिया। नाटकों में तो उन्होंने युगान्तर उपस्थित कर दिया।”²

आचार्य द्विवेदी आधुनिक कथाकारों में प्रेमचन्द को विशेष महत्व प्रदान करते हैं। वे कहते हैं कि “प्रेमचन्द गताब्दियों में पददलित, अपमानित और निपेपित कृपकों की आवाज है, पदों में कैद, पद-भ्रम पर साछित और असहाय नारी-जाति की महिमा के अवरदस्त वर्णन से, गरीबों और बेकसों के महत्व के प्रचारक से। अगर आप उत्तर भारत की ममस्त जनता के आचार-विचार; भाषा-भाव, रहन-सहन, भाषा-आकाशा, दुःख-मुश्क और मूस-बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोपड़ियों में लेकर महलों तक, खोपड़े वालों में लेकर धँको तक, गाव से लेकर धारा-समाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ने जा सकता।”³

आचार्य द्विवेदी मैथिलीकरण गुप्त को सच्चे अर्थों में राष्ट्र-कवि मानते हैं। उनके काव्य के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि “सब मिलाकर मैथिलीकरण गुप्त ने सम्पूर्ण भारतीय पारिवारिक वानावरण में उदात्त चरित्रों का निर्माण किया है। उनके काव्य मूल में अत

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 438

2. उपरिबन्ध, पृ० 474

3. उपरिबन्ध, पृ० 496

तक प्रेरणा देने वाले काव्य है। उनमें व्यक्तित्व का स्वतः समुचित उच्छ्वास नहीं है, पारिवारिक व्यक्तित्व का और संयत जीवन का विलास है। मैथिलीशरण गुप्त ने लगभग आधी शताब्दी तक हिन्दी भाषी जनता को निरन्तर प्रेरणा दी।¹

आचार्य द्विवेदी पत के काव्य के विकास के तीनों चरणों पर अपना मत प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि "मनुष्य के कोमल स्वभाव, बालिका के अकृत्रिम प्रीतिस्निग्ध हृदय और प्रकृति के विराट् और विपुल रूपों में अन्तर्निहित शोभा वा ऐसा हृदयहारी चित्रण उन दिनों अन्द्यत्र नहीं देखा गया।" इस दूसरे उत्थान में भी पत में कोमल भावों, मोहन चास्ताओं के प्रति मोह है। "तीसरे उत्थान में उनकी कविता गैरिकधारिणी सन्ध्यासिनी के समान शान्त और उदात्त विचारों की गभीरता और पवित्रता से सज्जित है। उनमें कल्पना की रंगीनी भी नहीं है, आवेगों की चंचलता भी नहीं है, पुनःपुनः और औत्सुक्य-भरी जिज्ञासा भी नहीं है, किन्तु उसमें सांस्कृतिक उत्थान का आशा-भरा संदेश है।"²

आचार्य द्विवेदी सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' को आरम्भ से ही 'विद्रोही कवि' की सजा प्रदान करते हैं। उनके काव्य में उन्हें व्यक्तित्व की सुन्दर अभिव्यक्ति दिखायी पड़ती है। वे निराला की प्रतिभा बहुमुखी मानते हैं। आचार्य द्विवेदी आगे कहते हैं कि "उनकी आरम्भिक कविताओं में ही उनकी स्वच्छन्दतावादी प्रकृति पूरे वेग पर मिलती है। पंचवटी प्रसंग में गतानुगतिक ढंग से राम-कथा को नहीं चित्रित किया है। शूर्पणखा हा, शायद एकदम नये ढंग से नारी के रूप में उपस्थित की गयी है, किन्ती भीभत्स राक्षसी के रूप में नहीं। सच पूछा जाये तो निराला से बढ़कर स्वच्छन्दतावादी कवि हिन्दी में कोई नहीं है। 'परिमल' की जिन रचनाओं में वस्तुव्यञ्जना की ओर कवि का ध्यान है, उनमें उनका व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं हुआ, किन्तु 'तुम और मैं', 'जूही की कली' जैसी कविताओं में उनकी कल्पना उनके आवेगों के साथ होड़ करती है। यही कारण है कि वे कविताएँ बहुत लोकप्रिय हुई हैं। बड़े कथात्मक प्रयोगों में निराला जी को अधिक सफलता मिली है। वे पत की तरह अत्यधिक व्यक्तितावादी कवि नहीं हैं। बड़े आध्यानों—जैसे काव्य-विषय में उन्हें वस्तु व्यञ्जना का भी अवसर मिलता है और कल्पना के पक्ष पसारने का भी मौका मिल जाता है। इसीलिए उनमें निराला अधिक सफल हुए हैं। 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा' और 'सरोजस्मृति' जैसी कविताएँ उनकी सर्वोत्तम कृतियाँ हैं।"³

आचार्य द्विवेदी ने जयशंकर प्रसाद के आरम्भिक काव्य में एक प्रकार की मोहकता और मादकता से भरी आमिष को देखा। प्रसाद के काव्य में उन्हें एक प्रकार की

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 501

2. उपरिबत्, पृ० 514

3. उपरिबत्, पृ० 516

का सयत व्यक्तित्व स्पष्ट हुआ है। इसमें घकियाकर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति नहीं है बल्कि चुपचाप सबके बाद धीरे से अज्ञात रहकर आगे बढ़ जाने का भाव है। झरना तक की रचनाओं में यही सलज्ज भाव रहता है। 'आंसू' में कवि अपने भावों को अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त करने लगता है, पर अवगुण्ठन वहा भी है। 'प्रसाद' प्रकृति के और मनुष्य के सौन्दर्य को पूर्ण रूप से उपभोग्य बनाने वाले कवि हैं। शुरू-शुरू में जब वह बौद्धदर्शन के दुखवाद में प्रभावित जान पड़ते हैं, तब भी ससार की रूप-माधुरी का छरकर पान करने के संबंध में उनके मन में कोई दुविधा का भाव नहीं है। वे इस बात को स्पष्ट और दो टूक भाषा में नहीं कह पाते, क्योंकि तब तक उन्हें वह तत्ववाद नहीं मिल सका था जो वैराग्य और कृच्छाचार में नहीं, बल्कि सब प्रकार के सामरस्य में ही मनुष्य की परम शानि में विश्वास करता है।¹

आचार्य द्विवेदी महादेवी वर्मा के काव्य को प्रसाद के समान ही मानते हैं और महादेवी पर टिप्पणी करते समय अनापाम ही दोनों में समानताएँ देखते हुए तुलना कर जाते हैं। वे कहते हैं कि, "महादेवी वर्मा की कविताओं में प्रसाद की भाँति ही एक प्रकार का सकोच है। ये भी प्रतीकों के माध्यम से और सतर्क लाक्षणिकता के सहारे अपने भावावेगों को दवाती हैं। लाक्षणिक बक्रता और मनोवृत्तियों की मूर्त योजना में ये प्रसाद के समान ही हैं फिर भी प्रसाद की बक्रता में जितनी स्पष्टता है उतनी भी इनकी आरम्भिक रचनाओं में नहीं है। दोनों के मानसिक गठन और वक्तव्य के प्रति पटुच में भेद है। प्रसाद जी आरम्भ से ही कुछ बुद्धि-वृत्तिक हैं, वे रूपक को दूर तक घसीट और सम्भालकर ले जाने की क्षमता रखते हैं। महादेवी शुरू से ही अत्यधिक संवेदनशील हैं, उनमें अनुभूति की तीव्रता 'प्रसाद' में अधिक है। इसीलिए वे 'प्रसाद' के समान लम्बे रूपों का निर्वाह नहीं कर पाती। वे पूर्ण रूप से गीतिकाव्यात्मक प्रकृति की हैं।"²

आचार्य द्विवेदी रामधारी सिंह 'दिनकर' को भगवती चरण वर्मा और बप्पन की तुलना में भिन्न श्रेणी का कवि मानते हैं। वे कहते हैं कि 'दिनकर' की उमंग और मस्ती में सामाजिक मंगलाशांता का प्राधान्य है। 'हुंकार' में कवि सामाजिक विषमताओं में बुरी तरह आहत है। "रमबन्ती" में कवि इस विषय में कुछ कम मुखर है, वह सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है, परन्तु उसके चित्त में शान्ति नहीं है। वह समाज की चिन्ता छोड़ नहीं पाता। इन द्विविध वृत्तियों के मध्य में 'दिनकर' के काव्य में यह प्रवाह उत्पन्न हुआ है जो अन्य कवियों में नहीं मिलता। "शुरूक्षेत्र" में उनकी सामाजिक चेतना की बहुमुखी अभिव्यक्ति हुई है। 'दिनकर' अपने ढंग के अकेले हिन्दी कवि हैं। जीवन और जीवन उन्हें आकृष्ट करने हैं, मौखिक के मोहन मगोत उसे मुग्ध करते हैं, पर वे इनमें अभिभूत नहीं होते हैं।³

द्विवेदी जी ने अज्ञेय को क्याकार के रूप में ही देखा है।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० 518

2. उपरिक्त पृ० 520

वस्तुतः आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने साहित्यसिद्धांत में उन्हीं कवियों पर टिप्पणी प्रस्तुत की है जो मा तो लोक-विद्युत हैं अथवा उनके साहित्य सिद्धान्त पर खरे उतरते हैं। मानवतावाद, लोक-तत्त्व के साध-साध रसात्मक बोध होना अनिवार्य है। कबीर, मूरदास, तुलसीदास, बिहारी और प्रेमचन्द पर उन्होंने हृदय के रस में कलम डुबोकर लिखा है। जिसका कारण इन कवियों का उत्कृष्ट ही होना है। इस बात का प्रमाण यह है कि मैथिलीशरण गुप्त को तुलसीदास की परम्परा का कवि मानते हुए भी वे कहते हैं कि "मानवतावादी दृष्टि उनमें भी है। यही कारण है कि वे तुलसीदास की जाति के होकर भी उसी श्रेणी का भक्ति-काव्य नहीं लिख सके। उनकी दृष्टि परलोक में नहीं, इस लोक में निबद्ध है। फिर स्वभाव में ही उनको साधकावस्था के चित्रण में रस मिलता है। उनके सभी श्रेष्ठ पात्र—उमिला, यशोधरा, राधिका, लक्ष्मण—साधक हैं। तुलसीदास जो सिद्धावस्था के प्रेमी हैं।"¹ इस प्रकार यह निष्कर्ष उचित ही है कि कवियों के सम्बन्ध में प्रस्तुत टिप्पणियां उनके साहित्य-सिद्धान्त के अनुरूप हैं।

अन्य विधाओं में लालित्य-विधान

आचार्य द्विवेदी का काव्य

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हृदय से कवि थे, इसलिये उन्होंने कुछ कविताओं की रचना भी की। वस्तुतः उन्होंने गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर के आदेश पर कविता लिखना बन्द कर दिया था, इसलिए हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली के प्रकाशन से पूर्व जो उनकी मृत्यु के पश्चात् ही प्रकाशित हुई, हिन्दी-जगत् को उनकी कविताओं का परिचय नहीं मिल सका। उनकी अधिकांश कविताएं मुक्तक के रूप में हैं। 'आत्मा की ओर से' शीर्षक कविता में प्लासी के युद्ध में लेकर अवध की बेगमों के साथ किये गए अत्याचार तक की कथा का वर्णन किया गया है और द्विवेदी के कवि-हृदय की सुन्दर अभिव्यक्ति हो सकी है। इससे स्पष्ट ही यह निष्कर्ष निकलता है कि द्विवेदी जी ने यदि सतत् काव्य-साधना की होती तो वे निश्चित ही उपन्यासों के समान ही सुन्दर प्रबन्ध-काव्य रचने में समर्थ होते।

आचार्य द्विवेदी के काव्य-संकलन में विविधता के दर्शन होते हैं। उन्होंने खड़ी बोली और ब्रजभाषा में तो काव्य की रचना की ही है, ससृत और अपभ्रंश में भी काव्य-रचना करने में समर्थ थे। सस्कृत की तीन कविताएं, "हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-11" में संकलित की गयी हैं और अपभ्रंश की कविताओं के सन्दर्भ में स्वयं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने व्योमकेश आर्य की नाम में 'पुनर्नवा' पर जो पत्रात्मक समीक्षा लिखा, उसमें कहा है कि: "लेकिन प्रतिवर्ष में तो आपने अपभ्रंश के दोहे और पद भी गढ़कर चला दिये हैं। आप और लोगो को चाहे धर्म में डाल दें परन्तु मुझमें आपका कुछ भी छिपा नहीं है।"¹

काव्य में भावगत लालित्य

आचार्य द्विवेदी भावगत लालित्य के लिए रगात्मकता को महत्वपूर्ण मानते हैं।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11 पृ. 476

हिन्दी की ब्रजभाषा काव्यधारा में श्रीकृष्ण सीला की कल्लोल करती लहरो में द्विवेदी जी ने जो डूबकिया लगायीं उससे उसका हृदय इतना स्वच्छ और निर्मल हो गया कि वह स्वयं ही काव्यमय हो उठा। यही कारण है कि उन्हें रास-श्रीड़ा में विलास देखने वाले समीक्षकों पर दया ही आती है और वे कृष्ण से ही पुकार करने लगते हैं कि वे उन्हें भी अपने अनुराग का अंश दें। यह प्रार्थना, यह पुकार कितनी करणामय है, कल्याणप्रद है। वे विरोधी का कोई बुरा नहीं चाहते, उसे प्रेम के सरोवर में डूबोकर वही आनन्द प्रदान कराना चाहते हैं जो उनका निष्ठावान् हृदय पाता है—

“जिनकी अंखिया में ब्रज सुन्दरी तें सुमोहिनी-मूरति फीकी लगी ।
जिन कीरति को कल केलि कला तेरी स्याम सला की न नीकी लगी ।
जिनकी वा कसाइन लोहे की लेखनि में न विभा विरही की लगी ।
परो पाय सला तिनकी अंखिया रज नेकु तेरी पनही की लगी ।

जिन मोपी-गुपान की रास कला में विलास की वास बनाया करै ।
जिन बांसुरी के सुर में न कहू रस की सरिता सख पाया करै ।
जिन राधिका रानी की बानी सलोनी में गन्दगी गान दिखाया करै ।
ब्रज लाडिलेजू के सनेह परे तिनकी अंखिया कसआया करै।”¹

आचार्य द्विवेदी यहाँ भक्त का समर्पण भाव लिये हुए अपने उपास्य देव श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हैं कि जिन्हें श्रीकृष्ण की गससीला में विलास ही दृष्टिगोचर होता है, बांसुरी के स्वर में रस की सरिता नहीं दिखाई पड़ती, जिन्हें राधारानी की सलोनी बानी में गन्दे गान दिखायी पड़ते हैं, उनके नेत्र कृष्ण के स्नेह पड़ जाने से ‘कसआया करै’। यथा अधिशाप है जो बरदान बनने के लिए बाध्य है। वे उन हीनों को सरसता प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं। कितना महान् हृदय है—कवि का हृदय !

“जिन रावरे मांकरे ताल की नेह में मोपी विलासिता पावते हैं ।
जिन प्रेम भिखारिन की कविता की चुईल की बेसी बतावते हैं ।
जिन वा ब्रज बानी सुधारस भानी में गाली कीनाली बहावते हैं ।
ब्रज सुन्दरि रावरे पाए परी कहो कैसे कृपा-कन पावते हैं ।

ए ब्रजचन्द निहारी करी रसहीननि की सरसाओ न जी ।
फिरते पै विलासिता को चसमा इन पै कफना बरसाओ न जी ।
ब्रजरानी की बानी बिगारते ए टूक प्रेम-कथा परसाओ न जी ।
पर हा-हा बिचारै गरीबनि को तरसाओ न जी तरसाओ न जी।”²

भला, उस कृष्ण में कैसे बचा जा सकता है। उसके प्रेम-रस से बचने के लिए

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 57

2. उपरिबत्, पृ० 58

गोपी आख तरेर ले, पर एक बार कान्ह की मुस्कान की फांस लग गई तो फिर बचना कहा रहा। नन्दलाल को आगे खड़ा देखकर गोपी मार्ग बदल लेती है, बचने के लिए कुज में जा छिपती है, पर वह सावरो वहा भी जाकर घेर लेता है, गोपी उस अनुपम रूप वाले कृष्ण पर आख भी तरेरती है, पर क्या करे विवशता है—कृष्ण की मुस्कान—

“आगे खरो सखिनन्द को लाल हमने सखि पैड तजेरी।
कुज न ओट घली सचुपाइ उपाइ लगाइ तहौ तिन घेरी।
मैं निदरे सखि ! रूप अनूपन कान्हूर हू पर आखि तरेरी।
पै परी फास अरी मुसुकानि की प्रान बचाइ न लाख बचेरी।”¹

तो भला, ब्रजभाषा-काव्य हो, कृष्ण का नेह हो और अबीर की बातें न हो, यह कैसे सम्भव है। सारा रीतिकाल इस अबीर के रग में रगा पड़ा है। सूर ने भी ‘होरी’ पर अबीर की होरी को उलटवाया है तो द्विवेदी जी भला कैसे रह सकने थे। गुलाबी कपोलों पर अबीर तो झर गया, पर कुछ जादूगरी ऐसी है, उस स्वाम की कि रसीले लाल और रसीली लली की रसरासि से आखें ही भर गयी हैं—

“भीर अभीरन की भई भीर तहा सखि। मोहन मोह गयो भरि।
मंजु गुलाबी मुठी को गुलाल गुलाबी कपोलन पै त्यो गयो झरि।
कैसे कहूं सुखमा सजनी, कछु जादूगरी है बसी यहीं कियो हरि।
लाल रसीले रसीली लली रसरासि से भीसि नये अंखिया करि।”²

अपनी जीर्ण-जीर्ण पुरानी नौका के डूबने की आशंका भक्त के मन में सदैव ही रहती है। द्विवेदी जी का कवि-हृदय भी इस डूबती नौका को देखकर पुकार लगाने लगता है। उगकी रसा नन्द का लाल, गोपियो का ‘लला’ ही कर सकता है। यह ससार की नदी इतनी भयानक है कि उसमें सपं और घड़ियाल भी हैं, नाव के एक बार डूबने पर बचने की कोई आशा नहीं हो सकती, इसलिए ‘लला’ ही बचा सकते हैं—

“वह देखो कराल है ब्याल महा फुफकारत है सहरी सहरी,
वह डूबा अभी घड़ियाल भयानक, तुंग तरंग बनी गहरी।
अब डूबी—कहा तक जाय टिकी यह हाथ पुरातन ही ठहरी,
अब बेगि बचाओ, बचाओ सत्ता ! न पुकार सुने गहरी सहरी।”³

द्विवेदी जी ने विरह-ज्वाला को ‘विधवा’ की व्यथा से व्यंजित किया है। विरहिणी को एक आग, एक विश्वास तो होता है कि प्रियतम के दर्शन कभी तो हो सकने हैं किन्तु विधवा की व्यथा तो ऐसी है कि वह भिट ही नहीं सकती। इन निष्ठुर जगत् में वह कर

1. हमारी प्रगाढ़ द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 54

2. उपरिबन्, पृ० 53

3. उपरिबन्, पृ० 60

ही क्या सकती है? उसके नेत्र गुहागरात को जो हसे थे तो बग हस कर रह लिये, अब उसके नेत्रों में हसी कहा? प्रीति के कारण उस प्रियतम के हाथ में फंस गयी तो फंस ही गयी, सग-मुख को समझे बिना ही उमगपूर्वक उसके स्नेह में धंस गयी तो धंस गयी, नागिन के समान विछोह विद्या ने अन्ततः उसे डस ही लिया, अब हम मुहाग को क्या समझें, इस भाग में आग ही लग गई है, हमारे हाथ तो दुख ही लगा है, मुख की रात तो पली ही गई, इस 'जोवन' को मरोर कर रात-दिन व्यथा ही हमारे पास रह गयी है, अपमान की कठोरता और घोर व्यथा रूपी यम प्राण के पीछे ही लग गया है—

“वे अटिया सखि या जग बीच मुहाग की रात हसी सो हसी,
प्रीतम प्रीति के आगरा में निमोही के हाथ फगी सो फसी।
जाने बिना मुख सग उमग सनेह के बीच धंसी सो धंसी,
नागिनि लीं ये विछोह विद्या या अभागिन को जो डसी सो डसी।

हम जाने मुहाग कहा सजनी यहि भांग में आग लगी सो लगी,
दुख ही दुख हाथ हमारे लायो रजनी मुख की जो भगी सो भगी।
यह जोवन जोर मरोर विद्या निरसि घीस के हेतु लगी सो लगी,
अपमान कठोरता घोर विद्या यम प्राण के पीछे लगी सो लगी।

परमात्मा के प्रति आसन्नित का भाव, हृदय की आस्था और प्रीति का चित्रण खड़ी बोली काव्य में भी हुआ है। जगत् पिता ही इस नौरा को सम्भाल सकता है। कवि एक रूपक बांधकर कहता है कि मन की वेगवती धारा में यह बुद्धि रूपी पतवार इस जीवन-नौरा को पार करने में असमर्थ है क्योंकि पाल फटा हुआ है, नाव में छिद्र है और वह अत्यन्त जर्जर है—

“पाल हमारा फटा-चिटा-सा छिद्रपूर्ण जर्जर अतिशय।
मानो मेरी शक्ति-सुन्दरी का करता है मूढ अभिनय।
है पतवार बुद्धि-सा छोटा, मन-सी वेगवती सरिता।
तू ही आज सम्हाल, नहीं तो डूबेगी हे जगत्-पिता।”¹

द्विवेदी जी की आस्था सगुण के प्रति और वह भी कृष्ण के प्रति है। वे निर्गुणोपासना को प्रमित मानते हैं। माया कही नष्ट सकती है। निर्गुणोपासना में अहंकार ही है। कृष्ण का मधुर रूप देखकर भी भूल जाता है, कैसा जगत् है। कवि इसीलिए कहता है कि—

“श्याम गौर रसलीन नहीं, मुरली मुरलीन न भाया रे,
त्रिगुण रहित के गुण में फंसकर अनमिल काल गंवाया रे,
भाया रे—दुनिया में न समाया रे।”²

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 27

2. उपरिखत्, पृ० 32

प्रेम का कवि वियोग का चित्रण करता ही है। कवि को अपनी प्रिया की स्मृति आती है, किमलय के समान कोमल रक्तिम आभा वाले हाथ याद आते हैं, नेत्र अश्रु वर्षा करते हैं—

“इधर झरता है मधुर प्रपन्न
सखि, वे तेरे किसलय-कोमल लाल-लाल-से हाथ
आह, तरसती हैं ये आँखें झरती हैं बरमात
और शुभ्र शेषालिका सुमन नाल पिगन्धित गात
इदुर गौर, गोल, सोलुप लालसा लसित भुज देश !
कलित कलाई की स्मृति से है जाग रहा रम शेष ।”¹

कवि कली को चेतावनी देता है कि ये भीरे स्वारथी हैं जो उसे मसलकर छोड़ जाएंगे। वे कहते हैं कि उसका वास्तविक प्रिय तो पवन ही है—

“अरे यह कैसा अस्हृष्यन !
मसली जाकर भी अघि सखि, तू लुटा रही तन-धन !
रमिया ये मतलब की यारी वाले हैं अलि मन !
छिन भर माद करेंगे सजनी और-और निज मन !
हितु तुम्हारा सच्चा जग में यह मूढु मलय पवन !
बिना बताये तेरे यश को फैलाता बन-बन !
मधुमालि के, ध्रमर केवल हैं क्षण भर के परिजन !
भोली पर निरपेक्ष कि तेरा प्रणयी मलय पवन !”²

आचार्य द्विवेदी की ‘आत्मा की ओर में’ में मुनिदाबाद की सदमी पर लिखी गयी कविता है। कविता में प्लासी की लड़ाई, बक्सर का युद्ध तथा अबध की बंगमों को सूटने की ऐतिहासिक घटनाओं के माध्यम में करण रस की अभिव्यक्ति की गयी है। ये घटनाएं भारत में अवेजी राग्य की स्थापना की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाएं हैं। काव्य का आरम्भ धीमे-धीमे रूपी युवती के बचन से होता है—

“उठता हुआ अभी यौवन था मदमाती थी आँखें,
परिषों की रानी-नी में उड़ती थी ते चित्रित पार्थे,
नगा ! रूप का नशा अहा वह भी वितना मतवाला था।
वहाँ घबर थी वह नि जमाना पलटा जाने वाला था।
इन लड़कों पर स्पर्शासि का पुन-पुनः अभिचार,
शां-शांत से ही मग्नि ही करता था गुजार,
ति त्रिगर्भी एव-एक संकार हृदय में अब भी है साधार ।”³

1. ह्यारी प्रगाद द्विवेदी सम्पादनी-11, पृ० 24
2. उपरिबन्, पृ० 30
3. उपरिबन्, पृ० 33

अवध की वेगमो के सूटे जाने का चित्रण मन में अग्नेजो और मीर जाफरो के प्रति वितृष्णा और जुगुप्सा उत्पन्न करता है। सहृदय के हृदय में करुणा भर देता है—

“देना था इनाम दुश्मन को नरक कीट वे दीडे ।
आह, मृणाल नालो पर पढ़ने सगे कि बख हयौडे ।
जेवर छीना गया वेगमो का नरपशु के कर मे
कुमुम कलाई कामिनियों के क्रूर वृको से पर से ।
कटा रसाल, गिरी मालतिया मुरझा कर सुख भूस
तोडे गये कुचलकर निर्ममता से मुन्दर फूल ।
कि उनका रोना हो बेजार,
हृदय में अब भी है साकार ।”¹

आचार्य द्विवेदी करुणा की स्याप्ति के उद्देश्य से वर्तमान की ओर संकेत करते हैं। अग्नेजो ने छल-कपट का प्रयोग करके ही मुनिदावाद पर अपना अधिकार किया था। वे चेतावनी के स्वर में ही कहते हैं कि—

“प्रलय घटा की घहरात है या कि चण्ड साण्डव की रोर ।
बख टूटता है कि गगन फटता कर भीषण शोर ।
अरे किरंगी, रख दे टूक प्याले को कर किलकारी बन्द,
देख दुखी मुझको हसता है जो अविजित स्वच्छन्द ।
ए असीत, लख एक बार आ वर्तमान की चाल
इस उन्मत्त हसी में अपनी मादक नजरें डाल
कि जिगकी एक-एक किलकार
हृदय में अब भी है साकार ।”²

शब्दगत साहित्य

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भाषा में साहित्य उत्पन्न करने के लिए शब्द को माध्यम बनाते हैं। वे भाषा के अनुरूप ही शब्द का प्रयोग करते हैं। करुणा का भाव उत्पन्न करते समय वे निबन्धों के समान ही ‘हा-हा’ की रट लगा देते हैं। ‘आत्मा की ओर से’ में उन्होंने ऐसा ही किया है—

“हा भषकमुख, हा अतृप्त मुख, हा-हा कुन्तल प्यास ।
हा सरोज पद, हा मनोज पद, हा-हा तनु अभिराम ॥
हा कोमल कर, हा मोहन बर, हा-हा मधुकर नैन ।
हा उज्ज्वल सत, हा कठोर व्रत, हा-हा मृदुवर वैन ॥

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 35

2. उपरिवत्, पृ० 36-37

हा कंटक वृत्त सुमन पत्र, हा मार्दव वृत्त कठोर ।
अहे कृपणता वृत्त उदारते, प्रेमावृत्त वृत्त चोर ॥
कि कल्पना का तब साक्षात्कार ।
हृदय में अब भी है साकार ॥”¹

वे कही संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं और कही अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का। उपर्युक्त उद्धरण में ‘कण्टक’, ‘वृत्त’, ‘मार्दव’, ‘कृपणता’, आदि संस्कृत के तत्सम शब्द हैं। नवाब के संदर्भ में जब वे एक पंक्ति लिखते हैं तो उनकी शब्दावली दृष्टव्य होती है, “किया तसब नूतन नवाब ने गीत, शराब विलास !”² यहाँ ‘तसब’, ‘शराब’ अरबी-फारसी के प्रचलित शब्द हैं।

ब्रजभाषा की प्रकृति में पद-लालित्य मध्यकाल से ही चला आ रहा है। द्विवेदी जी उम पद-लालित्य को प्रस्तुत करने में मफल रहे हैं। निम्न उद्धरण में पद-लालित्य के स्पष्ट दसांन होते हैं—

“फोके पडे हैं गुलाब जहां तहा कौन गुलाल की बात करैगो ?
देखि कुरंग बिरंग बने जिन्हें तग ढिग रग कहा ठहरैगो ?
साल ! गुलाल सन्हारते क्या सखि बाल कपोल को धीर धरैगो ?
वीर अवीर जो डालि हैं सोऊ अ-बीर बने हिय-पीर परैगो ?”³

यहाँ ‘जहां-तहा’, ‘कुरंग बि-रंग’, ‘रग’, ‘लाल गुलाल’, ‘बाल’, ‘वीर अवीर’, ‘अ-बीर’, ‘हिय-पीर’ में पद-मैत्री का रूप स्पष्ट है। रीतिकालीन कवि सेनापति के आधार पर उन्होंने ‘भारत में काल है कि बगरो बसन्त है’ में सन्देह अलंकार के द्वारा जिस भाव को व्यक्त किया है, वह ‘पीत’ शब्द के द्वारा ही अभिव्यक्त हो सका है—

“मुख पीत, आंख पीत, देह को रक्त पीत,
पीत रग में ही पुते लोग हां बसन्त है ।
तरुन की पात पीत, तरुनन की गात पीत,
पीत-मुख सोभा तरुनन की लसन्त है ।
पीत-शाति कृपक, सुपीत रक्त घेनुवृष,
पीत ऋद्धि देश विपरीत बिलसन्त है ।
पीत धुजाले के पीतता कौ सह देके कहो,
भारत में काल है कि बगरो बसन्त है ।”⁴

इसी प्रकार द्विवेदी जी ने दोहो में भी शब्द-लालित्य का प्रस्तुतीकरण किया है। कृष्ण की जयकार करते समय ‘मधु’ शब्द का प्रयोग चमत्कारिक है—

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी शब्दावली-11, पृ० 37
2. उपरिचत्, पृ० 36
3. उपरिचत्, पृ० 53
4. उपरिचत्, पृ० 53

“मधुर अधर मुरली मधुर, मधुर माधुरी रीत ।
मधुरिपु मधुसम मधुसखा, जय माधव मधु मोन ।”¹

द्विवेदी जी इसी प्रकार ‘मनमथ’ और ‘मयनकर’ शब्दों के प्रयोग द्वारा चमत्कार सृष्टि करते हैं। वे कहते हैं कि—

“क्य सों सहि है हृदय धन ! तेरो विषम विछोह !
मन मनमथ—मन—मयनकर, मोहन तेरी टोह ।”²

लक्षणा और व्यंजना के द्वारा उत्पन्न साहित्य-विधान

काव्य का उत्कर्ष साक्षणिक शब्दावली के द्वारा ही आता है। कवि अर्थात्कारों के प्रयोग द्वारा साक्षणिकता की उत्पत्ति करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी साक्षणिक शब्दावली का प्रयोग किया है। रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा उनके प्रिय अलंकार हैं। द्विवेदी जी ने प्राचीन उपमानों के साथ-साथ एकदम नवीन उपमान भी प्रस्तुत किये हैं। ‘रेल इजन की सीटी’, ‘विजती के समान’ और ‘मधुमच्छिका-सी’ ये उपमान नये और पुराने का सम्मिश्रण ही हैं—

“एक पिचकारी लै बनारसी गुलाल जल-मत्र कौ परीली निवाध विछुरै परी ।
एक किलकारती सिटी लौ रेल इजन की कुकुम के पुज नवधूम लै धरै परी ।
एक हसि हारी एक तन-मन वारी बिनु दाम की बिकानी एक बिज्जु-सी बरै परी
नद के लडैते वै उमकि क्षुकि क्षुमि-क्षुमि मधुमच्छिका-सी एकबारगी टरै परी ।”³

इसी प्रकार रेडियो को उपमान बनाकर नवीन उपमान प्रस्तुत करते हैं और ‘काजर की पूतरी’, ‘कवूतरी सी’ तथा ‘समुद्र में पोत का डूबना’ आदि प्राचीन उपमान हैं, यथा—

“नद के दुसारे चकचके से थके से खरे मानो कोऊ रेडियो विलोक्यो
गाव वारो है ।
काजर की पूतरी कवूतरी-सी आविन सी मुल्हकि मुल्हकि ताकै
रग को बनाये है ।
छूटि गयी मुरली लकुट कहू छूटि गयी पीत पट तनु वै गुलाल
साल धारो है ।
डूबिगौ गचाक सों मजाक के मजाक मे यथा समुद्र मध्य
कोऊ पोत गोह वारो है ।”⁴

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 54

2. उपरिवत्, पृ० 54

3. उपरिवत्, पृ० 55

4. उपरिवत्, पृ० 55

आचार्य द्विवेदी को उपमा अलंकार कुछ विशेष ही प्रिय है। यहाँ भी कालिदास का प्रभाव ही प्रतीत होता है। कभी-कभी तो प्रत्येक पंक्ति में उपमा अलंकार का ही चमत्कार होता है—

“शोपिया नवेली बरसाने की हवेली से पि—
 पीलिका की रँली जैसी कढती चली गयी।
 रूप खलियान जैमी ब्रज गलियान तँसी
 नोटिसी नीलाम—पँ—सी चढती चली गयी।
 मृग छालनि सो कुकुम गुसालनि सो
 डोलक सो ब्रज भूमि मडती चली गयी।
 राधा श्लेरियन काल मुनि ग्वाल भाल माल
 ग्रँड ट्रक रोड जैसी बढती चली गयी।”¹

रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग भी चमत्कारिक है। उत्प्रेक्षा की दृष्टि से निम्न उद्धरण विशेष महत्वपूर्ण है। नवीन और प्राचीन उपमानों का समन्वय भी है—

“गाल लाल भाल लाल नव वनभाल लाल,
 लास रंग ही को चहु ओर भयी मेला है।
 किचन रसोई जैसे दाल-भात झोल झाल
 भावे घाटे चहु ओर आमू ही को ठेला है।
 माप बग्यो कहूँ, कहूँ मोर कहूँ सिंह बँल,
 भीत भई ऐसी मानो शंभु को तबेला है।
 अस्त्रहीन शस्त्रहीन शत्रुहीन दीन-छीन
 मनो चत्रव्यूह में महारथी अकेला है।”²

आचार्य द्विवेदी की व्यञ्जना भी बड़ी सशक्त है। एक कविता में (क्योंकि उसमें कविता-संख्या 26 तो दी गयी है किन्तु कोई शीर्षक नहीं दिया गया।) आचार्य द्विवेदी सडक के माध्यम से अपने बन्धु की व्यञ्जना करते हैं। जिजीविषा के कारण ककड़ो वाली सडक पर चलना उनकी मजबूरी है किन्तु दूर का व्यक्ति उन्हें इसीलिए प्राणवन्त और महान् समझता है। ककड़ और कण्टकों पर चलने के कष्ट को कवि ही समझता है, इसी-लिए वह रौंदकर एक गुन्दर मार्ग बनाना चाहता है जिस पर जिजीविषा से युक्त अन्य मानव चल सकें। उस कविता को पूरा का पूरा ही उद्धरित किया जाता है जिसमें उसकी व्यञ्जना को समझा जा सके—

“मार्ग गुन्दर बहून है।
 गाड़िया, घोड़े, पदातिक सभी के उपयुक्त।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी धन्यावली-11, पृ० 57
2. उपरिबन्, पृ० 56

मुना है उसको पकड़कर चल मके कोई,
 पहुँचता लक्ष्य तक निर्भ्रान्त ।
 जानता हूँ, मानता हूँ
 लक्ष्य तक निर्भ्रान्त जाना चाहता हूँ ।
 सड़क पक्की और छायादार यह है ।
 किन्तु मैं मजबूर हूँ ।
 कंकड़ों में, कण्टको में
 दूर जगल में—
 भटकना है बदा ।
 नहीं तो जी नहीं सकता ।
 इस तरफ कोई न चलता यान,
 है कोई न देता ध्यान ।
 मैं भटकता बड़ रहा हूँ
 लक्ष्य से अनजान ।
 सोचता हूँ क्या यही है लक्ष्य जीवन का
 जीते जाव
 पीते जाव
 अपने लोभ को ही ।
 दूर वाले समझते हैं भादमी यह प्राणबन्त महान्
 कंकड़ों पर चल रहा है,
 कण्टको को दल रहा है,
 किन्तु मैं हूँ जानता इस रास्ते की मार
 और मैं हूँ जानता पक्की सड़क के
 नहीं पाने का भयकर भाव ।
 सोचता हूँ रौंदकर क्या एक
 बन सकता न सुन्दर मार्ग ?
 जिसे जीने की सलक वाले
 करें उपयोग ।”¹

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की काव्य भाषा में अत्यधिक वैविध्य मिलता है ।
 उसमें जितनी लौकिकता है उतनी ही शास्त्रीयता जिसके कारण उसमें एक लचीलापन
 आ गया है । वे जितनी सफलतापूर्वक संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं उतनी
 ही सफलतापूर्वक अरबी-फारसी और अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग भी करते हैं । देशज शब्द
 भी उन्हें कम प्रिय नहीं हैं । शब्दों को तोड़ने मरोड़ने में भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं ।
 ‘आत्मा की ओर से’ में वे ब्रिटेन को वीटन कर देते हैं—

“उठी दहल साथ ही दिशाएं सुन बीर वीटन (?) जयकार (उठी) ।”¹

वे सजग कवि हैं इसलिए सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग भी इम प्रकार करते हैं कि अनुभूति सहज हो उठती है। ब्रज भाषा काव्य में अंग्रेजी शब्दों के आधुनिक उपमान तो चमत्कारिक ही हो उठे हैं। उनके काव्य में रीतिकालीन कवियों के समान मादकता नहीं है अपितु निष्ठा का समावेश है, इसी से उनके काव्य में साहित्य-व्यञ्जना सफल हो सकी है।

संस्मरण में साहित्य

“हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-11’ में वैयक्तिक संस्मरण की विधा में दो संस्मरण संकलित हैं—‘भेरी पिटाई’ और ‘विश्वविद्यालय प्रसंग’। वास्तविकता यह है कि ग्रन्थावली के भाग 8 में संकलित ‘शांति निकेतन की स्मृतियाँ’ और ग्रन्थावली के भाग 10 में संकलित ‘निराला केवल छन्द ये’ संस्मरण—विधा के अंतर्गत ही आने चाहिए।

संस्मरण को परिभाषित करते हुए डॉ० रमेश चन्द्र लवामिया ने लिखा है कि “जब किसी व्यक्ति या घटना की स्मृति वर्षों के व्यवधान के पश्चात् भी मस्तिष्क के किसी कोने में अपना स्थान बनाये रखती है तो साहित्यकार उस स्मृति को साहित्योचित रूप में अभिव्यक्ति प्रदान करके संस्मरण विधा की रचना करता है।”² उन्होंने संस्मरण के छः तत्व प्रस्तुत किये हैं—(1) वर्ण्य विषय, (2) पात्र और चरित्र-चित्रण, (3) परिवेश-चित्रण, (4) शैली, (5) स्मृत्याकन तथा (6) उद्देश्य।

(1) वर्ण्य विषय—आचार्य द्विवेदी के संस्मरणों में मानवीय दृष्टिकोण की मूलक स्पष्ट है। उनके वर्ण्य-विषय वैयक्तिक और साहित्यिक हैं। ‘भेरी पिटाई’ में बचपन की एक पिटाई की उन्हें विशेष रूप से स्मृति है। लेखक कहता है कि उसके बचपन में उसे हर गलती पर पिटना पड़ता था। जिस पिटाई की स्मृति को इसमें मंजोया गया है, वह एक विशिष्टता रखती है। उनके अध्यापक पण्डित रामनरेश मिश्र एक आदर्श अध्यापक थे। लेखक कहता है कि मक्का भरने के लिए गांव में रग नहीं मिलने से। अध्यापक महोदय ने एक मुझाब दिया कि “बने के फूल से शिटिम क्षेत्रों को रंगो, मरमों के फूल से या अरहर के फूल से देवी रियामतो को रंगों, तीमों के फूल से ममुद और नदियों को रंगो।”³ सभी छात्रों ने तो बहुत मुन्दर कार्य किया किन्तु लेखक ने नक़्शे में जो गोदगाद की, उसे देखकर अध्यापक ने उनके जान धींच दिये—

“यह कोई बड़ा टण्ड नहीं था, लेकिन मयोग की जान थी कि वह बड़ा टण्ड हो गया। हुआ यह कि उन दिनों गांव की प्रथा के अनुसार मेरे जान छिदवाये गये थे और

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-11, पृ० 34

2. साहित्य विविधा, पृ० 132

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 116

उनमें थोड़ा-थोड़ा दर्द भी था, शायद पकने लगे थे। पंडित जी ने जो कान पकड़कर खींचा और थप्पड़ मारा, तो धाव एकदम फूट गया और खून से उनका हाथ लाल हो गया।¹¹

लेखक खून देखकर अधिक घबरा गया था। दर्द उतना नहीं था। प्रस्तुत सस्मरण की विशेषता यह है कि अध्यापक ने पिटाई इसलिए की थी कि उसे लेखक से आशा थी कि 'वजीफे के इम्तहान' में अच्छे अंक प्राप्त करेगा। यही कारण है कि लेखक 20 वर्ष के बाद जब उन्हीं अध्यापक से मिला तो उन्होंने कहा कि 'तुम बहुत पीटा था, याद है?'¹²

दूसरे सस्मरण 'विश्वविद्यालय-प्रसंग' में आचार्य द्विवेदी ने हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में रैंक्टर पद सम्हालने के पाच महीने बाद की स्थिति का चित्रण किया है। विश्वविद्यालय में बड़े योग्य अध्यापक हैं किन्तु उनमें परस्पर विरोध है। अध्यापकों ने जान-बूझकर विश्वविद्यालय का अहित किया है। रेंगिंग के कारण कुछ अध्यापक पुलिस बुलाने के पक्ष में हैं किन्तु लेखक पुलिस बुलाने के स्थान पर अपने आपको ही उत्सर्ग करने को तैयार होता है। उसका मत है कि वह भीठी बातों से ही सबको सन्तुष्ट करता रहा है किन्तु अब उससे काम नहीं चल सकता। विद्यार्थी आज ज्ञान से अधिक प्रेम का भूखा है किन्तु उसे प्रेम नहीं मिलता, इसलिए वह अध्यापकों के विरुद्ध आरोप लगाता है। लेखक को लगता है कि उसने अध्यापकों का खण्ड-खण्ड ब्यक्तित्व ही देखा है। ऐसे अध्यापक एक ढल—विशेष के सदस्य हैं। लेखक प्रायश्चित्त करना चाहता है (और प्रायश्चित्त का एक ही अर्थ हो सकता है, रैंक्टर के पद से त्यागपत्र दे देना)।

'शांति निकेतन की स्मृतियाँ' में शांति निकेतन में प्रथम बार पहुँचने की स्मृति को प्रस्तुत किया गया है। लेखक को आश्रम की तीन बातें अत्यन्त आकर्षक प्रतीत हुई थी—(1) वातावरण का सगीतमय होना, (2) सहज कलाप्रेम तथा (3) बड़े-बड़े विद्वानों का आगमन होता रहना।

'निराला केवल छन्द थे' में निराला के कई सस्मरण दिये गये हैं। एक बार नागरी प्रचारिणी सभा की एक बैठक पण्डाल में चल रही थी। लगभग 30,000 से भी अधिक लोग उपस्थित थे। बिजली चली गयी तो सभी किकर्तम्भविभूत हो उठे। उसी समय निराला जी ने ऊँचे स्वर में 'राम की शक्ति-धुना' गुनाना आरंभ कर दिया। सभा मन्त्रमुग्ध, स्तब्ध। दूसरा सस्मरण गंगा पार करने सबधी है। लेखक ने तैरने में निराला जी से हार मान ली थी। तीसरे प्रसंग में निराला ने कहा था कि गांधी को कौन मार सकता है? गांधी के शव को मारा गया है और गांधी को बिड़ला मंदिर में बंद कर दिया गया है। 'भारतेन्दु जयन्ती' के समय उन्होंने एक भाषण में अपने आपको भारतेन्दु के खानदान का बताया था। उन्होंने यह भी कहा था कि महारानी बिकटोरिया ने जब स्वेज नहर पर थोड़ा दौड़ाया था तो उन्होंने ही उसकी लगाम पकड़ी थी। इसका अर्थ देते हुए लेखक कहता है कि 'साहित्य में वह अपने को भारतेन्दु के बराबर मानते थे, और

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 116

2. उपरिबद्ध, पृ० 116-117

जागतिक क्षेत्र में महारानी विक्टोरिया से कम नहीं समझते थे।¹

(2) पात्र एवं चरित्र-चित्रण—हजारी प्रसाद द्विवेदी महान पात्रों को ही अपने संस्मरणों में प्रस्तुत करते हैं। 'मिरी पिटाई' में अध्यापक की महानता को प्रस्तुत किया गया है। पिटाई के बाद का चित्रण करते हुए लेखक कहता है कि—

“पण्डित जी मन-ही-मन अपने को दोषी समझ रहे थे, हालांकि घर पर उनका इतना सम्मान था कि सब लोगो ने यही कहा कि उनसे गलती हो गयी। कई दिन बाद जब मैं स्कूल गया तो वे बार-बार मेरा कान देखते रहे और अफगोस करते रहे। इत पटना के बाद उन्होने और भी प्यार से पढ़ाना शुरू किया और फिर मुझे मारा नहीं।”²

'विश्वविद्यालय—प्रसंग' में महान चरित्र के रूप में स्वयं लेखक का चरित्र ही आता है जो विश्वविद्यालय की मर्यादा की रक्षा के लिए स्वयं का उत्सर्ग करता है। छात्रों और अध्यापकों का चरित्र महान् नहीं है। छात्र तो आकर धमकी दे जाते हैं, “आपके ही बीच में पढ़ने से हम चुप हो जाते हैं, नहीं तो ..”³ दूसरी ओर अध्यापक एक दल-विशेष के सदस्य हैं। लेखक कहता है कि—

“आज प्रातःकाल से ही मेरा मन बहुत क्षुब्ध है क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि मेरे कुछ अध्यापक मित्रों ने 'अनजान में' कम और 'जानबूझकर' अधिक ऐसा किया है जो विश्वविद्यालय के हित की दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। वे विद्यार्थियों में कुछ उत्तम चरित्र ले आना चाहते हैं, पर एक दल-विशेष के नाम का आग्रह नहीं छोड़ पाते। उन्होंने जान-बूझकर मुझे अन्धकार में रखा है। ऐसा सोचने को प्रोत्साहन मिलता है। कई बार ऐसा होता है कि मेरे आदेशों को टाल दिया जाता है। कभी-कभी मुझे अपनी लघुता को ममत्ता देना उनका उद्देश्य होता है। मुझे अपनी लघुता का आवश्यकता में कुछ अधिक ही ज्ञान होता है। परन्तु विश्वविद्यालय के दूहतर स्वार्थ को भुलाकर जब केवल मुझे नीचा दिखाना या अपने को अधिक शक्तिशाली दिखाना ही उनका उद्देश्य होता है तो मन क्षुब्ध होता है।”⁴

उपर्युक्त उद्धरण में अध्यापकों द्वारा अपने को शक्तिशाली प्रमाणित करने के लिए रैंक्टर के आदेशों की अवहेलना करने तथा एक दल-विशेष की सदस्यता को प्रमुखता देना अध्यापकों के चरित्र के हीन-बिन्दु हैं।

'निराला केवल छन्द थे' में निराला की मेहमानवाजी का सुन्दर चित्रण किया गया है। लेखक को अपने हाथ से खाना बनाकर खिलाया। निराला की श्याकुलता का बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है—

“एक दफा जब मैं महादेवी के महा पटुंवा तो आप साथ ही थे। पटुंवा ही तीन घूमिया आ गयी। हम लोगो ने यानी एक महादेवीजी ने और एक भिने अपनी-अपनी

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 330
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 116
3. उपरिक्त, पृ० 117
4. उपरिक्त, पृ० 120

बुराई तो ली, किन्तु निरासाजी को कब चैन मिलता था। वह इधर-उधर घूमने लगे। और बार-बार महादेवी के पास जाकर कुछ बुदबुदाकर इधर-उधर जाते। यह स्थिति थी। मैंने देखा तो महादेवी जो मे पूछा, "आधिर ऐसी कौन-सी बात है जिसके लिए बार-बार यह आते हैं और कुछ कहकर सौट जाते हैं?" तो उन्होंने हस दिया और मुस्कराते हुए कहा, 'बह रहे हैं, मेहमान आया है, घातिर अच्छी होनी चाहिए।' और जब तक व्यवस्था नहीं हो गयी, तब तक उनकी ध्यातुलता न मिली।"¹

(3) परिवेश-चित्रण—आचार्य द्विवेदी ने 'विश्वविद्यालय प्रसंग' में विश्व-विद्यालय के परिवेश का सुन्दर चित्रण किया है। विश्वविद्यालय का वातावरण सन्देह का हो गया है। छात्रों की अनेक मार्गें हैं जिन्हें लेखक पूरा नहीं कर सकता। वह नियमों से बंधा है और नियम प्रमुख हैं। लेखक कहता है कि—

"जो आता है, न्याय के नाम पर अपने मतसब की मांग करता है। प्रत्येक के पास युक्तियाँ हैं, दलीलें हैं। हैं नहीं तो केवल यह कि दूसरे के प्रति थोड़ा विश्वास नहीं है। विश्वास का सङ्कट, सन्देह का वातावरण—यही विश्वविद्यालय की मुख्य समस्या है। विद्यार्थी जब अपने अध्यापकों की निन्दा करते हैं, उनके आचरण से लेकर योग्यता तक की पिल्ली उड़ाते हैं, कर्मचारी जब अपने ऊपर पालों की 'घाघ्रलियों' का 'भडाफोड' करते हैं और बदले में 'दूसरे पक्ष' से भी ऐसी ही आरोप-प्रत्यारोप की अध्राध्य उक्तियाँ सुनने को मिलती हैं, तो मिर घूम जाता है। समाज विश्वास पर टिका हुआ है। जब विश्वास की जड़ ही खोखली हो गयी हो तो समाज कैसे चलेगा?"²

'शांति निकेतन की स्मृतियाँ' में जीवन्त परिवेश का चित्रण किया गया है। वहाँ के प्रत्येक वृक्ष का एक इतिहास है। आश्रम में घटा बजने के बारे में लेखक कहता है कि, "उस दिन मुझे अनुभव हुआ कि आश्रम में हर समय घटा बजता रहता है। विद्यार्थी ही मुझे बताने रहे कि किस घण्टे का क्या अर्थ है—कौन-सा घण्टा बजास जाने का है, कौन-सा भोजन या विश्राम का, यह सब आश्रमवासियों को मालूम था। रात को जब सोने का घण्टा बजा और हम लोग सोने लगे। थोड़ी ही देर बाद रास्ते से एक मधुर संगीत-ध्वनि सुनायी पड़ी। पूछने पर मालूम हुआ कि वह रात्रि का वैतालिक है, मैं उत्सुकतावश बाहर आया। देखा. छात्र-छात्राओं का एक दल बड़ा ही उद्बोधक गीत गाता धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है। साथ में वीणा भी बज रही थी। लगभग आध घंटे तक वह दल आश्रम के मुख्य भागों पर उसी प्रकार संगीत-ध्वनि करता हुआ घूमता रहा। फिर वे लोग भी अलग-अलग चले गये। मुझे बताया गया कि प्रत्येक विभाग से प्रतिदिन विद्यार्थी वैतालिक संगीत के लिए चुनकर भेजे जाते हैं।"³

(4) शैली—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सस्मरणों की रचना वर्णनात्मक, विवरणात्मक और नाटकीय शैली में की है। जब वे मामान्य वर्णन करते हैं तो शैली

1 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 330

2 उपरिक्त, पृ० 118

3 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-8, पृ० 441-442

वर्णनात्मक होती है, जब वे विवरण देते हैं तो शैली विवरणात्मक हो जाती है। संवादों का प्रयोग करने में नाटकीय शैली का प्रयोग हो जाता है। उन्होंने 'विश्वविद्यालय-प्रसंग' में आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग किया है। प्रस्तुत सस्मरण का आरम्भ इसी शैली से होता है—

“...अभी मुझे रेक्टर पद संभाले सिर्फ पांच महीने और पांच ही दिन बीते हैं। रहना पांच बर्य है! अभी तक विचारधियां में मुझे घोषा नहीं दिया है। ये कई प्रकार के राजनैतिक विश्वासों से प्रभावित हैं। एक दल दूसरे दल की निन्दा कर जाता है, पर हयमाने पर वे मान भी जाने हैं।”¹

विवरण की प्रधानता सस्मरण की मूल शैली मानी जाती है। द्विवेदी जी ने 'शांति निकेतन की स्मृतियां' में कुछ विवरण दिये हैं—

“आशा दी ने प्रत्येक वृक्ष का कुछ-न-कुछ इतिहास बताया। मैंने उन स्थानों को देखा जहां कभी दीनबन्धु एण्ड्रूज रहते थे, प्रोफेसर सिलवा लेबी पढ़ाते थे, स्टेनोकोनो भाया-विज्ञान का अध्यापन करते थे, जहां कभी गुरुदेव रहते और गान या कविता लिखा करते थे। सबसे आकर्षक और प्रेरणादायक सप्तपर्णा का वह घनच्छाय निकुंज था जो आयम का मूल स्थान कहा जाता है। इस घनच्छाय वृक्ष के नीचे गुरुदेव (कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर) के पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर कभी आसन जमाया करते थे और उपनिषदों का तथा साथ-ही-साथ हार्फिज का भी अध्ययन-मनन किया करते थे।”²

वर्णनात्मक शैली का एक उदाहरण 'मेरी पिटाई' से प्रस्तुत किया जाता है—

“सन् 1916 ई० में पहली पिटाई चम रही थी। महंगाई बहुत बढ़ गयी थी, हालांकि राज की तुलना में वह कुछ भी नहीं थी। गांव में एक पैसे के पांच ताव बादामी कागज मिलते थे। मेरे सारे साथी बच्चों में एक आम धारणा बनी थी कि गंगा साव बड़ा ठग है। एक पैसे में सिर्फ पांच ही ताव बेचता है। किसी बच्चे के पिता शहर में चार पैसे में एक जिस्ता खरीद लाये थे, इसलिए बच्चों के हिसाब से गंगा साव को एक पैसे में कम-से-कम छः ताव बेचना चाहिए।”³

नाटकीय शैली का प्रयोग 'निराला केवल छन्द थे' में किया गया है। निराला और लेखक का कालांतराप इग शैली को जन्म देता है—

“जब गांधीजी की मृत्यु हुई तो बोले कि 'द्विवेदी भी मुना कुछ?' मैंने कहा, “हां, गांधी जी की मृत्यु हो गयी।” लेकिन वह बड़े जोर से बोले, “नहीं, बिल्कुल गलत बात है। गांधी जीवित है। यह तो नेहरू के गांधी को मर्मा (शव) को फार दिया है। गांधी को लो बिड़ला-भवन में बंद कर दिया गया है।” मैंने बहुत सोचा कि यह बहना क्या चाहते हैं? मैंने इमनिफ़ किर कहा कि, “नहीं, गांधी जीवित नहीं हैं, गांधी जी की मृत्यु हो गयी।” तब उन्होंने कहा कि, “नहीं, गांधी को कौन मार सकता है? गांधी के अपूल को कोई

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थालय-11, पृ० 117

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-8, पृ० 441

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 116

नहीं मार सकता, गांधी जीवित हैं, उसके सिद्धांत जीवित हैं। यह तो केवल गांधी का शव मार दिया गया है और गांधी जी को बिडला-भवन में बंद कर दिया गया है, यानी उनके अमूल्य पर उस भवन से बाहर कोई नहीं चलता।¹

(5) स्मृत्याकन—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी स्मृति का ही चित्रण किया है, इसलिए उसमें यथार्थ का समावेश हो गया है। 'भेरी पिटाई' का आरम्भ ही वे स्मृति के अकन द्वारा करते हैं—

“छोटेपन में प्राथमिक पाठशालाओं के 'मास्टर साहब' लोगों के हाथों काफी पिटना पड़ा है और तरह-तरह के दण्ड भोगने पड़े हैं, परन्तु एक पिटाई की बहुत याद आती है। सुना है कि आजकल नये स्कूलों में बच्चों की पिटाई नहीं होती, पर मैं जब छोटा था तो ऐसी बात नहीं थी। हर गलती पर पिटाई होती थी और कभी-कभी बिना गलती के भी पिटाई हो जाती थी। इतना मुझे अवश्य याद है कि और बच्चों की तुलना में मैं कम ही पिटता था। पढ़ने-लिखने में बहुत कमजोर नहीं था लेकिन हाथ-मुंह से लेकर काफी-बिस्ताब गन्दा करने में मेरा कोई प्रतिद्वन्दी नहीं था, और इसी बात पर मार खाया करता था। एक बार तत्कालीन मद्रास प्रेसीडेंसी के चौबीस जिलों के विकट नाम एक ही सांस में न बोले जाने के कारण काफी मार खानी पड़ी, पर दूसरे दिन मैंने परिश्रम करके मात्र की तरह सारे-कै-सारे नाम रट डाले। मगर मार खाना तो भगवान् ने भाग्य में लिख दिया था। पंडित जी के सामने पढ़ते-पढ़ते कुर्ते पर स्याही गिर गयी और मन्त्र-पाठ के पहले ही फसकर पिटाई हो गयी।”²

इस प्रकार स्मृत्याकन तो सभी सस्मरणों में मिल ही जाता है क्योंकि उसके बिना तो सस्मरण ही नहीं सकता।

(6) उद्देश्य—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सस्मरणों का मूल उद्देश्य प्रेरक स्वरूप ही है। 'भेरी पिटाई' में अपने अध्यापक के प्रेरक चरित्र को प्रस्तुत करना ही उनका उद्देश्य है। वे स्वयं कहते हैं कि, “मेरे एक अध्यापक पंडित रामनरेश मिश्र थे। विद्यार्थियों को विद्वान् बनाने की उनकी बड़ी इच्छा रहती थी और मेरे ऊपर उनका विशेष स्नेह था, क्योंकि मुझसे उन्होंने बहुत-सी आशाएं मन में सजो रखी थीं। जान लड़ाकर पढ़ाते थे और आशा करते थे कि उनके लडके भी उनके आदर्शों के अनुरूप ही बनें। मैं अगर बीमार पड़ गया, स्कूल नहीं गया तो घर आकर बता जाया करते थे कि आज क्या-बया पढ़ाया है। वे सच्चे गुरु थे। विद्यार्थियों की उन्नति से सदा अपने-आपको चरितार्थ मानने वाले थे। वे भीतर से जितने पवित्र थे, उतने ही बाहर से भी साफ-मुधरे रहते थे। गन्दगी उनको बिल्कुल बर्दाश्त नहीं थी और यहीं मैं चूक जाता था।”³

'विश्वविद्यालय-प्रसन' में आचार्य द्विवेदी ने सर्वप्रथम स्वयं को ही प्रेरित किया है। विश्वास का सकट और मन्देह का वातावरण जब चारों ओर है तो वे रेंडर के पद

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 328
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 115
3. उपरिबत्, पृ० 115

पर रहते हुए कुछ कर पाने में अपने-आपको असमर्थ पाते हैं। वे अन्त में परमात्मा से शक्ति मांगते हैं—

“इस समय मैं अपने को इतना छोटा अनुभव कर रहा हूँ कि विश्वास ही नहीं होना कि मेरे प्रायश्चित्त से कुछ सुधर जायेगा। पर करना तो पड़ेगा ही। हे दीनबन्धु, शक्ति दो कि मैं आत्मघाती दुर्बुद्धि पर आक्रमण कर सकू। मेरी आत्मा में पूर्णरूप से संवर्धित होओ। हजारों नौजवानों के भविष्य को कुछ सार्थक बनाने का जो गुरुभार बिना मागे ही तुमने दे दिया है, उसके उपयुक्त सिद्ध हो सकू, ऐसी क्षमता दो। दो मेरी वाणी में वह अमोघ प्रभावनी शक्ति जो इस भविष्यघाती यौवनोन्माद को कुछ नयी दिशा दे सके। मेरे प्रायश्चित्त को शक्ति दो, मेरे व्रत को साफल्य दो, मेरे विद्यार्थियों को शुभ बुद्धि दो। ऐसी क्षमता दो कि सब पर पूर्ण विश्वास करने की मेरी बुद्धि रक्षमात्र विचलित न हो सके। मैं प्रायश्चित्त करूँगा, बदले में तुमसे शुभद शक्ति माँगूँगा। हर बड़ी बात का दाम चुकाना होता है। तुम्हारी कृपा का मूल्य चुकाने की शक्ति तुम्हीं दे सकते हो। निखिल गुरु, शक्ति दो, बल दो, साहस दो, और दो शुभ बुद्धि को प्रेरित करने वाली अमोघ प्रेरणा।”¹

‘शांति निकेतन की स्मृतियाँ’ में आग्रम के वयोवृद्ध मनीषियों का तपस्यापूर्ण जीवन, विद्यार्थियों की आनन्दोल्लास से परिपूर्ण दिनचर्या² आदि को पाठक तक पहुँचाने का प्रयास किया गया है। ‘निराला केवल छन्द थे’ में निराला के महान् व्यक्तित्व को प्रस्तुत करने की स्पष्ट चेष्टा है। वे कहते हैं कि—

“निराला की प्राणशक्ति अद्भुत थी। वह जीवित किसी सुख के आकर्षण की शक्ति में नहीं झुके। पृथ्वी जैसे चीजों को अपनी ओर खींच लेती है और उन चीजों को ज़रदी खींचती है जिनके अन्दर जीवनी-शक्ति नहीं होती। आप देखेंगे कि एक अंकुर भी जिसके अन्दर जीवनी-शक्ति होती है वह पृथ्वी की छाती को फोड़कर ऊपर उठ जाता है लेकिन जिस क्षण उसकी जीवनी-शक्ति समाप्त हो जाती है तो वह मुरझा जाता है और जमीन में झुक जाता है। लेकिन निराला में एक महाप्राण, महागतिशील तत्त्व इतनी मात्रा में था कि जीवित वह कभी कभी झुके नहीं। उनकी प्राण-शक्ति कभी नहीं झुकी और वह एक अखण्ड ज्योति शिखा की तरह ऊपर-ही-ऊपर प्रग्वलित होते रहे।”³

वस्तुतः आचार्य द्विवेदी ने सस्मरण कम ही लिये हैं किन्तु उनके सस्मरणों में जो रोचकता, प्रवाह और सरसता है, वह उन्हें एक सफल सस्मरण लेखक के रूप में प्रस्तुत करती है। मेघरू का दृष्टिकोण मानवीय है और उस दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति सस्मरणों में यथासंभव हुई है। मानवीय जिजीविषा का प्रस्तुतीकरण ही उनका लावण्य सिद्धांत के अन्तर्गत आता है। विद्या की सफलता लावण्य है ही। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सस्मरण साहित्य-तत्व की दृष्टि से सफल हैं।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 121

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-8, पृ० 443

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10, पृ० 331

कहानी में साहित्य

आचार्य हजारी प्रगाद द्विवेदी की ग्रन्थावली के भाग-11 में कुछ आठ कहानियाँ संकलित हैं—'घनवर्षण', 'मन्त्र-तन्त्र', 'स्यवमायवृद्धि', 'बड़ा कौन है', 'बड़ा क्या है', 'देवता की मनोती', 'प्रतिशोध' तथा 'अच्छूत'। इनमें प्रथम सात कहानियाँ प्राचीनकाल से सम्बन्धित आचरण की कहानियाँ हैं जिन पर पश्चन्त्र का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। 'अच्छूत' कहानी द्विवेदी जी ने 'ज्ञान' के छप मास में लिखी थी। इस कहानी में बीगवी गताप्ती के आरंभित दमको का कथानक अवश्य ही प्रस्तुत किया गया है किन्तु यह कहानी भी आचरण की कहानी ही है।

'घनवर्षण', 'मन्त्र-तन्त्र', 'स्यवमायवृद्धि', 'बड़ा कौन है', 'बड़ा क्या है' तथा 'देवता की मनोती' तो स्पष्टतः ही सपुत्रका जैसी है। उनमें कथानक का सपुत्र भी तीव्र नहीं है और उनका आचार भी सपुत्र है।

डॉ० रमेश चन्द्र लघानिया ने कहानी की परिभाषा देते हुए कहा कि, "हमारी दृष्टि में कहानी साहित्य को वह सपुत्र विधा है जिसमें किसी एक घटना, अनुभूति प्रथम मूल्य का चित्रण कथानक ढंग से हम प्रकार किया जाता है कि रोचकता बनी रहती है। कथानक का सपुत्र ही उसारी आरमा है।"¹ इस आधार पर विचार करें तो सपुत्र की तीव्रता के अतिरिक्त सभी सात द्विवेदी जी की कहानियों में उपलब्ध है। हाँ, इन कहानियों की संवेदना अवश्य ही प्राचीन है। कहानी के सर्वमान्य तत्त्व निम्न माने जाते हैं—(1) कथावस्तु, (2) पात्र एवं चरित्र-चित्रण, (3) भाषा-शैली, (4) कथोपकरण या संवाद, (5) वातावरण, और (6) उद्देश्य। इन तत्त्वों के आधार पर हम उसारी कहानियों की समीक्षा करेंगे।

(1) कथावस्तु—कथावस्तु में ही शीर्षक पर विचार किया जाता है। द्विवेदी जी की कहानियों के शीर्षक अत्यन्त सफरत हैं। वे आकार में सपुत्र और कथानक का संकेत करने में सक्षम हैं। 'घनवर्षण' में एक ब्राह्मण ऐसा मन्त्र जानता है कि विशेष प्रकार के महाप्रयोग में जाप करने में आकाश से रत्न और धन की वर्षा होने लगती है। एक बार पंडित जी को उनके शिष्य के साथ मार्ग में डाकू पकड़ लेते हैं। वे गुरु को तो रोक लेते हैं और शिष्य को मुक्त करके स्वयं-पैसा ले आने के लिए भेज देते हैं जिसमें उनके गुरु को मुक्त किया जा सके। शिष्य गुरु को समझाता है कि आज घनवर्षण का योग है, इसलिए वह उसका लाभ उठाकर इन डाकूओं को घन नहीं दें अन्यथा सर्वनाश हो जायेगा। शिष्य गुरु को विश्वास दिलाता है कि वह दो-तीन दिन में धन का प्रबन्ध करके आयेगा और उन्हें मुक्त करा लेगा। पंडित जी शिष्य की चेतावनी को न मानकर रात्रि को डाकूओं के समक्ष धन की वर्षा करके मुक्ति पाते हैं। थोड़ी देर में एक बड़ा डाकूओं का दल आकर उन डाकूओं को मूटता है। वे डाकू पंडित जी द्वारा धन वर्षा करने की बात बताने हैं। बड़ा डाकू दल पंडित जी से धन-वर्षा करने के लिए कहता है। पंडित जी एक सपुत्र प्रतीक्षा की

आवश्यकता बताते हैं। डाकू पंडित जी की हत्या करके उस डाकू दल से भिड़ जाते हैं। अन्ततः सभी डाकू मर जाते हैं। दो-एक दिन के पश्चात् शिष्य धन जुटाकर पंडित जी को छुड़ाने जाता है तो वह शव-ही-शव देखता है और धन पड़ा देखकर सोच लेता है कि पंडित जी ने धनवर्षा करायी जिसका यह परिणाम हुआ।

'मन्त्र-तन्त्र' में कुमार नामक एक ग्रामीण युवक ने सेवा का आदर्श उपस्थित कर ग्रामीणों को सेवा करने, दूसरों की हिंसा न करने, झूठ न बोलने और शराब न पीने की प्रेरणा दी जिससे गांव आदर्श हो गया। गांव के मुखिया का अनुचित लाभ होना बंद हो गया, इसलिए उसने राजा से झूठी शिकायत की कि गांव के आदमी चोर हो गये हैं। राजा ने उन्हें हाथी से कुचलवाने का दण्ड दिया। कुमार ने अपने साथियों को राजा पर शोध न करने को कहा। राजा ने एक-एक करके अनेक हाथी बुलवाये किन्तु किसी हाथी ने उन्हें नहीं कुचला। राजा के पूछने पर उन्होंने बताया कि वे चोर नहीं हैं, किसी की हिंसा नहीं करते, दूसरों की चीजें नहीं लेते, झूठ नहीं बोलते और शराब नहीं पीते। यदि आवश्यकता देखते हैं तो हम दूसरों की महायता भी कर देते हैं। यही मन्त्र वे जानते हैं और कुछ नहीं जानते। इस प्रकार 'मन्त्र-तन्त्र' जीर्णक कथानक से जुड़ा है।

'व्यवसाय बुद्धि' में एक गरीब आदमी फलाफल बताने वाले राजा के धनरक्षक की बात सुनकर मरे हुए धूँसे से व्यवसाय करता है। एक दुकानदार अपनी बिल्ली के लिए उससे एक पैसे में मरा चूहा खरीद लेता है। एक पैसे का वह गुड़ खरीदकर धके मालियों को गुड़ और पानी देकर उनसे फूल ले लेता है। फूल बेचकर वह मालियों को गुड़ और पानी जगल में पहुंचाता है। आधी में राजा के उपवन के टूटे दरखतों को गुड़ के बदले खिलते लडको से उठवाकर धन कमाता है। घसियारों को पानी पिलाकर अपना मित्र बना लेता है। एक सौदागर पाच सौ घोड़े लेकर आता है, वह घसियारों से पाच सौ अटिया घाम की लेकर सौदागर को बेचकर धन कमाता है। एक बड़ा सौदागर जहाज में माल लेकर आता है तो वह सारे माल का मोल-भाव करके बयाना दे देता है और नगर के सौदागरों को बेचकर दो लाख रुपये का लाभ प्राप्त करता है। वह एक लाख रुपया धन-रक्षक को देना चाहता है किन्तु वह नहीं लेता।

चौथी कहानी 'बड़ा कौन है!' में काशी के राजा की कथा है। वह प्रजा सेवक था। अपने दोष पूछने के लिए वह राज्य की सीमा तक जा पहुंचता है किन्तु कोई उसमें दोष नहीं बताता। कौशल का राजा भी उसी तरह अपने दोष पूछता हुआ सीमा तक आ जाता है। दोनों राजाओं के रथ एक ऐसे स्थान पर आमने-सामने आ जाते हैं, जहां से एक को पीछे हटना पड़ता। दोनों के मारचियों के वार्तालाप से काशी के राजा के गुण अधिक निकलते हैं क्योंकि वह श्रेष्ठ को प्रेम से जीतता था, दुष्ट पर साधुता दिखाता था, कृपण को दान से और झूठ को मर्चसे जीतता था। कौशल के राजा ने उतरकर काशीराज से यात की और काशीराज के रथ के लिए मार्ग दे दिया। 'बड़ा कौन है' का रहस्य बताया गया है।

पाचवीं कहानी 'बड़ा क्या है?' में एक ब्राह्मण अपने सम्मान को बचाता है कि राजा उसका सम्मान क्यों करता है? यह कहकर राजा का सम्मान बचाता है।

देख लेने पर भी उसका सम्मान करने के कारण पहले दिन कुछ नहीं कहता किन्तु दूसरे दिन पुनरावृत्ति होने पर उस ब्राह्मण को पकड़वा देता है। ब्राह्मण राजा को सारी बात बताकर कहता है कि अब उमकी समझ में आ गया है कि सम्मान चरित्र के गुणों के कारण होता है जाति, कुल अथवा विद्या के कारण नहीं। उमके बाद ब्राह्मण संन्यासी हो जाता है।

छठी कहानी 'देवता की मनीतो' में एक राजकुमार की पूजा में जीव-हिंसा रूकवाने का निश्चय करता है। लोग जिस बरगद की पूजा करते हैं, वह भी उसकी पूजा करने लगता है। राजा की मृत्यु होने पर वह राजगद्दी पर बैठता है। वह मंत्री से कहता है कि उसने बरगद की पूजा करके राज्य पाया है, इसलिए अपनी मनीतो पूरी करने के लिए ऐसे लोगों के रक्त-मांस और कलेजे से उसकी पूजा करूंगा जो जीवहत्या करते हैं, झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं आदि। मंत्री ने राज्य में यह घोषणा करवा दी। परिणामतः जीवहत्या ही बढ़ हो गयी।

सातवीं कहानी 'प्रतिशोध' लम्बी कहानी है। पाण्डु सेठ काशी जाते समय मार्ग में एक संन्यासी श्रमण नारद को अपनी गाड़ी पर बैठ लेते हैं। मार्ग में एक किसान की चावल की बोरी से भरी गाड़ी छड़ी थी जिसका एक पहिया धुरा खुल जाने से निकल गया था। सेठ अपने नौकर से उसकी बोरिया फिकवाकर गाड़ी को धकेलकर मार्ग बनवाते हैं। श्रमण नारद सेठ की गाड़ी से उतरकर उस ग्रामीण की सहायता करता है। नारद उस ग्रामीण के प्रश्न के उत्तर में बताता है कि वह जो कुछ भोग रहा है, वह उसके पहले के कर्मों का फल है। गाड़ी चलने पर मार्ग में एक अशफियों से भरा एक पैला मिलता है। श्रमण नारद उस किसान को समझाते हैं कि यह यह पैला सेठ पाण्डु का है और वह काशी में उसे दूबकर यह पैला दे दे तथा सेठ पाण्डु के अत्याचार को भूलकर उसे क्षमा कर दे। काशी में सेठ पाण्डु मल्लिक नामक सौदागर के साथ काम करते थे। मल्लिक की राज-महल में चावल भिजवाना था किन्तु चावल उगहे मिल नहीं रहा था। सेठ पाण्डु को जब अशफियों से भरी पैली नहीं मिलती है तो वह अपने नौकर महादत्त को चोरी के अभियोग में पुलिस को देता है। केवल ग्रामीण सेठ को खोजकर अशफियों से भरी पैली सौंपता है। पुलिस महादत्त को छोड़ देती है किन्तु उससे पूर्व उसकी जमकर पिटाई कर चुकी थी। मल्लिक देवल का चावल खरीद लेता है।

सेठ पाण्डु श्रमण नारद को खोज निकालता है और उनसे सीखता है किसी को दुःख नहीं पहुंचाना चाहिए। कौशाम्बी का राजा सेठ पाण्डु से एक रत्नजडित सोने का मुकुट बनवाने का आदेश देता है। सेठ उस मुकुट को बनवाकर ले जा रहा होता है तो मार्ग में डाकू उसे लूट लेते हैं। श्रमण नारद की भी वे पिटाई करते हैं। बाद में डाकूओं में झगडा होता है और वे अपने नेता को घायल करके चले जाते हैं। श्रमण नारद उसकी सुश्रुपा करते हैं। घायल दस्यु चेतना आने पर बताता है कि वह सेठ पाण्डु का पुराना नौकर महादत्त है। उम पर झूठा अभियोग लगाकर जब उसकी पिटाई करवाई गयी तो वह सेठ से क्रूढ़ होकर चला आया और डाकूओं के दल में मिल गया था। श्रमण नारद से प्रभावित होकर वह प्रायश्चित्त करना चाहता है और उसी समय उसकी मृत्यु हो जाती

है। मृत्यु से पूर्व उसने श्रमण को बता दिया कि उगी ने सेठ का राजमुकुट लूटा है जो पास की एक गुफा में रखा है और किमी अन्य को इस बात का पता नहीं है। श्रमण के द्वारा सूचना पाकर सेठ उस मुकुट और रत्नों को ले जाता है। सेठ ने अपनी मृत्यु के समय अपने पुत्रों को शिक्षा दी कि जो दूसरे को दुःख पहुंचाता है, वह स्वयं को ही दुःख पहुंचाता है तथा जो दूसरे को सुख देता है वह स्वयं को ही सुख देता है।

आचार्य द्विवेदी की अन्तिम कहानी 'अछूत' है। नीमू जाति का भंगी है। राम-बहादुर के यहाँ से बेगार करके वह पाच मील दूर स्थित अपनी झोपड़ी के लिए चसता है तो मेह-अंधियारी रात्रि में ठिठुरकर सड़क पर गिर पड़ता है। रानी एक वेश्या है जो उस समय ग्राहकों से छुट्टी पाकर सोने जा रही थी, यह उसके गिरने की आवाज सुनकर बाहर आती है और नोकरो को बुलवाकर उसे उठवाकर विस्तर पर सुलाती है। नीमू होश में आने पर बताता है कि वह भंगी है किन्तु रानी उससे कहती है कि आज तक तो वह यही जानती थी कि वही पतिता है। नीमू रानी को बहन मानने लगता है। एक दिन उसे पता चलता है कि रानी पर किसी की हत्या का अभियोग लगाकर उसे बंदी बना लिया गया है। वह बन्दीगृह जाकर रानी से मिलता है। रानी उसे बताती है कि एक दस्तु उसे लूटने आया था। उसके हाथ में छुरा था। उसने उसे प्रेमभरी दृष्टि से देखकर अपने बग में किया और फिर उसका कत्ल कर दिया। नीमू इजलास में जाकर कहता है कि हत्या उसने की है रानी ने नहीं। न्यायाधीश उसके तर्क सुनकर रानी को मुक्त कर देता है और नीमू को बन्दीगृह में डाल देता है। रानी चिल्लाती ही रह जाती है कि नीमू निरपराध है।

आचार्य द्विवेदी के कथानकों में आरंभ, मध्य और अन्त की स्थिति तो अवश्य मिलती है किन्तु संपर्प की तीव्रता नहीं है। आरंभ में वे पात्र-परिचय देते हैं, मध्य में संपर्प आता है और अन्त आदर्श से युक्त होता है। 'अछूत' कहानी का आदि, मध्य और अन्त का विवेचन करके हम अपने निष्कर्ष की पुष्टि करेंगे। कहानी के आरंभ में नीमू का परिचय दिया गया है—

"नीमू के शरीर पर पटा कुरता तथा घूटनों तक एक मंली धोती पड़ी हुई थी। रामबहादुर साहब के यहाँ बेगार पर गया था, वहाँ से उसे अभी ही छुट्टी मिली थी। वह ठिठुर रहा था, पर क्या करता—गरीब जो ठहरे। इस मेह-अंधियारी रात्रि में पाच मील अपनी झोपड़ी तक जाना भीत का सामना करना था। किन्तु यश पर एक अछूत को भला कौन आश्रय देता?"¹

मध्य की स्थिति बन्दीगृह में नीमू के रानी से मिलने की है। "रानी के भी नेत्रों में जल भर आया। गला साफ कर वह कहने लगी, भाई, वह दुष्ट मेरा घन-जेवर सब-कुछ ले जा रहा था" न जाने क्यों! उसके परचात् हाथ में छुरा लेकर मुझ पर झपटना चाहा। किन्तु हम बेरुपाएँ उन चालों को बब दाव देने वाली हैं! ज्यों ही मेरे समीप आना चाहा, मैं प्रेम-भरी आँखों में उसे देख, उससे लिपट गयी। उसका हिसारक भ्राय

एक क्षण में ही भोम की भाति पिघल गया। भरे नाट्य को उमने मग्ना ही समझा। पर मुझे तो उस हत्यारे को दण्ड देना था। अवसर पाकर उसके छुरे से ही उसको अपना रास्ता दिखा दिया। बताओ भाई, वह मैंने बुरा किया?"¹

कहानी का अन्त न्यायाधीश द्वारा नीमू के तर्क स्वीकार कर रानी को मुक्त करने के परचात् किया गया है जो प्रभावशाली बन पडा है—

"लेकिन रानी चिल्लाती रही, नीमू सब झूठ बोल रहा है। उसने सब बातें बना कर कही है। वह केवल मुझे बचाना चाहता है। उसका सब बयान झूठा है। खून मैंने किया है। न्याय कीजिए..."

"किन्तु अब उसकी कौन सुनता है?"²

(2) पात्र एवं चरित्र-चित्रण—आचार्य द्विवेदी के चरित्र-चित्रण में महात्मा गांधी का यथेष्ट प्रभाव दिखायी पडता है। उन्होंने पात्रों का हृदय-परिवर्तन कराया है। 'प्रति शोध' में सर्वप्रथम सेठ पाण्डु एक क्रूर हृदय का व्यक्ति है किन्तु उसे अशक्तियों की धली वापस मिल जाने पर तथा श्रमण नारद की शिक्षा ग्रहण करने के कारण वह परदुःखकातर हो उठता है। सेठ का नीकर महादत्त सेठ के समान ही क्रूर हृदय हो गया था। निरपराध होने पर भी पुलिस द्वारा पिटाई किये जाने पर डरकत बन जाता है। जब उसे पता चलता है कि सेठ पाण्डु राजमुकुट और रत्नों के साथ कौशाम्बी जा रहा है तो वह अन्य डाकुओं को साथ लेकर एक सफेद मार्ग में सेठ को लूटता है। श्रमण नारद की पिटाई भी करता है। वह अपने दो अन्य साथियों से मिलकर एक गुफा में लूट का माल छिपा देता है। अन्य डाकुओं से झगडा होने पर उसके दोनों साथी मारे जाते हैं और वह मृत्युतुल्य हो जाता है। श्रमण नारद द्वारा उसकी सुश्रुषा करने पर वह अपना जीवन-वृत्तान्त बताता है और सेठ को सूचित करके उनका मुकुट वापस पहचाने की व्यवस्था का अनुरोध करता है तथा प्राण त्याग देता है। इस प्रकार अन्त में महादत्त का हृदय भी परिवर्तित हो जाता है।

'धनवर्षण' का शिष्य, 'मन्त्र-तन्त्र' का कुमार, 'व्यवसायबुद्धि' का गरीब युवक और राजा का धनरक्षक, 'बडा कौन है' का काशीराज, 'बडा क्या है?' का ब्राह्मण, 'देवता की मनाती' का राजकुमार, 'प्रतिशोध' का श्रमण नारद और 'अछूत' का नीमू आदर्श पात्र हैं। 'अछूत' में तो पात्र को खण्ड-खण्ड न देखने की बात भी कही गयी है। जो पात्र ऊपर से जैसा दीखता है, वैसा नहीं भी होता।

"अब नीमू जहा कही भी जाता है, रानी की बड़ाई करते-करते उसकी आंखों में आंसू भर जाते हैं। वह अनपढ़ केवल इतना ही समझ सका है कि मनुष्य का भीतर-बाहर एक-सा नहीं होता। साधु में एक पापी छिपा रह सकता है और पापी में साधु पुरुष।"³

द्विवेदी जी ने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों प्रकार से चरित्र-चित्रण किया है। कही-

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 145
2. उपरिबत्, 146
3. उपरिबत्, पृ० 144

कही कहानीकार स्वयं पात्र के गुणो पर प्रकाश डालता है और कही उसके कृत्यो से उसका चरित्र स्पष्ट होता है। 'प्रतिशोध' में श्रमण नारद का चरित्र-चित्रण परोक्ष पद्धति से ही किया गया है। कहानीकार ने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा, किन्तु उसके कर्मों द्वारा ही उसके आदर्श चरित्र की व्याख्या हो जाती है। 'मन्त्र-तंत्र' के कुमार का चरित्र-चित्रण दोनों ही पद्धतियों से किया गया है। प्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण के अनुसार कहानीकार स्वयं वर्णन करता है—

"कुमार बड़ा अच्छा आदमी था। कभी धीन-हृत्प, नहीं करता, दूसरे की चीज न लेता, झूठ नहीं बोलता, कोई नशा न खाता और दूसरो की स्त्री को मा से समान समझता।"¹

उसके मेधा-भाव का वर्णन उसके कर्म के द्वारा किया गया है। तीस आदमी एक स्थान पर मिलते हैं किन्तु कही खड़े होने का स्थान भी नहीं है—

"सबके साथ एक जगह पहुंचकर उसने एक स्थान को धूल-मिट्टी हटाकर साफ कर दिया। उस स्थान के साफ होते ही एक आदमी वहा आकर खड़ा हो गया। कुमार उसने कुछ न कहकर दूसरी जगह भाफ करने लगा। इसके साफ होने पर एक तीसरा आदमी वहा आया। इस तरह एक-एक जगह साफ करते-करते वह एक-एक आदमी के लिए जगह करता गया और अन्त में सबके लिए जगह कर दी।"²

(3) भाषा-शैली—आचार्य द्विवेदी जी की कहानियों की भाषा सरल, प्रवाहपूर्ण और प्रसाद गुण से युक्त है। उपन्यासो के समान भाषा में काव्यात्मकता का समावेश नहीं किया गया है। वाक्य छोटे-छोटे और प्रवाहपूर्ण हैं, यथा—

"बहुत दिनों की बात है। एक राजा के राज्य मे एक गृहस्थ को एक लड़का हुआ। मा-बाप ने उसका नाम 'कुमार' रखा। कुमार के बड़े होने पर उसके माता-पिता ने उसका विवाह एक गृहस्थ की लड़की से कर दिया। कुछ दिन बाद उसे लड़के-लड़कियां भी हुईं। फिर उनमे से प्रत्येक एक-एक गृहस्थ हो गये।"³

आचार्य द्विवेदी ने इन कहानियों की रचना सरल भाषा मे की है, इसलिए अरबी-फारसी के बोलचाल के शब्द—प्रयोग मिलते हैं। कुछ शब्द इस प्रकार हैं—'पुद', 'आदमी', 'करामाती', 'जगल', 'जस्री', 'जुरमाना', 'आमदनी', 'बदमाशी', 'गरीब', 'बूब', 'जरा', 'सौदागर', 'शाम', 'जवाब', 'खातिर', 'बगैरह', 'बेगार', 'इजलास' आदि।

संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोगाधिक्य नहीं है किन्तु हिन्दी की प्रकृति के अनुसार ही कुछ तो संस्कृत के तत्सम शब्द वा ही जाते हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—'अक्षरश', 'न्यायाधीश', 'निधु', 'मनुष्य', 'सन्यासी', 'मान-सम्मान', 'हिंसा' आदि।

भाषा मुहावरेदार भी नहीं है किन्तु कहीं-कहीं मुहावरो का प्रयोग हुआ है—

"अष्ट-सष्ट काम करना", "मातिश करना", "मोसभाव करना", "पारसमणि के सिवा

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी अन्यावली-11, पृ० 127

2. उपरिक्त, पृ० 127

3. उपरिक्त, 77

लोहा को कौन सोना कर सकता है" आदि ।

आचार्य द्विवेदी ने वर्णनात्मक शैली में कहानियों की रचना की है । कहानीकार स्वयं कहानी वर्णित करता है । यथा—

"काशी के रास्ते में देखा गया, एक बँलगाड़ी जा रही है । गाड़ी में सिर्फ दो आदमी बैठे हैं, एक गाड़ीवान और दूसरा उसी गाड़ी का मालिक । मालिक की पोशाक देखकर जान पड़ता है कि वे एक बड़े सेठ-चड्डे सौदागर हैं । सेठ जी का नाम था पाण्डु ।"¹

(4) कथोपकथन : आचार्य द्विवेदी की कहानियों में कथोपकथन अधिक नहीं है पर जहाँ है वे कथाबस्तु को गति देने वाले और पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में सहायक हैं । 'प्रतिशोध' में श्रवण नारद और डाकू महादत्त के बीच हुए कथोपकथन इसी प्रकार के हैं—

भिष्णु ने कहा, "भाई, जो जैसा बोता है, वैसा ही काटता भी है । यह बात अक्षरशः ठीक है । तुमने अपने साथियों को मारामारी, लूटपाट बगैरह सिखाया है, वही सीखकर उन्होंने तुम्हें ही मारा है । तुम अगर उनको दया की सीख देते तो तुम्हारे ऊपर वे दया ही करते ।"

उसने कहा, "हा, आपकी बात ठीक है । मेरी यह दशा ठीक ही हुई है । मैंने कितना अन्याय, कितना अत्याचार किया है, मुझे उसका फल भोगना ही पड़ेगा । हमारे पाप का बोसा बड़ा भारी हो गया है । बताइए बाबूजी, यह कैसे हल्का होगा ?"²

कही-कही तो सवाद अत्यन्त छोटे हो गए हैं, यथा—

न्यायाधीश ने शोरगुल बन्द करके पूछा, "अच्छा, तुम्हारा नाम ?"

"नीमू ।"

"जात ?"

"भगी ।"³

(5) वातावरण : द्विवेदी जी की कहानियाँ वातावरण प्रधान नहीं हैं, इसलिए वातावरण-चित्रण बहुत कम हुआ है । वातावरण-चित्रण के लिए एक-दो पंक्ति लिखकर ही कार्य चला लिया गया है—

"कोशाम्बी के रास्ते में एक जगह थोड़ी छतरलाक थी । वहाँ रास्ते के दोनों ओर पहाड़ हैं, रास्ता बीच से होकर जाता है ।"⁴

(6) उद्देश्य : आचार्य द्विवेदी जी ने इन कहानियों को बाल-साहित्य जैसे रूप में प्रस्तुत किया है, इसलिए वे उद्देश्य प्रधान कहानियाँ हैं । उनमें अहिंसा, सत्य, त्याग, सेवा जैसे नैतिक मूल्यों की रचना की गयी है । मनुष्य का हृदय परिवर्तित हो सकता है, इसलिए दुष्ट से भी धृणा नहीं करनी चाहिए, इस तथ्य का प्रस्तुतीकरण किया गया है ।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11, पृ० 136

2 उपरिचर्त, पृ० 141

3 उपरिचर्त, पृ० 145

4 उपरिचर्त, पृ० 140

'मन्द-तन्त्र' में निरपराध ग्रामीणों को दण्ड मिलने पर कुमार कहता है कि "देखो भाई, यह ठीक है कि राजा अन्याय कर रहे हैं, और यह भी सच है कि हाथी हम लोगों को अभी मार डालेगा। पर, तुम लोग राजा पर शोध न करना। अपना शरीर जैसे अपने को अच्छा मालूम होता है और उस पर अपना जैसा प्रेम है, राजा के शरीर के ऊपर भी हम लोगों का वैसा ही प्रेम हो।"¹ प्रतिशोध में श्रमण नारद भी क्षमा की शिक्षा देता है। इस प्रकार प्रस्तुत कहानियों में प्राचीन नैतिक मूल्यों की स्थापना का ही प्रयत्न है।

वस्तुतः द्विवेदी जी ने इन कहानियों को आधुनिक कहानियों के समान नहीं लिखा है। उन पर 'पक्षतन्त्र' का प्रभाव दिखायी पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने बाल-साहित्य के रूप में ही इनकी रचना की हो। मानवता और मानवीय मूल्यों की स्थापना सर्वस्व है।

उपसंहार

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सम्मिलित सभी कलाओं के विवेचन के लिए एक शास्त्र की आवश्यकता का अनुभव करते हैं किन्तु वे सौन्दर्य को उसके उपयुक्त शब्द के रूप में स्वीकार नहीं करते। वे प्राकृतिक सौन्दर्य को सौन्दर्य कहते हैं तथा मानव द्वारा रचित सौन्दर्य को लालित्य की सजा देते हैं। आचार्य द्विवेदी के साहित्य में मा भगवती ललिता की चर्चा अनेक स्थलों पर आई है जिससे स्पष्ट है कि मा भगवती ललिता के आधार पर ही वे 'लालित्य' नामकरण करते हैं। उनका लालित्य-चिन्तन कालिदास के सौन्दर्य-चिन्तन पर आधारित है।

आचार्य द्विवेदी का आस्थावादी दृष्टिकोण लालित्य-सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु है, इसलिए वे इच्छा, ज्ञान और क्रिया के द्वारा रस, छन्द और शोक तत्त्व की समीक्षा करते हैं। वे अपने सिद्धान्त का ताना-बाना मानव के चारों ओर ही बुनते हैं। वे साहित्य का प्रयोजन समष्टि मानव का कल्याण ही मानते हैं, इसलिए उनके समग्र साहित्य में समष्टि-मानव-चिन्तन का प्रयास परिलक्षित होता है। उनके निबन्ध, उपन्यास, समीक्षा, साहित्येतिहास तथा अन्य विधाओं में मानव कल्याण की कामना है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि "नरलोक से किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय" व्याप्त है जिसका सन्धान वे अपने साहित्य के माध्यम से करते हैं। इसी व्याकुलता को वे अपने लालित्य-सिद्धान्त का अंग बनाने हैं। वे मानव की जिजीविषा के गायक हैं और ये गायन निबन्धों से लेकर उपन्यास, समीक्षा, इतिहास आदि सभी में मोहक संगीत के साथ चलता रहता है। उनके उपन्यासों में प्रेम के त्रिकोण इसी व्याकुलता के द्योतक हैं।

आचार्य द्विवेदी इतिहास को इतिहास-देवता मानते हैं। वे जातीय इतिहास के द्वारा अपनी संस्कृति और साहित्य का इतिहास समझाते हैं। उसका व्यक्तित्व पूर्णतः सांस्कृतिक है। उनका यह दृष्टिकोण सम्पूर्ण साहित्य में व्याप्त है। उनके ललित निबन्ध उसी प्राचीन संस्कृति के पोषक हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में तो वे लोक-जीवन का प्रस्तुतीकरण कर भारतीय संस्कृति का चित्रण करते ही हैं। उनके लालित्य-तत्त्व में लोक-तत्त्व का सन्निवेश इसीलिए महत्वपूर्ण बन जाता है। लोक-तत्त्व को समझे बिना अपनी जाति और साहित्य को नहीं समझा जा सकता। लोक तत्त्व को समझना स्वयं को ही समझना है, अपनी आत्मा को समझना है।

आचार्य द्विवेदी कालिदास, सूरदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समान ही सौन्दर्य-चेतना के साहित्यकार हैं। वे सौन्दर्य के साथ वासनात्मक रूप को अनुचित ठहराते हैं। उन्हें समष्टि चेतना का सौन्दर्य प्रभावित करता है। वे अदृष्ट प्रेम का प्रस्तुतीकरण करते हैं। भगवान् शिव ने जिस कामदेव को भस्म किया था वह वासना का रूप था, पाप था, जो अनंग रूप में जीवित रह गया वह अदुष्ट है, पुण्य है। सौन्दर्य का यह अनंग देवता ही उन्हें प्रिय है, इसलिए वे गणिका के सौन्दर्य-चित्रण में भी मादकता का भाव नहीं आने देते। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य चाक्षुष यज्ञ है, विधान्ति प्रदान करने वाला है। नारी सौन्दर्य के समान ही वे प्रकृति-सौन्दर्य के उपासक हैं। उनके सर्वश्रेष्ठ निबन्ध वृक्षां और ऋतुओं सम्बन्धी हैं।

काव्य-सौन्दर्य में उनकी दृष्टि रसवादी है। वैष्णवों द्वारा प्रस्तुत रस-वर्षा को वे अनौकिक मानते हैं। सूरदास की राधा और यशोदा का चित्रण उन्हें बहुत प्रिय है। कबीर को भी वे अन्य सन्त कवियों की तुलना में इसीलिए श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि उसमें भक्ति का समावेश है। उनके समग्र साहित्य में रसोद्रेक की क्षमता है। शुष्क समीक्षा में भी वे पाठक के हृदय को स्पर्श करने की क्षमता रखते हैं। उनके कवि-हृदय की व्याकुलता पाठक के हृदय की व्याकुलता बन जाती है। वे अलंकारों के माध-माध छन्द को भी काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में शास्त्र में जिन छन्दों के नाम गिनाये गये हैं वे अन्तिम नहीं हैं।

आज के साहित्य में विभिन्न कलाओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। नृत्यकला, चित्रकला, संगीत, मूर्तिकला आदि का प्रभाव साहित्य में आया है, इसलिए साहित्य-निदान्त की आवश्यकता है और भविष्य की शोध के लिए उसका एक प्रमुख आधार के रूप में इस पुस्तक को सराहा जायेगा। यही कारण है कि आचार्य द्विवेदी ने चित्र-कला और नृत्य आदि में संबंधित कुछ तकनीकी शब्दावली को परिभाषित किया है, यथा—'वर्णालिखितानुभव', 'अन्यथाकरण', 'अन्वयन', 'भावानुप्रवेश', 'विद्विचित्र', 'भाव-चित्र', 'रसचित्र' आदि। आज के साहित्य की व्याख्या के लिए ये पारिभाषिक शब्द महत्वपूर्ण हो सकते हैं।

उपसंहार

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सम्मिलित सभी कलाओं के विवेचन के लिए एक शास्त्र की आवश्यकता का अनुभव करते हैं किन्तु वे सौन्दर्य को उसके उपयुक्त शब्द के रूप में स्वीकार नहीं करते। वे प्राकृतिक सौन्दर्य को सौन्दर्य कहते हैं तथा मानव द्वारा रचित सौन्दर्य को लालित्य की सजा देते हैं। आचार्य द्विवेदी के साहित्य में मा भगवती सलिता की चर्चा अनेक स्थलों पर आई है जिससे स्पष्ट है कि मां भगवती सलिता के आधार पर ही वे 'लालित्य' नामकरण करते हैं। उनका साहित्य-चिन्तन कालिदास के सौन्दर्य-चिन्तन पर आधारित है।

आचार्य द्विवेदी का आस्थावादी दृष्टिकोण साहित्य-सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु है, इसलिए वे इच्छा, ज्ञान और क्रिया के द्वारा रस, छन्द और लोक तत्व की समीक्षा करते हैं। वे अपने सिद्धान्त का ताना-बाना मानव के चारों ओर ही बुनते हैं। वे साहित्य का प्रयोजन समष्टि मानव का कल्याण ही मानते हैं, इसलिए उनके समग्र साहित्य में समष्टि-मानव-चिन्तन का प्रयास परिलक्षित होता है। उनके निबन्ध, उपन्यास, समीक्षा, साहित्येतिहास तथा अन्य विधाओं में मानव कल्याण की कामना है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि "नरलोक से किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय" व्याप्त है जिसका सन्धान वे अपने साहित्य के माध्यम से करते हैं। इसी व्याकुलता को वे अपने लालित्य-सिद्धान्त का अंग बनाते हैं। वे मानव की जिजीविषा के गायक हैं और ये गायन निबन्धों से लेकर उपन्यास, समीक्षा, इतिहास आदि सभी में मोहक संगीत के साथ चलता रहता है। उनके उपन्यासों में प्रेम के त्रिकोण इसी व्याकुलता के द्योतक हैं।

आचार्य द्विवेदी इतिहास को इतिहास-देवता मानते हैं। वे जातीय इतिहास के द्वारा अपनी सस्कृति और साहित्य का इतिहास समझाते हैं। उसका व्यक्तित्व पूर्णतः सास्कृतिक है। उनका यह दृष्टिकोण सम्पूर्ण साहित्य में व्याप्त है। उनके ललित निबन्ध उसी प्राचीन सस्कृति के पोषक हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में तो वे लोक-जीवन का प्रस्तुतीकरण कर भारतीय सस्कृति का चित्रण करते ही हैं। उनके लालित्य-तत्व में लोक-तत्व का मन्त्रिवेश इसीलिए महत्वपूर्ण बन जाता है। लोक-तत्व को समझे बिना अपनी जाति और साहित्य को नहीं समझा जा सकता। लोक तत्व की समझना स्वयं को ही समझना है, अपनी आत्मा को समझना है।

आचार्य द्विवेदी कालिदाम, सूरदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समान ही सौन्दर्य-चेतना के साहित्यकार हैं। वे सौन्दर्य के साथ वासनात्मक रूप को अनुचित ठहराते हैं। उन्हें समष्टि चेतना का सौन्दर्य प्रभावित करता है। वे अद्विष्ट प्रेम का प्रस्तुतीकरण करते हैं। भगवान् शिव ने जिस कामदेव को भस्म किया था वह वासना का रूप था, पाप था, जो अनग रूप में जीवित रह गया वह अदृष्ट है, पुण्य है। सौन्दर्य का यह अनंग देवता ही उन्हें प्रिय है, इसलिए वे गणिका के सौन्दर्य-चित्रण में भी मादकता का भाव नहीं आने देते। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य चाक्षुष यज्ञ है, विद्यान्ति प्रदान करने वाला है। नारी सौन्दर्य के समान ही वे प्रकृति-सौन्दर्य के उपासक हैं। उनके सर्वश्रेष्ठ निबन्ध बृक्षो और श्वेतुओं सम्बन्धी हैं।

काव्य-सौन्दर्य में उनकी दृष्टि रसवादी है। वैष्णवों द्वारा प्रस्तुत रस-वर्षा को वे अलौकिक मानते हैं। सूरदास की राधा और यशोदा का चित्रण उन्हें बहुत प्रिय है। कबीर को भी वे अन्य सन्त कवियों की तुलना में इसीलिए श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि उसमें भक्ति का समावेश है। उनके समग्र साहित्य में रसोद्रेक की क्षमता है। शुष्क समीक्षा में भी वे पाठक के हृदय को स्पर्श करने की क्षमता रखते हैं। उनके कवि-हृदय की व्याकुलता पाठक के हृदय की व्याकुलता बन जाती है। वे अलंकारों के साथ-साथ छन्द को भी काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में शास्त्र में जिन छन्दों के नाम गिनाये गये हैं वे अन्तिम नहीं हैं।

आज के साहित्य में विभिन्न कलाओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। नृत्यकला, चित्रकला, संगीत, मूर्तिकला आदि का प्रभाव साहित्य में आया है, इसलिए लालित्य-मिद्धान्त की आवश्यकता है और भविष्य की शोध के लिए उसका एक प्रमुख आधार के रूप में इस पुस्तक को सराहा जायेगा। यही कारण है कि आचार्य द्विवेदी ने चित्र-कला और नृत्य आदि में सवधित कुछ तकनीकी शब्दावली को परिभाषित किया है, यथा — 'ययालिखितानुभव', 'अन्यथाकरण', 'अन्वयन', 'भावानुप्रवेश', 'बिडचित्र', 'भाव-चित्र', 'रसचित्र' आदि। आज के साहित्य की व्याख्या के लिए ये पारिभाषिक शब्द महत्वपूर्ण हो सकते हैं।

परिशिष्ट

1. श्री लक्ष्मीकांत शर्मा द्वारा हजारी प्रसाद द्विवेदी की संस्कृत कविताओं का काव्यानुवाद

1. वन्दे मोटी तोदमुदारम्

द्रविण-पाक-दक्षिणं, समाजित व्यवस्थासारम् ।
लोक विचार चास्वर्धंकरममित नीतिविस्तारम् ।
जनपरिवादाधान, कर्मसुनिपुण, मजूपाकारम् ।
विपल वितण्डावाद जल्पना मिथ्यावाद पिटारम् ।
विद्वज्जन भर्जना श्ववर्णजम् घुकड-घुकडम स्वमनुकारम् ।
मूर्खमण्डली मध्य समर्पित करमति बुद्धि बघारम् ।
सकल पुराणशास्त्रम् धरीकृतमविहतस्थौल्याकारम् ।

वन्दे मोटी तोदमुदारम्

हे उदार, हे मोटे तोदू । स्वीकारो वन्दना हमारी ॥
द्रव्य-पाक मे तुम पक्के हो, सभी व्यवस्था तुममे अजित,
नीति बलाते अपने हित ही, लोक-विचार, समय परिमार्जित ।
'अच्छा बुरा' लोग क्या कहते, इसे भूल निज काम बनाते,
द्रव्य-भोटली, हेरा-फेरी करके, सदा बाधते जाते ॥
झगडो टंटो झूठ और अफवाहो के तुम निपट पिटारो,
लेकिन इस पर यदि विद्वज्जन हो क्रोधित कट्टु शब्द उचारे
तो तुम 'घुकड़-घुकड़' मन की पी, मूर्खों बीच जोड कर नाता,
अपनी बुद्धि सटा बदारो, जैसे वेद शास्त्र के ज्ञाता ।
समझो, शास्त्र पुराण आदि जब भरे हुए हैं क्योंकि पेट मे
तोद हो गयी है बस मोटी, इसीलिए इनकी चपेट मे ॥

2. क्वचिद्वाज्यलाभात् क्वचिद्रत्नलाभं, क्वचिन् प्रियसी स्निग्ध दृग्वाणपाते । यतः प्राप्यते भानुर्परामतोऽनस्ततो नाहभावाद्दयाम्यथचिन्ताम् ।

उदयगिरि निकूटादुद्भवस्ताम्रनातिः
 प्रतपति दिशि दिश्यगार धारा प्रवर्पन्
 स च निखिल वसूनां प्राणदाता विवस्वान्
 यदि पतति दिनान्ते के वय क्व स्थिरत्वम् ॥

अमृतकिरणवर्षे. सेचयन्नोपधानि
 प्रथित मधुरकान्ति मूर्तशातिः सुधात्मा
 विधिगुण परिपाकात् सोपि विभ्रंशतश्चेत्
 उपशमित विरोधा एव के वीतविघ्ना ।

(31 अगस्त, 1939)

किसी को मिले तोप धन-राज्य पाकर,
 कोई देह पर मात्र बल्कल सजाकर ।
 कोई चैन पाता है होकर के घायल,
 कि चुभते हैं जब प्रेयसी के नयन-शर ।
 मिले जिम तरह आत्म मतोप जन को,
 उसी रूप की हैं मनुज-धारणायें,
 मुझे भी यही ठीक है, इसलिये क्यों
 कहां अर्थ की व्यर्थ अवधारणायें ?”

उदयगिरि के शिखर से उदित रवि ताम्राभधारी है
 उसी की तीक्ष्ण लपटों से दिशायें तप्त सारी हैं
 विवस्वा निखिल वसु का प्राणदा वह, साम्र होते अस्त—
 होता देखकर सोचो, कहा स्थिरता हमारी है ?

अमृत रहिमया बरसा कर जो औपधियों को सींच रहा,
 मुधात्मा मय, मधुर कातियुत्, मूर्त शाति मे रहा नहा,
 यदि विधि-गुण परिपाकवशी वह शाशि भी क्षीणकला हो तो,
 वीत विघ्न, उपशमित-विरोध न कोई भी नर जाय कहाँ ॥

3. प्रेमचन्द-प्रणस्तिः

भंजनमोह महान्धकार वसति सद्यूतमुच्चैर्भजन्
 वैदाह्यं प्रथयन् सुसज्जनमनो वारान्निधिह्लादयन् ।
 ध्वान्तोद्भ्रातजनान् दिशन्ननुदिगध्वान्तप्रियान् शोभयन् ।
 चन्द्र फोर्यपि चकास्त्यसा अभिनवः श्री प्रेमचन्दः मुधीः ॥

प्रेमचन्द्रश्च चन्द्रश्च न कदापि समावुभो,
 एकः पूर्णकलो नित्यमपरस्तु यदा रुदा ।

मोह-महातम भंजनकता, सद्बृत्तो की, गुण की छान,
 फेलाकर विदग्धता, सज्जन मनःसिन्धु आह्लाद निदान ।
 प्रात जनों के दिशानुसूचक, मार्ग बनाते शुभ प्रियवान्
 प्रेमचन्द्र नवचन्द्र की तरह शोभा पाते है धीमान् ॥
 प्रेमचन्द्र की कभी चन्द्र से हो न सकेगी समता भी,
 एक नित्य सम्पूर्ण कलामय अन्य कस्तायुत कभी-कभी ॥

2 उपजीव्य ग्रंथ

क्र०सं०	पुस्तक	प्रकाशन	प्रकाशन वर्ष
1.	हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-1	राजकमल प्रकाशन प्रा० सि०, दिल्ली	1981
2	हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-2	" "	"
3.	हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3	" "	"
4.	हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-4	" "	"
5	हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-5	" "	"
6	हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-6	" "	"
7	हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-7	" "	"
8	हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-8	" "	"
9	हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-9	" "	"
10.	हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-10	" "	"
11.	हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-11	" "	"

3. हिन्दी सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

क्र०सं०	पुस्तक	लेखक	प्रकाशन	वर्ष/संस्करण
1.	अयातो सौन्दर्य जिज्ञासा	रमेश कुन्तल मेघ	दि मैकमिलन क० नई दिल्ली	1977
2.	आलोचक और आलोचना डॉ० बच्चन सिंह		नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली	1984

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी	गणपति चन्द्र	भारतेन्दु भवन, चढीगढ़	1963
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का समग्र साहित्य : एक अनुशीलन	डॉ० यदुनाथ चौवे	अनुभव प्रकाशन, कानपुर	1980
3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास : इतिहास के दो ललित अध्याय	डॉ० बाबूलाल आच्छा	भारतीय शोध प्रकाशन, उदयपुर	प्रथम संस्करण
4. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के कृतित्व का मौलिक वैज्ञानिक अध्ययन	डॉ० लक्ष्मीलाल वैरागी	सघी प्रकाशन जयपुर	1980
5. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र विकास	डॉ० वेचन	सन्मार्ग प्रकाशन दिल्ली	प्रथम संस्करण
6. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	डॉ० श्रीकृष्ण लाल	प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग	प्रथम संस्करण
7. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	डॉ० लक्ष्मीसागर बाण्येय	हिन्दी परिपद, प्रयाग विश्वविद्यालय	"
8. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	डॉ० वेंकट शर्मा	आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली	"
9. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका	डॉ० लक्ष्मीसागर बाण्येय	हिन्दी परिपद प्रयाग विश्वविद्यालय	"
10. आधुनिक हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	डॉ० भोलानाथ	प्रगति प्रकाशन, आगरा	1969
11. आधुनिक साहित्य	नंददुलारे बाजपेयी	भारती भट्टार, रीट्टर प्रेस, इन्साहाबाद	प्रथम संस्करण
12. आस्था और सौन्दर्य	डॉ० रामबिलास शर्मा	किताब महल प्रकाशन	1883 शकनब्दी
13. इतिहास और आलोचना	नामवर सिंह	मत् साहित्य प्रकाशन बनारस	1956
14. इतिहास दर्शन	डॉ० बुद्ध प्रकाश	प्रयाग	1969
15. ऐतिहासिक उपन्यास	डॉ० गत्यपाल चुध		
16. ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार	डॉ० गोपीनाथ तिवारी		

258 / हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में साहित्य-योजना

19	कला का दर्शन	रामचन्द्र शुक्ल	करोना आर्ट पब्लिशर मेरठ	1964
20	कला के सिद्धान्त	आर०जी० कलिगबुड	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर	1972
21.	काव्य और कला	हरद्वारीलाल शर्मा	भारत प्रकाशन मंदिर असीगढ़	प्रथम संस्करण
22	काव्य में सौन्दर्य और उदात्त तत्त्व	शिव बालक	वसुमती प्रकाशक, इलाहाबाद	1969
23.	कृति और कृतिकार	सरनाम सिंह शर्मा	अपोलो प्रकाशन, जयपुर	1964
24.	पुनर्नवा चेतना और शिल्प	डॉ० राजनारायण	विवेक प्रकाशन, दिल्ली	प्रथम संस्करण
25.	पुनर्नवा पुनर्मूल्यांकन	डॉ० नरयण सिंह	विभूति प्रकाशन, दिल्ली	1980
26.	प्रसाद के काव्य का शास्त्रीय अध्ययन	डॉ० सुरेन्द्रनाथ सिंह	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली	1972
27.	भारतीय उपन्यासों में वर्णन कला का तुलनात्मक मूल्यांकन	डॉ० इन्दिरा जोशी	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	प्रथम संस्करण
28	भारतीय सौन्दर्य का तात्विक विवेचन एवं सलित कलाएँ	रामलखन शुक्ल	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली	1978
29	भारतीय सौन्दर्य की भूमिका	डॉ० नयेन्द्र	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली	"
30.	भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका	डॉ० नयेन्द्र	" " "	1974
31.	भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका	डॉ० फतहसिंह	" " "	1967
32	धामा	महादेवी वर्मा	भारतीय मंडार, इलाहाबाद	सं० 2018
33.	रस मीमासा	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी	1965
34.	रस सिद्धान्त	डॉ० नयेन्द्र	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली	1964
35.	रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र	डॉ० निर्मला जैन	" " "	1967

36. बृहत् इतिहास (पष्ठभाग)	डॉ० नगेन्द्र	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	प्रथम संस्करण
37. शांति निकेतन मे शिवालिक	सं० शिवप्रसाद सिंह	भारतीय ज्ञानपीठ कलकत्ता	"
38. स्वतंत्र कलाशास्त्र	कातिचन्द्र पांडेय	चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी	1967
39. साहित्येतिहास सिद्धान्त एवं स्वरूप	डॉ० विजय शुक्ल	स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद	1978
40. साहित्येतिहास संरचना और स्वरूप	मुमन राजे	ग्रन्थन, कानपुर	1975
41. साहित्यालोचन	श्याममुन्दर दाम	इडियन प्रेस, प्रयाग	1970
42. साहित्य और इतिहास दृष्टि	मैनेजर पांडेय	पीपुल्स सिटरेसी, दिल्ली	1981
43. साहित्य का इतिहास- दर्शन	नलिन बिलोचन शर्मा	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद	प्रथम संस्करण
44. साहित्य संगीत और कला	कोमल कोठारी	राजस्थानी शोध संस्थान, चौपालिनी	"
45. मूरदाम की लालित्य- चेतना	डॉ० परेश	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन	1972
46. सौन्दर्य तत्व	डॉ० मुरेन्द्रनाथ दसा गुप्त (अनु० आनंद प्रकाश दीक्षित)	भारती भट्टार, रीडर सं० प्रेम इलाहाबाद	2017
47. सौन्दर्य तत्व और काव्य सिद्धान्त	गुरेन्द्र वारलिंगे	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली	1963
48. सौन्दर्य शास्त्र	रामाश्रय शुकल करुणेन्द्र	ओरियंटल पब्लिशिंग हाउस, कानपुर	1977
49. सौन्दर्य तत्व और काव्य सिद्धान्त	वारलिंगे (गुरेन्द्र)	नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली	1963
50. सौन्दर्य तत्व निरूपण	नरसिंहाचारी	वाणी प्रकाशन, दिल्ली	1977
51. सौन्दर्य दृष्टि	ओमप्रकाश भारद्वाज	चिन्ता प्रकाशन, पिलानी	1983
52. सौन्दर्य मीमांसा	कान्ट इमेनुअल	विताव महल, इलाहाबाद	1964
53. सौन्दर्य शास्त्र के तत्व	डॉ० कुमार विमल	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	1967
54. सौन्दर्य शास्त्र की पाश्चात्य परम्परा	राजेन्द्र प्रताप सिंह	अभिव्यक्ति प्रकाशन इलाहाबाद	

55. हजारी प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक उपन्यास	राजकाव	साहित्य निधि, शाहदरा-दिल्ली	1987
56. हिन्दी आलोचना . उद्भव और विकास	डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र	साहित्य सदन, देहरादून	1972
57. हिन्दी निबन्ध का विकास	डॉ० ओंकारनाथ शर्मा	अनुसंधान प्रकाशन कानपुर	1964
58. हिन्दी निबन्धों का शैलीगत अध्ययन	डॉ० मु० बु० शहा	पुस्तक मस्थान, कानपुर	1973
59. हिन्दी निबन्ध के आलोक शिखर	डॉ० जयनाथ नलिन	मनीषा प्रकाशन दिल्ली	1987
60. हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन	शिवकुमार	दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लि० दिल्ली	1978
6. हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन	डॉ० रूपचन्द पारीक	सरस्वती पुस्तक सदन आगरा	1972
62. हिन्दी समीक्षा और सद्मर्म	डॉ० रामदरश मिश्र	दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लि० दिल्ली	1984
63. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास साहित्य का अनुशीलन	डॉ० श्रीमती उमा मिश्रा	अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर	1983
64. हिन्दी उपन्यास . सिद्धांत और समीक्षा	डॉ० मन्मथन लाल शर्मा	प्रभात प्रकाशन दिल्ली	प्रथम सस्करण
65. हिन्दी उपन्यास साहित्य का शास्त्रीय विवेचन	डॉ० श्रीनारायण अग्निहोत्री	सरस्वती पुस्तक सदन आगरा	"
66. हिन्दी उपन्यास एक अंतर्गता	डॉ० रामदरश मिश्र	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	"
67. हिन्दी उपन्यास . उपलब्धिया	डॉ० लक्ष्मीसागर वाष्णैय	राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली	"
68. हिन्दी आलोचना का इतिहास	डॉ० रामदत्त मिश्र	काशी विश्वविद्यालय	"
69. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद	डॉ० त्रिभुवन सिंह	हिन्दी प्रचारक, वाराणसी	"
70. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन	डॉ० गणेशन	राजपाल एंड सन्म, दिल्ली	"
71. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास	डॉ० भागीरथ मिश्र	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली	"

72. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (प्रथम भाग)	सं० राजवली पाण्डेय	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	प्रथम सस्करण
73. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (सप्तम भाग)	सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	"	"
74. त्रिवेणी	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	"	"

4. संस्कृत संदर्भ-ग्रंथ भूची

क्र०सं० पुस्तक	लेखक	प्रकाशन	वय/संस्करण
1. औचित्य-विचार चर्चा	क्षेमेन्द्र	निर्णय सागर प्रेस, बरई	1929
2. कालिदास ग्रन्थावली	कालिदास (सं०) सीताराम चतुर्वेदी	भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़	सं० 2019
3. काव्यादर्श	आचार्य दण्डी	मास्टर खिलाड़ी लाल एंड संम बनारस	म० 1988
4. काव्यालंकार	आचार्य भामह	चौखम्बा संस्कृत सोरीज, बनारस	1928 ई०
5. काव्यालंकार सूत्र	आचार्य वामन	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली	सं० 2011
6. ध्वन्यालोक	आनंदवर्धन	गौतम बुक डिपो, दिल्ली	1963 ई०
7. नाट्य शास्त्र	भरत मुनि (सं० बटुकनाथ शर्मा)	चौखम्बा संस्कृत सोरीज बनारस	1943
8. रस रगाधर	पद्मितराज जगन्नाथ	निर्णय सागर प्रेस, बरई	1939
9. बभ्रौकिन् जीवितन्	आचार्य कुन्तक	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली	1955
10. शब्दरत्न द्रुम	राधाकान्त देव	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली	1961
11. संस्कृत हिन्दीकोश	वामन शिवराम आष्टे	" - - "	" प्रथम संस्करण

5 पत्र-पत्रिकाओं की सूची

1. साप्त सिन्धु
- 2 'संभावना', वर्ष 1, अंक 2
- 3 युग्म
- 4 आलोचना, इतिहास विशेषांक, अक्टूबर 1952
5. उपलब्धि, अंक 7, नवम्बर 1971
6. कथा, अंक 4, 1975
- 7 धर्मयुग, 1 अगस्त 1964
- 8 परिशोध, अंक 14
- 9 सम्मेलन पत्रिका, लोक सस्कृति विशेषांक, सं० 2010
- 10 साहित्य, सन्देश अंक 4
11. हिमप्रस्थ, मार्च-अप्रैल 1976

53

..... 6. अंग्रेजी संदर्भ-ग्रंथ सूची

S. N	BOOK	AUTHOR	PUBLICATION	YEAR
1.	Aestheticism	Johnson (RV)	Methuen & Company London	1969
2.	Aesthetics and Criticism	Herald Osborn		
3.	Aesthetics and Literary Criticism	Patankar (RB)	Nachiketa Pub., Bombay	1969
4.	Aesthetics : an Introduction	Charlton (W)	Hutchinson Uni London	1970
5.	A Study in Aesthetics	Reid (LA)	Unwin Brothers Ltd.	1931
6	Collected Essays in Literary Criticism	Reid (Berbert)		
7.	Concept of Aesthetics	Bosanquet (Bernard)	Capital Pub House Delhi	1980
8.	History of Aesthetics	"	George Allen & Unwin Ltd.	1949

- | | | | |
|--|------------------|---------------------------------|------|
| 9. History of
Aesthetics | Gilbert & Coon | McMilan New York | 1960 |
| 10 Principles of Art | Calling Wood | Ford Univ Press | 1970 |
| 11 Some Concepts of
Alankar Shastra | Raghavan (V) | The Adyar Library
Adyar | 1942 |
| 12 The Sense of
Beauty | George Santayana | | |
| 13. The Structure of
Aesthetics | Sparshat (FE) | Rootlez & Kegan
Paul, London | 1966 |
| 14 The Theory of
Beauty | Carritt (FE) | | |
| 15. Western Aesthetics | Pandey (KC) | Chaukhamba
Sanskrit Banaras | 1956 |

□□